यज्ञ-चिकित्सा

क्षय-रोग की प्राकृतिक अचूक चिकित्सा

लेखक :—

क्षय-रोग के विशेषज्ञ और प्रसिद्ध चिकित्सक

डॉ० फुन्दनलाल, एम० डी०

डी० एस०, एल० एम० आर० ए० एस० (लंडन) इत्यादि

मेडिकल आफ़ीसर टी० बी० सेनेटोरियम,

जबलपुर।

प्रकाशक :—

सेठ रतनसी हीरजी यज्ञ-चिकित्सा सेनेटोरियम,

पो० गढ़ा, जबलपुर।

ओ३म्

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।
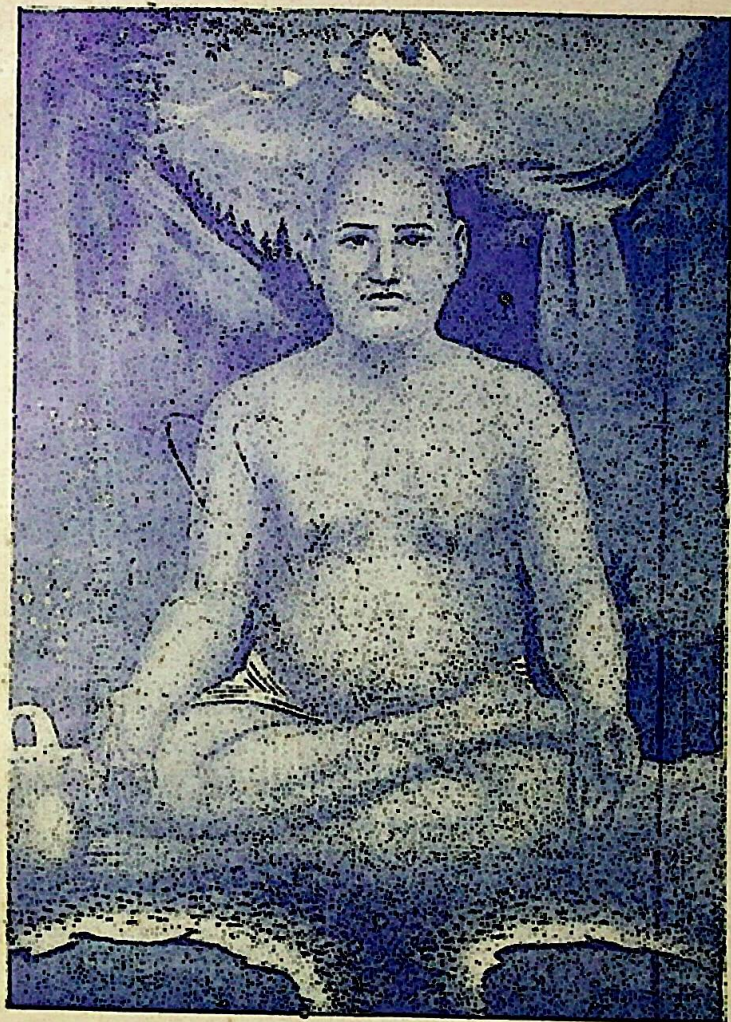
वेद का प्रत्येक सिद्धान्त प्राकृतिक नियमों पर आधारित सिद्ध करनेवाले, प्राचीन संस्कृति का पुनः उद्धार करनेवाले, हवन-यज्ञ को सर्व रोग नाशक बतानेवाले, बाल ब्रह्मचारी, त्यागी, तपस्वी, योगी, संसार का कल्याण चाहनेवाले जगत्गुरु आचार्य ऋषि दयानन्दजी महाराज।

॥ भूमिका ॥

परमपिता परमात्मा और उसकी अमृतवाणी वेद को भुलाकर कोई मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। हमारा देश संसार का गुरू उसी समय तक रहा जब तक उसका आचरण वेद के अनुकूल रहा। जब से यह मार्ग छोड़ा है वह दुखों के गर्त में जा गिरा है। जब वेद की शिक्षा भारत से बन्द हुई तो संसार में एक नवीन सभ्यता का जन्म हुआ जो बाहर से बहुत सुन्दर प्रतीत होती है पर उसका आदर्श है अधिकार और स्वार्थ। अतः उससे प्रभावित व्यक्ति स्वार्थवश प्रत्येक दूसरे व्यक्ति को कुचलना चाहता है, इसी कारण समस्त संसार में अशान्ति का राज्य हो रहा है। विदेशी शासन में भारत भी इसी मनमोहनी पर विनाशनी नवीन सभ्यता की ओर बड़े वेग से बढ़ने लगा। ऐसे समय में भगवान की अपार दया से जगतगुरू ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने प्राचीन ऋषियों की भांति अखंड ब्रह्मचर्य, कठिन तपस्या, अगाध ज्ञान प्राप्ति, योग बल, और प्रभू भक्ति के सहारे समस्त संसार की अवस्था को अपनी दिव्य दृष्टि से देखा और उसपर गहरा विचार किया। अन्त को ऋषि ने जहां संसार को सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिये वैदिक मार्ग पर आने का आदेश दिया वहां पराधीन भारत को स्वतंत्रता प्राप्ति का साधन भी अपनी प्राचीन संस्कृति पर लौटना बताया। महात्मा गांधी ने उसी उपदेश के अनुसार बिना किसी विदेशी साधन के भारत की प्राचीन संस्कृति के दो ही नियम सत्य और अहिंसा के आधार पर देश को स्वतंत्र कराया। अतः अब इन दोनों महान पुरुषों के अनुयाइयों का धार्मिक कर्तव्य है कि देश जहां विदेशी शासन से मुक्त हुआ है वहां उसे इस विनाशनी अशान्ति फैलानेवाली सभ्यता से भी बचावें

और प्राचीन वैदिक सभ्यता की ओर अग्रसर करें। जिस का आदर्श त्याग और कर्तव्य है और जिसमें न केवल समस्त संसार के मनुष्यों किन्तु प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखने का उपदेश है और किसी दूसरे का अधिकार अन्याय से लेना महापाप समझा जाता है। विदेशी शासन ने जहां हमारी संस्कृति को मिटाने को विदेशी भाषा, झूठा इतिहास, साम्प्रदायिकता, विदेशी चालचलन सिखाने का प्रयत्न किया वहां विदेशी चिकित्सा का प्रचार करके हमारे देशमें रोगों की वृद्धि इतनी करदी जितनी कभी भी नहीं थी। रोगों में भी सब रोगों का राजा क्षय-रोग आज हमारे देश का विध्वंस करने पर तुला हुआ है। प्रथम तो वनस्पति घी, चाय, सह शिक्षा, काम, उत्तेजक सिनेमा, अंडा, बरांडी इत्यादि का प्रचार बढ़ाकर हमारा स्वास्थ्य ऐसा निर्बल बना दिया कि ज्वर आया और मिआदी बना। महीना बीस दिन डाक्टर से ज्वर का इलाज कराया कि टी० बी० का संशय होने लगा। फिर विदेशी चिकित्सा का ऐसा भंवर जाल है कि यदि टी० बी० न भी हो तो रोग के निदान कराने में ही रोगी तबाह हो जावे। जो सज्जन विदेशी शिक्षा के प्रभाव में अब भी गौरांग प्रभुओं की भक्ति करते हैं और उन के साधनों को रामबाण समझते हुए बुद्धि से परीक्षा नहीं करना चाहते उन के लिये तो हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें सदबुद्धि प्रदान करें। पर जो भाई विवेक बुद्धि रखते हैं उन के हित के लिये हम यहां बताना चाहते हैं कि प्रथम हमें यह विचार करना चाहिए कि

हमारे रोगी होने का कारण क्या है?

प्रकृति ने हमारे शरीर की मशीन इस ढंग से बनाई है कि शरीर के भीतर जो चीज पहुँचती है उस में से शरीर केवल उसी वस्तु को अपने भीतर रहने देता है जो शरीर का अङ्ग बन जावे, अर्थात् रक्त बन कर मांस इत्यादि बन सके। शेष सब

चीजों को हमारा शरीर बाहर निकाल देता है। आपने देखा होगा कि कभी भूल से कोई मनुष्य पैसा निगल जावे जो रक्त नहीं बन सकता तो वह वैसा ही मल द्वारा निकल जाता है। इसी प्रकार भोजन का विश्लेषण होने के पश्चात् उसका जो भाग रक्त नहीं बन सकता वह मल-मूत्र, कफ, पसीना इत्यादि द्वारा निकाल दिया जाता है। यदि यह मल ठीक रूप से निकलता रहे तो हम को कोई भीतरी रोग न हो। यह निकालने की क्रिया करनेवाली हमारे शरीर के भीतर एक जीवनी शक्ति है जिसे शास्त्र की परिभाषा में प्राण कहते हैं। इस शक्ति के पास एक यंत्र है जिसे नाड़ी संस्थान (nervous system) कहते हैं। जब किन्हीं कारणों से जिनका वर्णन अपने स्थान पर आया है यह मल साधारण रीति से नहीं निकलता तब कोई रोग प्रगट होता है। प्रकृति का अभिप्राय रोग से भी मल निकालने का ही होता है। उस समय यदि हम प्रकृति के काम में कोई रुकावट न डाल कर उसे सहायता पहुँचावें तो निश्चय ही उस रोग से मुक्त होने पर हम अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ्य हो जावें। अब प्रश्न यह है कि हमारे शरीर में मल अथवा विकार उत्पन्न कैसे होते हैं।

विकार उत्पन्न होने के चार साधन हैं।

१—जो भोजन हम करते हैं उसमें से जितना अंश रक्त बन जाता है वह तो हमारे शरीर का अंग बन जाता है। शेष बचा हुआ भाग मल कहलाता है जो प्राकृतिक नियम के अनुसार बाहर निकल जाना चाहिये। पर जब भोजन अथवा रहन सहन में प्राकृतिक नियमों का पूर्णतया पालन नहीं होता तो उसका कुछ भाग मलाशय में चिपटा रह जाता है जो विकार उत्पन्न करता है। इस बचे हुए मल के सड़ने से जो गैस बनती है वह ऊपर चढ़ कर जिस अंग पर प्रभाव करती है उसे रोगी बना देती है।

२—हमारे शरीर में जो क्रियाएं होती हैं उनसे हमारे शरीर के परमाणु (cells) टूट फूटकर गिरते हैं यदि वे सब के सब बाहर न निकल जावें तो विकार उत्पन्न करेंगे।

३—प्राकृतिक ढंग पर भोजन हमें ऐसा करना चाहिये जो हमारे रक्त में ८० प्रतिशत खार तथा २० प्रतिशत खटाई उत्पन्न करे। यदि हम खटाई उत्पन्न करनेवाला पदार्थ अधिक खाते हैं तो वह सड़ कर हमारे रक्त को विकारयुक्त करेगा।

४—श्वास द्वारा हम शुद्ध ओषजन ग्रहण करते हैं और रक्त की गंदगी बाहर निकालते हैं। यदि हमें ऐसी वायु में श्वास लेना पड़े जिसमें ओषजन कम अथवा टी०बी० इत्यादि किसी रोगके कृमि हों तो वह वायु भी विकार उत्पन्न करेगी।

जिस प्रकार विकार उत्पन्न करने के चार साधन हैं, ठीक उसी प्रकार विकार निकालने के भी चार मार्ग हैं (१) मल-मूत्र द्वारा (२) त्वचा द्वारा (३) श्वांस द्वारा (४) रोग द्वारा।

यदि पहिले तीन मार्गों द्वारा ठीक कार्य्य होता रहे तो चौथे मार्ग की आवश्यकता ही न पड़े। क्योंकि अपनी आवश्यकता के अनुसार

१—प्राकृतिक भोजन करने, स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य नियमों का पालन करने, ब्रह्मचर्य्य, व्यायाम इत्यादि द्वारा नाड़ी संस्थान को जागृत बनाए रखने से मल–मूत्र द्वारा विकार निकल जाते हैं।

२—ठीक विधि से स्नान करने, शरीर को उचित समय वायु और प्रकाश में खुला रखने, मालिश और व्यायाम करने तथा ठीक ठीक वस्त्र उपयोग करने से त्वचा द्वारा विकार निकल जाते हैं।

३—शुद्ध वायु में पूरी श्वांस लेने अथवा प्राणायाम करने से श्वांस द्वारा हमारे विकार निकल जाते हैं।

४–उपरोक्त मार्गों में बाधा पड़ने पर जब शरीर में विकार एकत्रित हो जाते हैं तब विकार निकालने को कोई रोग उत्पन्न होता है। जो प्रकृति की ओरसे एक चेतावनी है। जैसे हमने आवश्यकता से अधिक भोजन कर लिया तो भूख नहीं लगेगी, पाचन शक्ति पर अधिक भार डालने वाला भोजन कर लिया तो दस्त आने लगेंगे। खून में खटाई अधिक बढ़ गई तो ज्वर आ गया इत्यादि। यदि इस समय हम उपवास, वस्ती कर्म, रस आहार, फल आहार अथवा प्राकृतिक औषधि द्वारा प्रकृति के विकार निकालने और शरीर को शुद्ध करने के काम में सहायता पहुँचावें तो विकार निकल जावें और हम को कोई पेचीदा और कठिन रोग न होवे। यहां हमें एक बात और सोच लेना चाहिये कि हमारे

विकार निकलते क्यों नहीं ?

इसका उत्तर बिलकुल स्पष्ट है कि प्राकृतिक नियमों को तोड़ने से, जिनमें सबसे मुख्य बात नाड़ी संस्थान का निर्बल बना लेना है। यदि आपका नाड़ी संस्थान जागृत हो तो थोड़ी बहुत अनियमताऐं कुछ हानि न कर सकेंगी ब्रह्मचारी इसी कारण शीघ्र रोगी नहीं होते। यह नाड़ी संस्थान (Ner vous System) नाड़ियों का एक जाल है जो हमारे समस्त शरीर में विद्युत के तारों के समान फैला हुआ है और हमारे शरीर के प्रत्येक अंग को उसके कार्य सम्पादन में सहायता देता है। प्राणों से इसका विशेष सम्बन्ध है। इसी कारण योगी महात्माओं का नाड़ी संस्थान बहुत जागृत होता है।

ब्रह्मचर्य, प्राणायाम, खुले मैदान में वायु सेवन, ओज़ोन युक्त वायु, हवन यज्ञ, दान, ईश्वर भक्ति, लोक सेवा इत्यादि मन को प्रसन्न करने वाले कार्यों से और प्राणयुक्त भोजन, ताजे फल, सब्जी, धारोष्ण दूध, इत्यादि से नाड़ी संस्थान को बल प्राप्त होता है।

अधिक विषय भोग, अप्राकृतिक विषय, शक्ति से अधिक कार्य करने, रात को देर तक जागने, अधिक पढ़ने, चिन्ता करने, मल-मूत्र इत्यादि रोकने, दिन चढ़े तक सोने, बहुत लेटे रहने इत्यादि कारणों से नाड़ी संस्थान निर्बल हो जाता है, और विकार शरीर में एकत्रित होने लगते हैं। जो रस रक्त बहाने वाली नाड़ियों को भी बन्द कर देते हैं। पहिले जब थोड़ा विकार होता है तब हमें कुछ सुस्ती, आलस्य इत्यादि मालूम होता है। इसे दूर करने को यदि हम कोई उत्तेजक अथवा विषैली औषधि खाते हैं, तो चाहे उससे कुछ देर को उत्तेजना प्रतीत होने लगे पर विकार निकलने के स्थान में और भी दब जाते हैं और हमारा शरीर दूषित हो जाता है। प्रकृति विकारों को शरीर में सहन नहीं कर सकती अतः कभी तो वह कारवंकल इत्यादि रोगों के रूप में निकालती है और कभी ऐसे ही समय में जब हमारा सम्पर्क क्षय-कीटाणु से हो जाता है। तो वह कृमि हमारे शरीर में विकारों का भोजन पाकर पनपने लगते हैं और डाक्टर लोग पहिले टी० बी० का संशय और अन्त को टी० बी० का निर्णय कर देते हैं। दुख यह है कि पाश्चात्य अधूरी शिक्षा के कारण बहुत से डाक्टर रोग के मूल कारण विकार की ओर ध्यान न देकर कृमि मारने को अथवा शक्ति उत्पन्न करने को इञ्जेक्शन इत्यादि देते हैं तथा भोजन में मांस, अंडा इत्यादि अप्राकृतिक पदार्थ देकर और भी विकार बढ़ाते हैं। इन साधनों से अधिक रोगियों को तो कुछ लाभ होता ही नहीं और ज्यों ज्यों वह उलटे साधन काम में लाते जाते हैं रोग बढ़ता जाता है। कुछ को थोड़े समय के लिये विकार दब जाने से कुछ लाभ प्रतीत होता है, जो एक प्रकार का भ्रम है। इन में से कुछ ऐसे केस होते हैं जिनमें प्रकृति इन विरुद्ध साधनों के होते हुये भी प्रबल पड़ जाती है और विकार निकालकर रोगी को अच्छा कर देती है और इसका श्रेय डाक्टर को मिल जाता

है। पर अधिकांश रोगियों में कुछ समय के पश्चात् रोग और भी तीव्र गति से प्रगट होता है और फिर इन्हीं साधनों के करते करते रोगी का प्राणांत हो जाता है। इसी कारण कर्नल शार्ट ने कहा है कि रोगों की वृद्धि इञ्जेक्शन और टीका से नहीं रोकी जा सकती किन्तु व्यक्तिगत रूप से स्वास्थ्य के प्राकृतिक नियमों का अक्षरसः अभ्यास करने से ही ऐसा होना सम्भव है तथा जीवन शक्ति इंजेक्शन से नहीं स्वास्थ्य के नियमों से बढ़ाई जा सकती है इत्यादि। वास्तव में क्षय-रोग की

सफल चिकित्सा का ठीक सिद्धान्त

यह है कि शरीर में एकत्रित विकार शरीर से निकल जावें, नवीन उत्पन्न न हों। प्राण शक्ति इतनी बढ़े कि नाड़ी संस्थान जागृत हो जावे। रक्त शुद्ध हो जावे और उसका खार और खटाई का अनुताप ठीक हो जावे ताकि वह भी रोग कृमि को शरीर से बाहर निकालने में सहायक हो। शुद्ध रक्त और यज्ञ की ओज़ोन युक्त वायु से तथा कृमि के मरने से कृमि के किये हुये क्षत सूख जावें। तथा रस रक्त बहाने वाले सूत्र अपना कार्य करने लगें

इसी उद्देश से

प्राकृतिक यज्ञ चिकित्सा के निम्न मुख्य अंग हैं:—

(१ यज्ञ (२) वस्ती कर्म (३) स्नान (४) प्रकाश और वायु (५) विश्राम और व्यायाम (६) ईश्वर भक्ति और प्रसन्नता (७) जल और मिट्टी की पट्टी (८) भोजन में रक्त शोधक मधु, फल और दूध का विशेष प्रयोग (९) ब्रह्मचर्य और (१०) प्राकृतिक औषधियां।

प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा से किस प्रकार क्षत भरते और कृमि मरते हैं, जीवन शक्ति और प्रसन्नता बढ़ती है। वस्ती-कर्म से किस प्रकार विकार शरीर से निकलते हैं तथा रोग कृमि का भोजन बन्द होता है इत्यादि यह अपने अपने स्थान पर युक्ति पूर्वक बताया गया है।

अधिक विषय भोग, अप्राकृतिक विषय, शक्ति से अधिक कार्य करने, रात को देर तक जागने, अधिक पढ़ने, चिन्ता करने, मल-मूत्र इत्यादि रोकने, दिन चढ़े तक सोने, बहुत लेटे रहने इत्यादि कारणों से नाड़ी संस्थान निर्बल हो जाता है, और विकार शरीर में एकत्रित होने लगते हैं। जो रस रक्त बहाने वाली नाड़ियों को भी बन्द कर देते हैं। पहिले जब थोड़ा विकार होता है तब हमें कुछ सुस्ती, आलस्य इत्यादि मालूम होता है। इसे दूर करने को यदि हम कोई उत्तेजक अथवा विषैली औषधि खाते हैं, तो चाहे उससे कुछ देर को उत्तेजना प्रतीत होने लगे पर विकार निकलने के स्थान में और भी दब जाते हैं और हमारा शरीर दूषित हो जाता है। प्रकृति विकारों को शरीर में सहन नहीं कर सकती अतः कभी तो वह कारबंकल इत्यादि रोगों के रूप में निकालती है और कभी ऐसे ही समय में जब हमारा सम्पर्क क्षय-कीटाणु से हो जाता है। तो वह कृमि हमारे शरीर में विकारों का भोजन पाकर पनपने लगते हैं और डाक्टर लोग पहिले टी० बी० का संशय और अन्त को टी० बी० का निर्णय कर देते हैं। दुख यह है कि पाश्चात्य अधूरी शिक्षा के कारण बहुत से डाक्टर रोग के मूल कारण विकार की ओर ध्यान न देकर कृमि मारने को अथवा शक्ति उत्पन्न करने को इञ्जेक्शन इत्यादि देते हैं तथा भोजन में मांस, अंडा इत्यादि अप्राकृतिक पदार्थ देकर और भी विकार बढ़ाते हैं। इन साधनों से अधिक रोगियों को तो कुछ लाभ होता ही नहीं और ज्यों ज्यों वह उलटे साधन काम में लाते जाते हैं रोग बढ़ता जाता है। कुछ को थोड़े समय के लिये विकार दब जाने से कुछ लाभ प्रतीत होता है, जो एक प्रकार का भ्रम है। इन में से कुछ ऐसे केस होते हैं जिनमें प्रकृति इन विरुद्ध साधनों के होते हुये भी प्रबल पड़ जाती है और विकार निकालकर रोगी को अच्छा कर देती है और इसका श्रेय डाक्टर को मिल जाता

है। पर अधिकांश रोगियों में कुछ समय के पश्चात् रोग और भी तीव्र गति से प्रगट होता है और फिर इन्ही साधनों के करते करते रोगी का प्राणांत हो जाता है। इसी कारण कर्नल शार्ट ने कहा है कि रोगों की वृद्धि इञ्जेक्शन और टीका से नहीं रोकी जा सकती किन्तु व्यक्तिगत रूप से स्वास्थ्य के प्राकृतिक नियमों का अक्षरसः अभ्यास करने से ही ऐसा होना सम्भव है तथा जीवन शक्ति इंजेक्शन से नहीं स्वास्थ्य के नियमों से बढ़ाई जा सकती है इत्यादि। वास्तव में क्षय-रोग की

सफल चिकित्सा का ठीक सिद्धान्त

यह है कि शरीर में एकत्रित विकार शरीर से निकल जावें, नवीन उत्पन्न न हों। प्राण शक्ति इतनी बढ़े कि नाड़ी संस्थान जागृत हो जावे। रक्त शुद्ध हो जावे और उसका खार और खटाई का अनुताप ठीक हो जावे ताकि वह भी रोग कृमि को शरीर से बाहर निकालने में सहायक हो। शुद्ध रक्त और यज्ञ की ओज़ोन युक्त वायु से तथा कृमि के मरने से कृमि के किये हुये क्षत सूख जावें। तथा रस रक्त बहाने वाले सूत्र अपना कार्य करने लगें

इसी उद्देश से

प्राकृतिक यज्ञ चिकित्सा के निम्न मुख्य अंग हैं:—

(१ यज्ञ (२) वस्ती कर्म (३) स्नान (४) प्रकाश और वायु (५) विश्राम और व्यायाम (६) ईश्वर भक्ति और प्रसन्नता (७) जल और मिट्टी की पट्टी (८) भोजन में रक्त शोधक मधु, फल और दूधका विशेष प्रयोग (९) ब्रह्मचर्य और (१०) प्राकृतिक औषधियां।

प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा से किस प्रकार क्षत भरते और कृमि मरते हैं, जीवन शक्ति और प्रसन्नता बढ़ती है। वस्ती-कर्म से किस प्रकार विकार शरीर से निकलते हैं तथा रोग कृमि का भोजन बन्द होता है इत्यादि यह अपने अपने स्थान पर युक्ति पूर्वक बताया गया है।

इस चिकित्सा के सब साधन प्राकृतिक सत्य सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किए गए हैं। अतः सब रोगियों पर समान प्रभाव होता है। जैसे दो और दो सर्वदा चार होते हैं ऐसा ही इन का प्रभाव है। अपवाद के तीन कारण हो सकते हैं। (१) क्रिया करने में भूल, (२) दबे हुए विकारों का उखड़ना, (३) रोगी की असाध्य अवस्था। इनके उपाय यह हैं :—

१—पुस्तक को बार २ खूब ध्यान से पढ़कर अथवा किसी अनुभवी चिकित्सक के परामर्श द्वारा भूल सुधार हो सकता है।

२—विकारों के उभार से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं वह दो चार दिवस में स्वयं शांत हो जाते हैं। एक दो दिन के उपवास से इस में और भी सहायता मिलती है।

३—असाध्य अवस्था उसे कहते हैं जिस में प्रभू की आज्ञा होती है कि "अब इस शरीर को छोड़ो" ऐसी अवस्था में कोई भी चिकित्सा विधि काम नहीं करती। आज तक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि यज्ञ चिकित्सा से लाभ न होकर रोगी किसी अन्य चिकित्सा से आरोग्य हो गया हो। अतः ऐसे अवसर पर रोगी को शरीर और संसार का झूठा मोह छोड़ प्रभू भक्ति में लीन होना चाहिए। गीता और उपनिषद आदि ग्रन्थों का पाठ करना अथवा किसी विद्वान से सुनना चाहिये और प्रसन्नता से प्रभू की गोद में जाना चाहिये। ऐसी अवस्था में भी इन साधनों से बड़ा सुख मिलता है।

धन्यवाद

पुस्तक लिखने में जहां प्रभू की अमृत वाणी वेद तथा उसके अनुकूल शास्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों, महर्षि दयानन्दजी कृत संस्कार विधि इत्यादि ऋषि कृत ग्रन्थोंसे सहायता ली गई है, वहां पं० सीताराम जी शास्त्री के एक लेख तथा डा० शंकरलाल जी गुप्त सुपरिन्टेन्डेन्ट यू० पी० जेल सेनेटोरियम लिखित

"क्षय-रोग" और बाबू जानकीशरणजी बी० ए० कृत "रोगों की अचूक चिकित्सा" से बड़ी सहायता मिली है। अपने विचारों के निकट होने तथा दूसरे प्रमाणिक डाक्टर की साक्षी के कारण लोक हित के विचार से निदान खण्ड में क्षय-रोग के तो बहुत से स्थल ज्यों के त्यों उन्हीं के शब्दों में लिखे गये हैं, अतः इन सब महानुभावों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं।

२—डा० श्री धीरेन्द्र वर्मा प्रोफेसर प्रयाग विश्वविद्यालय प्रधान यज्ञ–चिकित्सा प्रचारक–मंडल तथा माननीय पण्डित द्वारकाप्रसाद जी मिश्र गृह मंत्री सी० पी० सरकार के परिश्रम और सेठ देवजी भाई के दान तथा सी० पी० सरकार की सहायता से यदि यज्ञ-चिकित्सा सेनीटोरियम न खुल जाता और श्री रेगे साहब कमिश्नर की पुस्तक प्रकाशन में कृपा सम्मिलित न होती तो सम्भव था कि यह पुस्तक अभी कुछ दिनों तक प्रकाशित न हो पाती। अतः जो सज्जन इससे लाभ उठावें उन्हें इनही महानुभवों का कृतज्ञ होना चाहिये।

क्षमा याचना और नम्र निवेदन

अज्ञान वश देश का धन और जनता का स्वास्थ्य नाश होते देख हमारा हृदय दुखी होता है अतः सत्य के प्रकाश के लिये हमें विकार दबाने वाली चिकित्सा विधि का खण्डन करना पड़ा है। इसके लिये हम अपने सहगामी डाक्टर बन्धुओं से क्षमा चाहते हुए अत्यन्त नम्र भाव से प्रार्थना करते हैं कि वह हम पर क्रोध न करें किन्तु वह भी ऐलोपैथिक चिकित्सा विधि को विवेक बुद्धि से परीक्षा करें और साथ ही प्राकृतिक साधनों की उससे तुलना करें। यदि वास्तव में वह ऐलोपैथी को देशके लिये हानिकारक पावें तो सत्य के प्रकाश के लिये अपनी आर्थिक हानि लाभ का विचार न करें क्योंकि हमारा यह राष्ट्र तब ही उन्नति कर सकता है जब हर व्यक्ति स्वार्थ छोड़ राष्ट्र के हितकी चिन्ता

करे। साथ ही भारत सरकार और उससे सम्पर्क रखने वाले प्रत्येक देश हितैषी से हमारा निवेदन है कि वह अब विदेशी चिकित्सा की वैज्ञानिक जांच पड़ताल कराये बिना केवल इस आधार पर देश में न बनाये रक्खें कि वह अंग्रेजों के समय से जारी है। जांच कराने में भी इस बात का ध्यान रखना होगा कि हम बहुत समय पराधीन रहे हैं। विदेशी शिक्षा ने हमारी मनोवृत्ती गुलामी की बना दी है। अतः जांच करने वालों में ऐसी मनोवृत्ती के सज्जन न होने चाहिये जिनकी शिक्षा दीक्षा केवल अंग्रेजी के आधार पर हुई है और अपने प्राचीन साहित्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते हैं। जनता के राज्य में हर बात वह होनी चाहिये जिस को अधिक जनता चाहती हो। जब कोई बात ऐसी हो जिसे जनता का बहुमत चाहता हो और वह देश के लिये उपयोगी भी हो, तब तो उस के अपनाने में जनता की सरकार को देर ही न करना चाहिये। विदेशी चिकित्सा विधि के हानिकारक परिणामों के कारण देश का बहुमत उसके विरुद्ध है। उसके पक्ष में केवल अंग्रेजी पढ़े थोड़े से बाबू लोग हैं, जो यदि निर्पक्ष भाव से इस के वैज्ञानिक प्रभावों पर विचार करेंगे तो वह भी विरुद्ध हो जावेंगे ऐसी अवस्था में भारत सरकार का उसे इसी रूप में अपनाए रखना और वेद में बताई चिकित्सा विधियों के परीक्षण के लिये उस से अधिक सुविधायें न देना किसी प्रकार उचित नहीं है। हम आशा करते हैं कि हमारी लोकप्रिय सरकार भविष्य में अपने इस कर्तव्य की ओर ध्यान देवेगी और क्षय-रोग के बढ़ते हुए वेग को रोकने के लिये तो प्राकृतिक साधन हवन यज्ञ आदि के प्रचार और गऊ धन बढ़ाने का तुरन्त प्रयत्न करेगी क्योंकि इन साधनों के बिना यह रोग देश से मिट ही नहीं सकता।

विनीतः—

(डा०) फुन्दनलाल
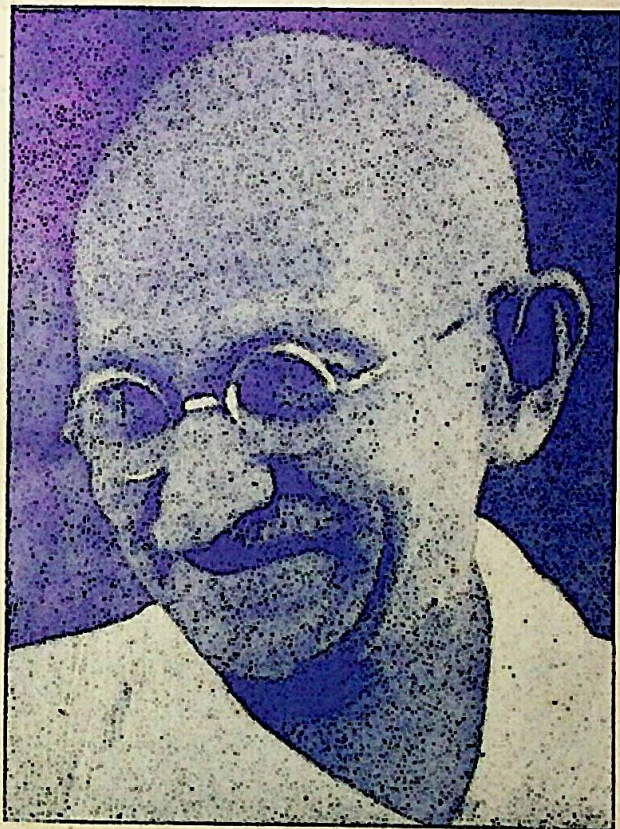
प्राकृतिक चिकित्सा के परमभक्त, एलोपैथिक औषधियों को देश तथा स्वास्थ्य के लिये हानिकारक बतानेवाले: युग पुरुष महात्मा गांधीजी महाराज।

अनुक्रमणिका

भाग १

(शेष दूसरे पृष्ठ पर)

अनुक्रमणिका.

भाग २

शुद्धिपत्र ।

भाग १

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	क्षय-रोग (चिकित्सा)	क्षय-रोग की चिकित्सा
५	११	अध्यंन	अध्ययन
८	६	अतिम	अंतिम
८	८	को	की
८	१८	करता	करते
१०	११	वक्षस्थ	वक्षस्थल
१०	२०,२१	बकरी अथवा गाय	गाय
१०	२३	पय	खाद्योज
१६	६	अर्थ० २ का	अथर्व० का २
२५	११	समाज	समान
२६	१०	जोरों	जोरों
३३	२५	प्रत्युत	प्रयुक्त
७१	२१	थूक	थूक
७३	५	कैनिल	फैनिल
७७	२४	से	में
१०६	१५	आर	और
१२२	१८	केवजि	कवोंज
१२६	२८	उन से जब	उन से
१३०	६	रोकने शक्ति	रोकने की शक्ति
१३०	२४	Heetis	Hectic
१३०	२८	जाती जाती	जाती
१३१	२५	चर्म	चर्म रोग
१३२	१	और भी	और
१३२	४	सक्रमण	संक्रमण
१३२	५	Tubercwlides	Tuberculides

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१३३	६	अस्य	अन्य
१४२	८	Plalolets	Platelets
१४२	१०	त्रिघस्सावर्द्धन	क्षिघस्त्रावर्द्धक
१४२	१०	opsonius	opsonins
१४२	११	उन्नताश	उन्नतांश

भाग २

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१६५	८	जोर	ढोर
१६७	१२	पराते	पुराने
१७६	२०	सकता	सकती
१७७	४	में	के
१७८	८	यतिशील	गतिशील
१८१	२८	जवेगा	जावेगा
१८२	१२	यत्र	यंत्र
१८६	६	फामिक	फार्मिक
१६१	५	लाग	लोग
१६४	२०	medicanes	medicines
२३७	१४	क्या	क्यों
२४१	२	अध्यन	अध्ययन
२५५	२४	से ही	ही
२५७	७	गृहस्त	ग्रस्त
२८६	२०	अंगुर	अंगूर
३०२	२१	करता	कराता
३०४ व ३०८		सामग्री की मात्रा ३०८ के स्थान पर ३०४ पृष्ठ पर छपी है।	
३११	८	जिस	जिस २
३२२	१	कर्णाभ्यां	कर्णाभ्यां
३२८	अंत में		समाप्त

डॉ० कुन्दनलाल सन् १९०४ ई० में क्षय-रोग की
अचूक चिकित्सा की खोज में।

जब वैद्यराज जी और सिविल सर्जन साहब दोनों क्षय-रोग को
एक लाइलाज बीमारी बताते हैं, ऐसी अवस्था में यदि मैं
इस की कोई सफल चिकित्सा खोज सका तब
मैं अपने जीवन को सफल समझूंगा।
(लेखक की प्रतिज्ञा सन् १९०४ में)

यज्ञ-चिकित्सा

प्रथम भाग

निदान खंड
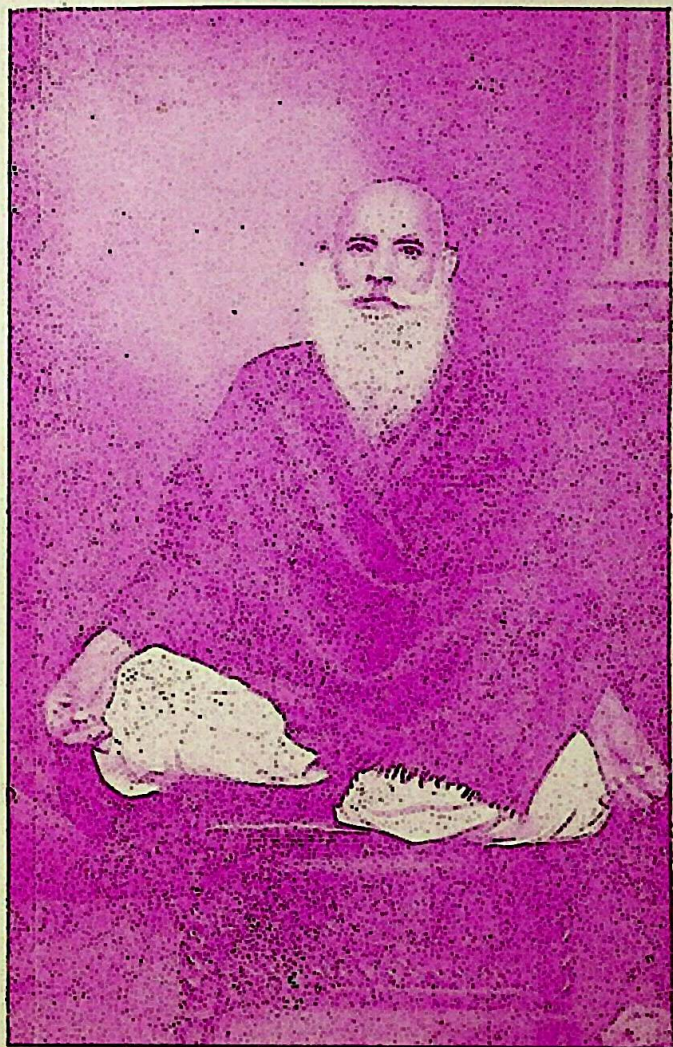
डाक्टर फुन्दनलाल क्षय-रोग की प्राकृतिक और अचूक यज्ञ-चिकित्सा की खोज के पश्चात यज्ञ-चिकित्सा सेनेटोरियम के अध्यक्ष के रूप में (सन् १९४९ ई०)

क्षय-रोग (चिकित्सा)

पाठ १

क्षय रोग का इतिहास ।

जिस रोग को प्राचीन साहित्य में क्षय, शोष, यक्ष्मा अथवा राजयक्ष्मा नाम से पुकारा गया है उसको हकीम लोग तपेदिक या सिल और डाक्टर लोग टी. बी. ट्युबरक्युलोसिस (Tuberculosis) या थाईसिस (Phthesis) कहते हैं। जब रोग से फुफ्फुस आक्रांत हो तो उसे राजयक्ष्मा या थाईसिस और जब शरीर के अन्य अंगों में रोग हो तो यक्ष्मा अथवा टी० बी० कहते हैं, पर यह अन्तर बहुत थोड़े लोग जानते हैं। प्रायः जब खांसी और ज्वर अधिक समय तक रहे और रोगी क्षीण होता जावे या उसके मुख से रक्त का वमन हो तो लोग इस रोग को उपरोक्त नामों से ही पुकारते हैं।

यह रोग प्राचीन काल में भी होता था और इसकी सफल चिकित्सा भी उस समय लोगों को ज्ञात थी। इसी कारण उस समय कभी इतने वेग से नहीं बढ़ने पाया जैसा आजकल बढ़रहा है।

सब से पहिले इस रोग का वर्णन वेद में जो संसार में सब से प्राचीन ग्रन्थ है मिलता है। इसके पश्चात आयुर्वेद के

प्राचीन ग्रन्थों आत्रेय संहिता तथा चरक इत्यादि में मिलता है।

इन ग्रन्थों में इसकी सफल चिकित्सा तथा संक्रमण रोकने के उपायों का भी वर्णन मिलता है। भारतवर्ष से जब चिकित्सा-शास्त्र मिश्र, यूनान इत्यादि में गया तब वहां के लोगों ने भी अपनी पुस्तकों में इसका विवरण दिया। यूनानी हकीम बुकरात (Heppocrates) ने जो ईस्वी सन् से ४६० वर्ष पूर्व हुआ है इस रोग का भली प्रकार विवरण दिया है। उसने यह भी लिखा है कि यह रोग १८ से ३६ वर्ष की आयु में सबसे अधिक होता है (इस समय के डाक्टरी परीक्षएं भी लगभग इसी बात को सिद्ध करते हैं)। फिर रूमी हकीम सेल्सस (Celsus) और यूनानी हकीम एरीटियस (Aeretaeus) ने जो ईसवी सन् से २५० वर्ष पूर्व हुआ है लिखा है कि समुद्र यात्रा तथा सामुद्रिक जल वायु क्षय रोग में लाभदायक हैं। सेल्सस और एक अन्य हकीम गेलिन (Galen) ने चरक का अनुकरण करते हुए बकरी के दूध को क्षय रोग की चिकित्सा में हितकर और जल वायु परिवर्तन को उपयोगी बताया है। एक और हकीम प्लिनी (Pleny) ने लिखा है कि उनके समय में समुद्र यात्रा क्षय रोग की लोकप्रिय चिकित्सा समझी जाती थी। अरब के चिकित्सक भी गेलिन की भांति क्षय-रोग के इलाज में बकरी का दूध अधिक प्रयोग करते थे। फिर प्रसिद्ध हकीम जालीनूस ने जो सन् १३० ईस्वी में हुआ है, इसके सम्बन्ध में अच्छी तरह लिखा है। इसके पश्चात् फ्रांसीसी हकीम सिल्वियस (Sylvius) ने फुफ्फुस के क्षत (Cavity) और दानों का सम्बन्ध एक माना है। पर इटली के डाक्टर मार्गागनी (Margagni) जो १६८२ ई० में हुआ है, और बेली (Baillee) अंग्रेजी डाक्टर जो १७३६ ई० में हुआ है, दोनों ने सिल्वियस के विचारों का विरोध किया फिर एक फ्रांसीसी हकीम बेली ने जो १७७४ ई० में हुआ है मिलीअरी ट्यूबरक्युलोसिस (Miliary Tuberculosis) एक नवीन प्रकार की दिक का पता लगाया

इसके पश्चात् एक फ्रांसीसी हकीम लैसेनिक (Lasnnec) जो १७८१ ई० में हुआ है गंग्रीन आफ दी लंग्स (Gangren of the Lungs) और कैन्सर आफ दी लंग्स को प्रथक प्रथक रोग ठहराया है। फिर वर्चू (Virchow) एक जर्मन डाक्टर ने कैन्सर आफ दी लंग्स को एक प्रथक रोग माना है। फिर जर्मन डाक्टर राबर्ट काक (Robert-Koch) ने १८८२ ई० में क्षय रोग के कृमी (Tubercle Bacillus) मालूम किये उस से यह आशा हो गई थी कि अब इस की चिकित्सा में कोई कठिनता न रहेगी। हकीम हिपोक्रैटीज़ (Heppocrates) का मत था कि क्षय रोग दूषित शरीर रचना का फल होता है और इस दोष विशेष को उन्होंने क्षयी प्रकृति (Tuberculosis-Diathesis) का नाम दिया था पर अरब चिकित्सा युगके पश्चात् कई शताब्दियों तक योरोप में मध्यकालीन चिकित्सा की अवस्था शिथिल रही। उसके पश्चात् भूमध्यसागर के निकट वर्ती देशों में, विशेषकर इटली, फ्रान्स और स्पेन में इसका पुनरुत्थान हुआ। उस समय इन देशों में यह विचार फैला हुआ था कि क्षय-रोग दूषित शारीरिक रचना से नहीं, परन्तु छूत (Conta-geon) से उत्पन्न होता है। (काक के अनुसन्धान से पूर्व ही कदाचित वेद में वर्णित कृमी के आधार पर) क्षय रोग के संक्रामक होने में उस समय इतना दृढ़ विश्वास था कि छूत के रोकने के लिये राज्य की ओर से बड़े बड़े कठोर नियम बनाये गये थे। स्पेन में पंचम फिलिफ के राजत्वकाल में (१७००-२५ ई०) क्षय-रोगियों की अनिवार्य विज्ञप्ति (Compulsory notification) का नियम बनाया गया था। इटली में भी सन् १८५४ ई० में इसी प्रकार का कानून बनाया गया था। इस कानून के अनुसार चिकित्सकों के लिये प्रत्येक क्षय रोगी की रिपोर्ट करना अनिवार्य था। रिपोर्ट होने पर ऐसे रोगियों को पृथक करके एक असाध्यालय (Institution

for uncurables) में रख दिया जाता था जहां रोगियों को प्रायः मृत्यु पर्यन्त रहना पड़ता था। परन्तु यह नियम ३८ वर्ष के पश्चात् रद्द कर दिया गया, क्योंकि इससे प्रजा में असन्तोष फैलता था और लोगों को बड़ा कष्ट होता था। फ्रांस में १८०६ ई० तक क्षय-रोगियों के प्रथक करने के नियमों का पालन किया गया, परन्तु बाद को सफलता प्राप्त न होने पर उन नियमों में शिथिलता आ गई। यद्यपि क्षय-रोग के संक्रामक होने के संबन्ध में इतने दृढ़ विचार यूरोप में फैले हुए थे, परन्तु इंगलैंड उनसे प्रभावित नहीं हुआ था। इंगलैंड के चिकित्सक क्षय-रोग का कारण हिपोक्रैटीज़ के मतानुसार क्षयी प्रकृति या दूषित शरीर रचना मानते थे। संक्रमण (Infection) में उनका विश्वास नहीं था। कुछ लोग प्रबल संक्रमण से क्षय-रोग के उत्पन्न होने में विश्वास करने लगे थे पर बहुमत इसके विरुद्ध था। जब क्षय-रोगियों को प्रथक करने के नियमों का वर्षों तक पालन करने पर भी क्षय-रोग को रोकने या कम करनेमें कोई सफलता न हुई तो यूरोप में भी लोगों के विचारों ने कुछ पलटा खाया और उन्नीसवीं शताब्दी में वे भी क्षयी प्रकृति में विश्वास करने लगे। फ्रांस में विलिमिन और जर्मनी में कोनहायम (Konhiem) तथा क्लेब (Klebb) ने अपने २ अनुभावों के आधार पर बतलाया कि क्षय-रोग का कारण कोई विष होता है जो बाहर से शरीर में प्रवेश करता है परन्तु उनको इस का पता न था कि वह विष क्या होता है। जब मार्च १८८२ ई० में डाक्टर काक साहब ने क्षय-कीटाणुओं का अनुसन्धान घोषितकर दिया तब संक्रमण का निश्चय होने से डाक्टर लोगों का ध्यान क्षय प्रकृति अथवा दूषित शरीर रचना से हटकर केवल संक्रमण की ओर चला गया। और इसी आधारपर चिकित्सा की नई नई विधियां सोची जाने लगीं पर अब तक की खोज से जिसका

वर्णन आगे इसी पुस्तक में किया जावेगा हम इस परिणाम पर बिना पहुँचे नहीं रह सकते कि हम अब तक क्षय रोग की सफल चिकित्सा के खोजने में जहां असफल रहे हैं वहां ऐसे उपाय भी नहीं जानते जिससे रोग का संक्रमण आगे न फैले। इस असफलता के मुख्य कारण दो भूलें हैं (१) दूषित शरीर रचना के विचार को नितान्त त्यागकर केवल क्षय संक्रमण पर ध्यान देना। (२) यह भ्रम कि इस रोग के सम्बन्ध में जो कुछ अनुसन्धान इस समय हो रहा है वह ही मान्य है। वेद तथा आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञान है। आजकल के वैज्ञानिक युग में हमें उनसे कुछ सहायता नहीं मिल सकती अतः उनका अध्यन आवश्यक नहीं है।

"पहिली भूल की ओर अब बहुत से डाक्टरों का ध्यान जाने लगा है, डाक्टर थ्योबोल्ड स्मिथ का कहना है कि किसी रोग के कीटाणुओं का पता लगा लेना उस रोग की समस्या के हल करने में पहिली सीढ़ी–उस रोग सम्बन्धी अनेक प्रश्नों में से केवल एक का उत्तर है। डाक्टर शंकरलाल गुप्त सुपरिन्टेन्डेन्ट यू० पी० जेल सेनेटोरियम सुलतानपूर लिखते हैं:— "क्षय कीटाणुओं के अनुसंधान के बाद लोग समझने लगे कि अब क्षय-रोगके अचूक इलाज और उससे बचनेके उपायों में सफलता प्राप्त करना कोई कठिन बात नहीं है। यदि क्षय कीटाणुओं को जहां मिलें नष्ट कर दिया जाय और उनको फैलने न दिया जाय तो क्षय रोग से निस्सन्देह बचत हो सकती है और यदि कोई ऐसी औषधि ज्ञात हो जाय जो क्षय-कीटाणुओं को शरीर में नष्ट कर दे, तो क्षय-रोग का शर्तिया इलाज हो सकता है। इस आदर्श को सामने रखते हुये गत पचास वर्षों में जो परिश्रम हुआ है उस से कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हुई है, परन्तु वह बहुत थोड़ी है।" पूर्ण सफलता प्राप्त न होने का एक कारण यह भी है कि कीटाणु–विज्ञानवादी शरीर रचना

सम्बन्धी कारणों की अपेक्षा क्षयोत्पादन में कीटाणुओं को कहीं अधिक प्रधानता देते रहे हैं।"

दूसरी भूल की ओर अभी लोगों का ध्यान नहीं गया है इसी कारण उन को इस रोग की चिकित्सा में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो रही है। डाक्टर ही नहीं वैद्य लोग जो अपने को आयुर्वेद का ज्ञाता समझते हैं इस रोग की चिकित्सा के एक बहुत थोड़े अंश का ही ज्ञान रखते हैं। इस कारण क्षय-रोग की वह अचूक चिकित्सा विधि जिस से शत प्रति शत रोगी आरोग्य हो सकते हैं जनता में नहीं फैल रही है।

सन् १९०४ ई० में जिस समय डाक्टर काक के कीटाणु-वाद का सिद्धान्त पूरे यौवन पर था और डाक्टर लोग इस अनुसन्धान के भरोसे क्षय-रोग की सफल चिकित्सा करने का भ्रमवश अभिमान पूर्वक दम भरते थे, लेखक का ध्यान इस रोग की ओर गया। और जिस त्रुटि की ओर आज डाक्टर शंकरलालजी तथा अन्य डाक्टरों का ध्यान गया है, उसको लेखक ने उसी समय अनुभव किया और अपने मतानुसार चिकित्सा के परीक्षण अब तक करने के पश्चात् लेखक की क्षय-रोग की चिकित्सा विषयक यह सम्मति है:—

१—क्षय-रोग केवल दूषित शरीर रचना से होता है। क्षय-कीटाणु अवश्य हैं और संक्रमण भी होता है पर जिसका शरीर दूषित नहीं है उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता अतः उसे संक्रमण कहना ही व्यर्थ है। संक्रमण से रोग उसी को होता है जिसका शरीर दूषित है। अतः मुख्य कारण दूषित शरीर ही है।

२—शरीर दूषित उसी समय होता है जब हम प्राकृतिक नियमों की अवहेलना करते हैं अतः उन्हीं नियमों पर पुनः लौटने से हम क्षय-रोग का नाश कर सकते हैं। जब तक ऐसा

न करें कोई भी औषधि जो मुंह से खाई जावे अथवा सुई से रक्तमें पहुँचाई जावे हमको पूर्ण आरोग्य नहींकर सकती ।

३—वेद में और आयुर्वेद में इस रोग को नाश करने की सब से प्रधान "यज्ञ चिकित्सा" बताई है जो अनुभव से भी सत्य सिद्ध हो चुकी है ।

४—सबसे बड़ा गुण इस चिकित्साविधि में यह है कि यह जहां रोगी को आरोग्य करती है वहां वायुमंडल से रोगकृमि का नाशभी करती है इससे इस चिकित्सा से जहां रोगी आरोग्य होता है वहां रोग की वृद्धी भी रुकती है तथा रोगी के निकट रहने वाले सब व्यक्ति सुरक्षित रहते हैं ।

५—डाक्टर स्मिथ के कथनानुसार वास्तव में कीटाणु की खोज तो केवल एक प्रश्न का उत्तर है पर "यज्ञ चिकित्सा" सब प्रश्नों का पूर्ण और सर्वांगपूर्ण उत्तर है अत: अब इस विज्ञान के युग में कुछ ही समय पश्चात् क्षय रोग की सर्व श्रेष्ठ चिकित्सा, यज्ञ चिकित्सा ही प्रसिद्ध होगी । ऐसी गुमनाम चिकित्सा के विषय में ऐसी दृढ़ भविष्यवाणी करना इस समय सम्भव है, 'शेख चिल्ली' का ख्याल कहा जावे । पर जो लोग विज्ञान के सत्य सिद्धान्तों के इतिहास से परिचित हैं वह जानते हैं कि सब ही सिद्धान्त इसी प्रकार गुमनामी की अवस्था से प्रसिद्धि के उच्च आसन पर आरूढ़ हुए हैं । यज्ञ चिकित्सा का अनुसन्धान पराधीन भारत में एक बहुत ही साधनहीन व्यक्ति द्वारा हुआ था । अनेक विघ्न बाधाओं के होते हुए भी अपने प्रभाव के कारण एक ओर उसकी प्रसिद्धि बढ़ती ही गई । पर दूसरी ओर अनेक उपाय करने पर भी विदेशी सरकार अथवा गरीबों के रक्तशोषक स्वार्थी रईसों से इसको कोई सहायता नहीं मिली अब, सौभाग्य से स्वदेशी राज्य है । इस कारण

सरकारी और गैरसरकारी दोनों प्रकार की कुछ कुछ सहायता इसके प्रचार के लिये मिली है। पर वह अभी ऐसी ही है जैसे बर्फ से ठिठुरे हुए मनुष्य पर ऊषाकाल में उदय होते हुए सूर्य की किरण। किन्तु स्वभाविक रूपमें सूर्यकी किरणें तीव्र होवेंगी ही बस जहां ऐसा हुआ 'यज्ञचिकित्सा' क्षय रोग की चिकित्सा का अंतिम और उच्च स्थान ग्रहण करेगी। तब आगे के लेखक "क्षय-रोग" का इतिहास लिखते समय अंत को इस रोग को सर्वमान्य चिकित्सा "यज्ञ चिकित्सा" ही लिखेंगे ऐसी आशा है।

पाठ २

क्षय रोग के कीटाणु।

जिन कीटाणुओं का अनुसन्धान डा० काक साहब ने किया है वह इतने छोटे होते हैं कि वैसे आंख से दिखाई नहीं देते अणुवीक्षण यंत्र (microscope) की सहायता से देखे जा सकते हैं क्योंकि साधारणतः इनकी लम्बाई $\frac{1}{15000}$ इंच और चौड़ाई $\frac{1}{150000}$ इंच होती है। इन के ऊपर एक मोम जामा का सा खोल चढ़ा होता है जिसके कारण यह अपने विरुद्ध शक्तियों का सामना करता है और सुगमता से किसी औषधि का इन पर प्रभाव नहीं होता जो तीव्र औषधि इसे नष्ट कर सकती है वह मनुष्य शरीर को हानि पहुँचाती है, इसी कारण डाक्टरी में अभी तक इसकी सफल चिकित्सा का आविष्कार नहीं हो पाया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि "ऐसे अनेकों रासायनिक पदार्थ हैं जो शरीर के बाहर क्षय-कीटाणुओं को क्षणभर में नष्टकर सकते हैं, परन्तु अभी तक ऐसा कोईभी रस नहीं निकला है, जो शरीर के भीतर उन कीटाणुओं को मार सके और साथ ही शरीर पर उसका कोई हानिकारक प्रभाव न हो।"

यह कभी शुरू में ६ सप्ताह तक तथा इनके सूख जाने पर ६ मास और कभी २ १½ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं। सी

का स्थान उनके लिये अनुकूल है यहां तक कि पानीके बरफ में भी जीवित रह सकते हैं। पर धूप और अग्नि इनको शत्रु है उसमें अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते। ६०° शतांश के ताव पर वे आधे घंटे में, ७०° शतांश ताप पर १५ मिनिट में और ९०° शतांश पर वे ५ मिनिट में मर जाते हैं।

यह देखा गया है कि कीटाणु चाहे किसी भी अवस्था में हों खूब तेज आंच पर पानी में उबालने से ५ मिनिट में अवश्य मर जाते हैं। धूप के अतिरिक्त शुद्ध और सुगन्धित खुली वायु भी इनकी शत्रु है जिसमें यह एक सप्ताह में ही मर जाते हैं। गरमी की अपेक्षा शीत से उनको कम हानि पहुँचती है अधिक शीत से उनकी वृद्धि रुक जाती है और उन का विषैला-पन अर्थात् रोगोत्पादक शक्ति (Virulence) कम हो जाती है, परन्तु वह मरते नहीं। शीतके कम होते ही वह पुनः उत्तेजित हो उठते हैं और उनकी वृद्धि होने लगती है। यह कीटाणु केवल मनुष्य अथवा पशु के शरीर में ही बढ़ते हैं बाहर नहीं, मनुष्य शरीर में यह कितने समय तक जीवित रह सकते हैं इसका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं चला है। तेज धूप में भी यह ५ या ६ मिनिट में मर जाते हैं, अंधेरी कोठरी में महीनों जीते हैं।

क्षय कीटाणुओं की जातियां—

ब्रिटिश रायल कमीशन(British Royal Commission)कीखोज का सारांश यह है कि क्षयकीटाणु तीन जाति के होते हैं। (१)मनुष्य (२) पशु और (३) पक्षी क्षय-कीटाणु। अधिकांश मनुष्य क्षय में केवल मनुष्य क्षय-कीटाणु ही पाये जाते हैं; किंतु कुछ संख्या में पशु क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। पशुओं के स्वाभाविक रोग में केवल पशु क्षय-कीटाणु ही पाये जाते हैं। डा० पार्क भी अपनी विस्तृत खोज से इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनुष्यों में क्षय-रोग दो जातियों के क्षय-कीटाणुओं से होता है, एक मनुष्य क्षय-कीटाणु, दूसरे पशु क्षय-कीटाणु से उनका मांस इत्यादि खाने से।

पशु-कीटाणु का मनुष्य के लिये विषैलापन—

इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि पशु कीटाणु से मनुष्य में जो रोग होता है वह बहुत हल्का होता है और उससे कदाचित ही मनुष्य की मृत्यु होती है। वास्तव में फेफड़े का क्षय ही प्राणघातक होता है और लसिका ग्रंथि, अस्थि और संधियों का क्षय जो पशुकृमी से होता है प्रायः अच्छा हो जाता है। परिवेष्टन-कलाओं (Lining membrance) के क्षय की प्रवृत्ति भी अच्छा होने की ओर होती है। झिल्लियो में केवल मस्तिष्का वरण का क्षय घातक होता है। यह भी ज्ञात हुआ है कि उदर की परिवेष्ठन कला का रोग बहुधा पशु-कीटाणुओं से होता है। यद्यपि बाल्यावस्था में ग्रीवा और वक्षस्थ की लसिका ग्रंथियों का रोग बहुत होता है, फिर भी इस अवस्था में क्षय-रोग से मृत्यु बहुत कम होती है। कुछ लोगों का विचार है कि बाल्यावस्था के विभिन्न प्रकार के हल्के रोगों से शरीर में कुछ रोग क्षमता (Immunity) उत्पन्न हो जाती है जो वर्षों तक रहती है, और जिसके कारण मनुष्य-कीटाणु कृत क्षय रोग से बहुत कुछ रक्षा होती है।

भारतवर्ष में पशु-कीटाणु कृत क्षय कम होता है इसका कारण यह है कि विदेशों की अपेक्षा यहां पशुओं को ही क्षय रोग बहुत कम होता है। हमारे देश में जो डाक्टर लोग बकरी अथवा गाय का कच्चा दूध पीने का निषेध करते हैं वह केवल विदेशी पुस्तकों के आधार पर ऐसा करके लोगों को दूध के उत्तम पौष्टिक अंश पेय (Vitamins) से वञ्चित रखते हैं। बालकों को भी कच्चा दूध यदि वह शुद्ध है पके हुए की अपेक्षा अधिक उपयोगी होता है, विशेष रूप से गऊ का पर ताजा हो।

क्षय-कीटाणुओं की रोगोत्पादक शक्ति—

क्षय-कीटाणु बड़े विषैले होते हैं। अभी तक यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि किन किन कारणों से उनका विषैलापन

न्यूनाधिक होता है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि विषैलापन कीटाणुओं के अनुकूल अवस्था में रहने से अधिक और प्रतिकूल में रहने से कम होता है। मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से केवल मनुष्यों को रोग होता है परन्तु प्रयोग द्वारा कुछ पशुओं में जैसे बन्दर में रोग उत्पन्न किया जा सकता है। पक्षी क्षय-कीटाणु केवल पक्षियों के लिये विषैले होते हैं।

कीटाणुओं के विष—

जब क्षय-कीटाणु मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं तो कई प्रकार से हानि पहुँचाते हैं। जिस स्थान पर वह जाकर टिकते हैं उसको नष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त उनके कारण से समस्त शरीर में विकार उत्पन्न होता है। इनका विष रक्त में मिलकर समस्त शरीर को हानि पहुंचाता है। परन्तु अभी तक इन विषों को अलग करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई है ; क्योंकि यह विष कीटाणुओं के शरीर के अन्दर ही रहते हैं, केवल उन के मरने पर बाहर निकलते हैं। उनके रासायनिक संघठन का अभी तक ठीक ठीक पता नहीं चला है; क्योंकि उनको शुद्धावस्था में कीटाणुओं से प्रथक नहीं किया जा सका है।

कीटाणुओं का उत्पत्ति स्थान—

क्षय-कीटाणुओं के प्रधान उद्गमस्थान क्षयी मनुष्य और पशु होते हैं। क्षयी मनुष्य के कफ में करोड़ों कीटाणु प्रतिदिन उसके शरीर से बाहर निकलते हैं। डा० कार्नेट का अनुमान है कि एक दिनमें एक क्षय रोगी लगभग ७२० ००,००,०००कीटाणु अपने शरीर से बाहर निकालता है। इसके अतिरिक्त रोग के स्थानानुसार रोगी के मल मूत्र और पीव इत्यादि में भी क्षय-कीटाणु रोगी के शरीर से बाहर निकलते हैं। कई डाक्टरों का अनुमान है कि प्रतिदिन एक रंध्र वाले क्षय रोगी के शरीर से इतने कीटाणु निकलते हैं कि यदि उनकी पंक्ति बनाई जाय तो वह १८ मील लम्बी होगी। भ्रम हो सकता है कि इतनी बड़ी

संख्या में कीटाणु कहां से आ जाते हैं पर जब हम उनके सन्ता-नोत्पत्ति के ढंग पर विचार करते हैं तो आश्चर्य की कोई बात नहीं रहती। कीटाणु जब खा पीकर पुष्ट हो जाता है तो उसके अपने आप दो टुकड़े हो जाते हैं जिनसे दो पृथक २ कीटाणु बन जाते हैं। फिर उन दोनों के इसी प्रकार दो टुकड़े होकर चार हो जाते हैं, फिर चार के आठ इसी प्रकार इनकी वृद्धि इस शीघ्रता से होती है कि दिन रात में एक से लाखों कीटाणु बन जाते हैं। जो कीटाणु रोगी के शरीर से निकलते हैं। वह जैसा कि ऊपर बताया गया अंधेरी कोठरियों में जहां सूर्य प्रकाश नहीं पहुंचता तथा सील वाले स्थानों में महिनों जीवित रहते हैं और इनमें से सौ से कुछ ऊपर कीटाणु एक पात्र मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं तो वह रोगी हो जाता है। पर जो पात्र नहीं है अर्थात् जिसके शरीर में रोग ग्राहीय शक्ति नहीं है। जो प्राकृतिक जीवन बिताता शुद्ध वायु, हवन गैस इत्यादि का नित्य प्रति सेवन करता है उसके शरीर में एक हजार कीटाणु भी पहुँच जावें तो वह वहां पहुंच कर नष्ट हो जावेंगे और उसे पता भी न चलेगा कि वह कब आए और कब नष्ट हुए।

प्रवेश मार्ग—

जब क्षय-कीटाणु आते हैं तो साधारणत: श्वास तथा भोजन के साथ मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं। पर वैज्ञानिक दृष्टि से यह समस्या अभी पूर्णतः हल नहीं हुई है। क्षय रोग के क्षेत्र में महान प्रयोगक और कार्यकर्ता रोमर का कहना है कि प्रवेश मार्ग चार हो सकते हैं।

१—त्वचा अथवा श्लेष्म कला (Mucous membrance)को वेधकर
२—श्वास मार्ग से श्वास के साथ।
३—भोजन के साथ अन्न मार्ग से।
४—जनन तथा जरायु-मार्ग अर्थात् जन्म से पूर्व माता पिता से गर्भाधान के समय गर्भ में पहुंचकर।

त्वचा मार्ग—

क्षय-कीटाणु में त्वचा को वेधने की शक्ति नहीं है। अतः वह भग्न त्वचा और आघातों से ही शरीर में घुस सकता है। इसके अनेकों उदाहरण भी पाये जाते हैं। मुसलमान और यहूदी बच्चोंमें खतना के समय, डाक्टरों में चीर फाड़ करते समय उंगली इत्यादि कट जाने से, मांस व्यवसायियों में क्षयी पशुओं को काटते समय चोट लग जाने से, कर्ण वेधन में दूषित सूई चुभने से क्षय संक्रमण होता देखा गया है। जुखाम होने पर नाक की झिल्ली में खराश होने पर तथा आंत में खराश होने पर इनके द्वारा कीटाणु प्रवेश कर सकते हैं। वैसे स्वास्थ्य त्वचा में क्षय कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने की यथेष्ठ स्वभाविक शक्ति होती है। त्वचा के रोग-क्षम (Immune) होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा त्वचा का क्षय बहुत कम होता है; और जब कभी होता भी है तो बहुत हलका और त्वचा ही में परिमित रहता है। अधिक फैलता नहीं, क्योंकि त्वचा में क्षय-कीटाणुओं का न तो पोषण होता है और न उनकी वृद्धि ही होने पाती है, इसलिये भग्नत्वचा को छोड़कर त्वचा मार्ग को कीटाणु प्रवेश का साधारण मार्ग नहीं कहा जा सकता।

श्वास मार्ग—

क्षय-कीटाणु के शरीर में प्रवेश करने का यह सर्व प्रधान मार्ग समझा जाता है। प्राचीन काल से ही लोग श्वास मार्ग को प्रधान मार्ग मानते आये हैं। डा० काक और उन के शिष्य कार्नेट ने ऐसे परीक्षण किये कि एक कमरेमें क्षय-रोगी का सुखा हुआ कफ कालीन बिछाकर डाल दिया और उस कमरेमें गिनी-पिग पशुओं को रख दिया जब कालीन पर झाड़ू लगती थी तब धूल उड़कर श्वास द्वारा पशुओं के फेफड़ों में जाती थी इस से उनको क्षय रोग हो गया। अन्य वैज्ञानिकों ने भी अनेक

प्रयोग सिद्ध प्रमाण एकत्रित किये हैं, जिनसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि कफ मिली धूल श्वास द्वारा अन्दर जाने से रोग कीटाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और रोग हो जाता है। अतः जिन घरों में असावधानी से क्षय रोगी रहते हैं, उनमें रहने वाले लोगों को सूखे हुए कफ से कितना डर रहता है विशेषकर उन लोगों को जो प्राकृतिक जीवन नहीं बिताते तथा नित्यप्रति हवन यज्ञ नहीं करते।

सूर्य प्रकाश से, खुले हुये स्थानमें और हवन गैस से क्षय-कीटाणु मर जाते हैं, इससे उनके अधिक फैलने में रुकावट पड़ती है। परन्तु जहां ऐसा नहीं होता वहां क्षय-कीटाणु अधिक समय तक जीवित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त क्षय-रोगी के बोलने, खांसने और छींकने में जो कफ की फुहारें निकलती हैं, उसमें मिले हुए क्षय-कीटाणु निकटस्थ मनुष्यों के श्वास के साथ उन के शरीर में प्रवेश करते हैं। प्रयोग द्वारा सिद्ध हो चुका है कि रोगी के कफ के कणों में, जो इस प्रकार बाहर निकलते हैं, क्षय-कीटाणु होते हैं, यदि रोगी के खांसते समय कांच की पट्टी सामने रख दी जाय तो एक गज दूर तक रखी हुई पट्टी पर क्षय-कीटाणु पाये जाते हैं। एक रोगी के साथ एक कमरे में चार लड़कों को रक्खा गया था, एक मास के भीतर उन चारों को क्षय-संक्रमण हो गया। इसी प्रकार का एक प्रयोग न्यूयार्क नगर के एक शिशुआश्रम में किया गया था, जिसमें एक क्षय पीड़ित उपचारिका से अनेक शिशुओं को क्षय-संक्रमण हो गया था। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कफ की फुहार से कीटाणु क्षय-संक्रमण उत्पन्न कर देते हैं।

प्राकृतिक रक्षक दल—

त्वचा की भांति श्वास मार्ग में भी कीटाणुओं के प्रवेश करने में कुछ रुकावटें प्रकृति ने उत्पन्न कर दी हैं। सब प्रथम

नाक के बाल छन्नी का काम करते हैं। श्वास वायु में जो धूल इत्यादि हानिकारक पदार्थ होते हैं वह बालों से अटक कर वहां ही रुक जाते हैं। पर रक्षक अपना काम जब ही कर सकते हैं जब श्वास मुंह से न लेकर सर्वदा नाक से ली जावे। दूसरे फैशनके चक्कर में नाकके बाल नाईसे कटवा न दिये जावें। इसके अतिरिक्त श्वास मार्ग की श्लेष्म कला (Mucous membrance) में लोमष सेलें (Ciliated cells) होती हैं जिनके लोमों की गति बाहर की ओर होती है। श्लेष्म एक चिकना और चिपकने वाला पदार्थ होता है, इसलिये धूल और कीटाणु इत्यादि उसमें चिपक जाते हैं और फिर वह कला की सेलों की लोम गति से बाहर निकाल दिये जाते हैं। आवश्यकता होने पर श्लेष्म के बाहर निकलने में खांसने से भी बड़ी सहायता मिलती है।

इतने पर भी जब कुछ कीटाणु फेफड़ों तक पहुँच जाते हैं तो उनके किसी स्थान पर जमने से पहले ही लसिका-कण (Lymphocytes) या तो उनको नष्ट कर देते हैं या पकड़कर लसिका ग्रन्थियों में ले जाते हैं जहां पर वे कैद हो जाते हैं। इन ग्रन्थियों में वर्षों तक क्षय-कीटाणु जीवितावस्था में बन्द पड़े रहते हैं और अवसर पाकर फिर उत्तेजित होकर क्षय-रोग उत्पन्न करते हैं। कीटाणुओं के इस प्रकार शरीर की लसिका ग्रन्थियों में बन्द पड़े रहने को गुप्त क्षय (Latent Tuberculosis) का एक रूप समझना चाहिये जो सक्रिया क्षयमें केवल उस समय बदला जा सकता है जब हमारा शरीर अप्राकृतिक अवस्था से निर्बल हो जावे और यदि हम प्राकृतिक जीवन बिताने लगें तो अंत समय तक क्षय रोग न हो।

अन्न मार्ग—

यह मार्ग भी क्षय-कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश करने का एक मुख्य मार्ग है। दूषित खाना, पानी, दूध इत्यादि के प्रयोग से कीटाणु बड़ी सरलता से शरीर में प्रवेश कर सकते हैं और करते भी हैं। मक्खियां जब क्षय रोगी के कफ या मल पर

बैठती हैं तो वह (कफ या मल) उनके पैर और मुंह में लग जाता है। फिर जब वही मक्खियां खुले खाद्य पदार्थों, दूध, दाल, रोटी इत्यादि पर उड़कर बैठती हैं तो कफ और मल के कण दूधमें मिल जाते हैं। इस प्रकार खाने की किसी भी वस्तु को मक्खियां दूषित कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त क्षय-रोगी के छूने और उसके साथ या उसके बर्तनों में खाने से भी खाद्य पदार्थ दूषित हो जाते हैं।

अन्न मार्ग के दो प्रधान स्थान हैं. जहां से क्षय-कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं, पहला ऊर्ध्व भाग, (मुख,कण्ठ इत्यादि) और दूसरा अधो भाग, (अंतड़ियां इत्यादि)। जब क्षय-कीटाणु मुख अथवा कण्ठ की श्लेष्म कला से प्रवेश करते हैं तो पहिले ग्रीवा की लसिका ग्रन्थियों में पहुँचते हैं जो कभी कभी कुपित होकर बड़ी हो जाती हैं। गर्दन की इन बढ़ी हुई ग्रन्थियों को कण्ठमाला रोग कहते हैं। ग्रीवा ग्रन्थियों से क्षय-कीटाणु वक्षस्थल की ग्रन्थियों में पहुँच जाते हैं और वहां से फेफड़ों में पहुँच जाते हैं।

जब क्षय-कीटाणु अतड़ियों में प्रवेश करते हैं तो पहिले अंतधरा कला (Mesentry) अर्थात् आंतोंकी झिल्ली की ग्रंथियों में पहुंच जाते हैं; जो कभी बढ़ जाती है और उनके बढ़ जाने से उदर की गिल्टियों का क्षय हो जाता है, जिसको अंग्रेजी में "एब्डामिनल टी० बी० (Abdominal Tuberculosis) कहते हैं। इन ग्रंथियोंसे लसिका द्वारा लसिका महा शिरा (Thoracic duct) से होते हुए कीटाणु फेफड़े में पहुँच जाते हैं।

अन्न मार्ग में स्वभाविक रुकावटें—

जिस प्रकार हमारे शरीर के ऊपर त्वचा है जो स्वस्थ अवस्था में किसी रोग के कीटाणु को शरीरमें प्रवेश नहीं करने देती परन्तु भग्न होनेपर कीटाणुको प्रवेशका अवसर मिल जाता है इसीप्रकार हमारी अन्न मार्ग की भीतरी ओर एक अस्तर लगा है जिसे श्लेष्म

कला कहते हैं। स्वस्थ श्लेष्म-कला को चीरकर शरीर में प्रवेश करनेकी शक्ति क्षय-कीटाणुओं में नहीं होती। पर जब उसपर कोई खराश होकर वह भग्न अवस्थामें हो जाती है तो कीटाणु को प्रवेश का अवसर मिल जाता है। तेज़ दस्तावर औषधियों तथा अन्य तेज़ और विषैली औषधियों से इस में खराश पड़कर वह कीटाणु के प्रवेश योग्य हो जाती है। तब कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। अन्न मार्ग के पाचक रसों में क्षय-कीटाणुओं के नाश करने की और उनके रोगोत्पादक शक्ति को कम करने की शक्ति होती है। जब कीटाणुओं की संख्या कम होतीहै तो पाचक रसों से उनका पूर्णतः नाश हो जाता है। खाने पीने के पदार्थों के दूषित होने के कारण इतनी रुकावटों के होने पर भी आजकल अन्नमार्ग क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश का एक मुख्य मार्ग है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि क्षय-कीटाणुओं के शरीर में प्रविष्ट होने में श्वास-मार्ग की अपेक्षा अन्न मार्ग का महत्व अधिक है।

रक्त मार्ग—

श्वास-मार्ग और अन्न मार्ग की स्वभाविक रुकावटों पर विचार करते हुए कुछ लोगों का मत है कि क्षय-कीटाणु चाहे जहां से प्रविष्ट हों, रक्त द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचते हैं। रक्त समस्त शरीर में भ्रमण करता है और जहां कहीं अनुकूल स्थान होता है क्षय-कीटाणु वहीं टिककर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि कम से कम जोड़ और हड्डियों का क्षय तो केवल रक्त मार्ग से ही हो सकता है, क्योंकि वहां तक पहुँचने के लिये कीटाणुओं को और दूसरा कोई मार्ग नहीं होता। समस्त शरीर के रक्त का संशोधन फेफड़ों में ही होता है। इसलिये जो क्षय-कीटाणु किसी भी स्थान से रक्त में प्रविष्ट होते हैं सर्व प्रथम फेफड़ों में पहुँचते हैं और वहां पर रोक लिये जाते हैं। इस लिये फेफड़े का क्षय बहुत होता है।

जनन तथा जरायु मार्ग—

माता पिता से गर्भ में संक्रमण होकर सन्तान में क्षय-कीटाणुओं का पहुंचना सिद्धांत रूप में सम्भव तो है पर इतना कम होता है कि नहीं के बराबर है। हम समझते हैं कि कीटाणुओं के सम्बन्ध में इतनी जानकारी से पाठक बहुत कुछ उपाय उनसे बचने के कर सकेंगे। अतः हम अगले पाठ में यह दिखाने का यत्न करेंगे कि कीटाणुवाद का विचार आधुनिक ही नहीं है किंतु बहुत प्राचीन है। पर वह हमें रोगी कब कर सकते हैं यह अन्यत्र बताया जावेगा।

पाठ २

वेद में कीटाणू और क्षय रोग का वर्णन

जैसा कि पिछले पृष्ठों में वर्णन किया है क्षय कीटाणुओं का अनुसंधान जब डाक्टर काक साहब ने किया तब लोग समझने लगे थे कि अब क्षय-रोग की चिकित्सा बड़ी सुगमता से हो सकेगी पर अब अनुभवी डाक्टर उससे निराश होकर अन्य उपायों की खोज में लगे हैं। वह इस खोज में बड़े से बड़े प्रयत्न करने का उद्योग करते हैं पर अबतक सफल नहीं हो सके हैं। इस का मुख्य कारण यह है कि वह इस विषय में सब विद्याओं के भंडार वेद की अवहेलना करते हैं उनका विश्वास है कि वेदकाल में क्षय-रोग तो था पर उस समय न कीटाणु विद्या को लोग जानते थे और न भिन्न २ स्थानों के क्षय-रोग को इसी भ्रम के कारण वह उस पुस्तक को नहीं टटोलते जिसमें न केवल संसार के समस्त रोगों की किन्तु समस्त समस्याओं की चिकित्सा वर्णन की गई है। यहां हम अथर्व वेद के कुछ मंत्र अर्थ सहित देते हैं जिनसे उपरोक्त भ्रम दूर हो जावेगा। हमें आशा है कि इस

भ्रम के दूर होने पर वैज्ञानिक लोग क्षय-रोग की अचूक चिकित्सा की खोज में वेद को वही महत्व देवेंगे जिसका वह अधिकारी है और तब ही हम क्षय-रोग की अचूक चिकित्सा खोज सकेंगे।

१—इन्द्रस्य या मही द्रषत् क्रिमे र्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन द्दषदा खल्वाँ इव।
अर्थ० २। का सू० ३१। मं० १।

अर्थ—बड़े यज्ञ की जो विशाल शिला प्रत्येक क्रमि की नाश करने वाली है उससे सब क्रमियों को यथा नियम पीस डालूं।

२—दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्। अल्गण्डून्त्सर्वा ञ्छलुनान क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि। २।

अर्थ—दिखाई देने वाले और न दिखाई देने वाले क्रमिगण को मैंने नष्ट कर दिया है और भी भूमि पर रेंगने वाले व बुरे प्रकार से सताने व भिनभिनाने वाले को मैंने नष्ट कर दिया है सब उपधानों में भरे हुए वेग वेग चलने वाले कीड़ों को वचसा से हम मार डालें।

३—अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्। शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै।३।

अर्थ—उपधानों में भरे हुये जन्तुओं को बड़ी चोट से मैं मारता हूं। तपे हुए और बिना तपे हुए नीरस हो गए हैं। बचे हुए दुष्टों को वाचा से नीचे डालकर मार डालूं जिससे कीड़ों में से कोई भी न बचा रहे।

४—अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य १ मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि। ४।

अर्थ—आंतों में के शिर पर वा शिर में के और भी पसलियों में के इन सब कीड़ों को नीचे २ रेंगने वाले और छेद करने

वाले व पीड़ा देने वाले व यज्ञ के विरोधी इन सब कीड़ों को वचसा से हम नाश करें।

५—ये क्रिमयः पर्वतेषु वने ष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व १ न्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्।५

अर्थ—जो कीड़े पहाड़ों में, वनों में, अन्न आदि औषधियों में गौ आदि पशुओं में और जल में भीतर हैं और हमारे शरीर में प्रविष्ट हो गए हैं क्रमियों के उस सब जन्म को मैं नाश करूं।

उपरोक्त सूक्त का देवता "इन्द्र" है अर्थात् यज्ञ द्वारा क्रिमियों के मारने का विधान है और ३२वें सूक्त का देवता आदित्य अर्थात् सूर्य है जिसका अभिप्राय यह है कि सूर्य इन कीड़ों को मारता है।

सूक्तम् ३२
आदित्यो देवता

६—उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

अर्थ—उदय होता हुआ प्रकाशमान सूर्य उन क्रमियों को मारे और अस्त हुआ अपनी किरणों से मारे जो कीड़े पृथिवी में भीतर हैं।

७—विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥ २ ॥

अर्थ—नाना आकार वाले चारों दिशाओं में अथवा चार नेत्र वाले, रींगने वाले और संचय शील वा श्वेत वर्ण कीड़े को मैं मारता हूँ इसकी पसलियों को भी और जो शिर है उसको भी तोड़े डालता हूँ।

८—अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्वज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

अर्थ—क्रिमियों को दोष भक्षक व कण्ववत् आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के समान मैं मारता हूं। कुटिल गति पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के वेद ज्ञान से मैं कीड़ों को पीसे डालता हूँ।

९—हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

अर्थ—इन कीड़ों का राजा नष्ट होवे और स्थपतिः नष्ट होवे; माता नष्ट हो, भ्राता नष्ट हो, चुका है और जिसकी बहिन नष्ट हो चुकी है वह क्रिमी मार डाला जावे।

१०—हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

अर्थ—इस क्रिमी के वेशसः नष्ट हों और साथी भी नष्ट हों और भी जो बहुत सूक्ष्म आकार वाले से हैं वे सब कीड़े नष्ट हों।

११—प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

अर्थ—तेरे दो सींगों को मैं तोड़े डालता हूँ जिन दोनों से तू सब ओर टक्कर मारता है तेरे जल पात्र को तोड़ता हूँ जो तेरे विष की थैली है।

सूक्तम् ३३

आत्मा देवता अर्थात् शरीर रक्षा विषय

१२—अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

अर्थ-(हे प्राणी) तेरी दोनों आखों से, दोनों नथनों से, दोनों कानों से, ठोडी में से, तेरे भेजे से और जिह्वा से शिर में के क्षयी रोग को मैं उखाड़ देता हूं।

१३—ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य १ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २॥

अर्थ—तेरे गले की नाड़ियों से, गुद्दी की नाड़ियों से, हंसा की हड्डियों से, रीढ़ से और तेरे कंधों से, तेरे दोनों भुजाओं से, मुड्ढे व बक्खे के क्षयी रोग को मैं उखाड़े देता हूँ।

१४—हृदयात ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मत स्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्तो वि वृहामसि ॥ ३ ॥

अर्थ—तेरे हृदय से, फेफड़े से, पित्ते से, दोनों बगलों से तेरे दोनों मसानों (गुर्दों) से, सीहा (तिल्ली) से और यकृत (जिगर) से, क्षयी रोग को उखाड़े देता हूँ ।

१५—आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां साशेर्नाभ्यां वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

अर्थ—तेरी आंतों से, गुदा की नाड़ियों से, वनिष्ठुः से, उदर में से, और तेरी दोनों कोखों से, (साशेः) कोख में की शै से, और नाभि से क्षयी रोग को उखाड़े देता हूँ ।

१६—ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं १ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५

अर्थ—तेरे दोनों जंघाओं से, दोनों घुटनों से, दोनों एड़ियों से, दोनों पैरों के पंजो से और तेरे दोनों कूल्हों से, और गुह्य स्थान से, कटि के और गुह्य के क्षयी रोग को मैं व से उखाड़ता हूँ ।

१७—अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६॥

अर्थ—तेरे हड्डियों से मज्जा धातु (अस्थि के भीतर के रस) से, पुट्ठों से और नाड़ियों से, और तेरे दोनों हाथों से, अंगुलियों से, और नखों से क्षयी रोगको मैं जड़ से उखाड़ता हूँ।

१८—अङ्गेअङ्गे, लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मंत्वचस्यं तेवयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चंविवृहामसि।७।

अर्थ—जो क्षयी रोग तेरे अंग अंग में, रोम रोम में, गांठ गांठ में है। हम तेरे त्वचा के और सब अवयवों में व्यापक क्षयी रोग को ज्ञानदृष्टिवाले विद्वान् के विविध उद्यम से जड़ से उखाड़ते हैं।

उपरोक्त मंत्रों की विद्यमानता में जो सज्जन यह कहते हैं कि प्राचीन काल में क्षय रोग तो था पर भिन्न भिन्न अंगों के रोगों का पृथक पृथक ज्ञान व क्रिमी का ज्ञान नहीं था वह कितने भ्रम में हैं। वेद में प्रथक प्रथक अंग के क्षयी रोग का विस्तार पूर्वक वर्णन है, उन में से कुछ अंगों के क्षय का ज्ञान तो आधुनिक वैज्ञानिकों को हो गया है पर कुछ का अभी नहीं हुआ है यह उपरोक्त मंत्रों के पाठ से ज्ञात होता है। परतंत्रता के समय तो हम विदेशी अन्वेषणों पर ही निर्भर रहने के लिये विवश थे पर अब स्वदेशी सरकार यदि वेद के विद्वान तथा नवीन वैज्ञानिकों के संगठन से खोज करावें तो थोड़े ही दिन में हम पूर्वकाल की भांति विज्ञान की शिक्षा भी विदेशियों को देने के योग्य बन सकते हैं और यदि हमारा दृष्टिकोण यही रहेगा कि जो कुछ विदेशी विज्ञान है वही सर्वोपरि है हमारे वेद शास्त्र उससे आगे कुछ नहीं बता सकते तो सम्भव है हम आधुनिक विज्ञान के कुछ अंश को तो प्राप्त करलें पर रहेंगे शिष्य ही, गुरु कभी नहीं बन सकते। हमने उपरोक्त मंत्र क्रमबद्ध दिए हैं जिससे पाठकों को ज्ञात हो जावे कि वेद में रोग क्रमी तथा क्षय रोग का सम्बन्ध तथा भिन्न भिन्न अंगों के क्षय रोग का एक ही स्थान पर क्रमबद्ध वर्णन है। वेद के अर्थ करने में बड़ी विद्या की अवश्यकता होती है उपरोक्त अर्थ केवल संकेत मात्र है विचार करने से इनसे अनेक गूढ़ तत्व नि-

कह सकते हैं। कुछ मंत्रों का अर्थ कुछ अजीब सा लगता और साधारण बुद्धि से समझ में नहीं आता पर विचार क पर जब बात समझ में आती है तब यही कहना पड़ता है न समझने में हमारी ही समझ का दोष है। उदाहरणा उपरोक्त मंत्रों में से सूक्त ३२ का छठवां मंत्र जब प्रथमबार अ सहित हमने पढ़ा तो कोई बात समझ में न आई कि सींग थे विष की थैली से क्या मतलब है पर अधिक मनन करने ज्ञात हुआ कि इस मंत्र में मैलेरिया के मच्छड़ का वर्णन किसी डाक्टरी पुस्तक में आप मैलेरिया के मच्छड़ का चि देखें तो आपको दिखाई पड़ेगा कि उसके मुंह के आगे दो सींग निकले हुए हैं, जब वह काटता है तो पहले उन्हीं सींगों से ट मार कर सुराख करता है फिर मुंह के पास एक थैली में वि भरा रहता है उसे छोड़ देता है। यह बात डाक्टरी जांच भी आज सिद्ध हो चुकी है, जिसे वेद ने आदि सृष्टि में बता था। इसी प्रकार अनेकों वैज्ञानिक नवीन नवीन आविष्क वेद से किये जा सकते हैं। पर यह आविषकार वेद के को जानने वाले बुद्धिमान वैज्ञानिक ही कर सकते हैं न वो कर सकते हैं जो वेद को विज्ञान रहित पुस्तक समझकर उस कुछ श्रद्धा नहीं रखते। और न वे कर सकते हैं जो वेद केवल पूजा पाठ की वस्तु समझ उसकी आरती किया करते और उसका किसी के सामने विशेषकर शूद्रों के सामने पढ़ अथवा स्त्रियों को वेद पढ़ाना धर्म विरुद्ध समझते हैं। वेद उपेक्षा करके आधुनिक विज्ञान क्षय रोग के रोकने में कित असमर्थ रहा है यह अगले पाठ से विदित होगा।

———

पाठ ४

क्षय रोग का प्रसार

क्षय रोग आजकल संसार भर में फैला हुआ है। ऐसा न कोई देश है और न कोई ऐसी जाति है, जिसमें क्षय रोग न होता हो। संसार में जितनी मृत्यु होती हैं उनका सातवां आठवां भाग केवल क्षय रोग से होता है। हमारे देश में तो इसकी संख्या और भी बढ़ी हुई है, अर्थात् मृत्यु का पाचवां भाग केवल इस कठिन रोग का काम है और तरुण अवस्था में जितनी मृत्यु होती हैं उसकी तिहाई क्षय रोग से होती हैं। ५ जुलाई १९४०ई० को उस समय की वाइसराइन जी ने आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से भाषण देते हुए कहा था कि बम्बई के समाज क्षेत्रफल वाले नगर में आज लगभग २५००० से ३०००० व्यक्तियों में यह रोग उग्र रूप से विद्यमान है। क्षय-निवारक-समिति, लखनऊ के सन् २७ ई० के वार्षिक विवरण में डाक्टरों ने अनुमान किया था कि केवल लखनऊ नगर में ४०००० रोगी इस रोग के हैं अब वहां ६०००० का अनुमान किया जाता हैं। सिंध मेडीकल यूनीयन करांची की बीसवीं बैठक के प्रधान श्रीयुत डा० सी० एच० प्रिमिलानी ने अपने भाषण में कहा था कि इस समय लगभग एक करोड़ मनुष्य क्षय के रोगी हैं। फिर आर्य्य गज़ट लाहौर ने अपने १४-१२-४१ के अंक में बताया कि भारतवर्ष में लगभग ५ करोड़ मनुष्य इससे पीड़ित रहते हैं और लगभग ५० लाख मनुष्य हर वर्ष इस रोग से मरते हैं। इस पर भी एक और आपत्ति है कि इस रोग से सबसे अधिक मृत्यु युवा अवस्था में होती है। अर्थात् १५ वर्ष से ३० वर्ष तक की आयु के लोग सबसेअधिक मरते हैं। युवक तथा युवतियों की मृत्यु संख्या में एक और तीन का अनुपात पाया जाता है। जिससे लाखों बालक मातृस्नेह से सदा के लिये वञ्चित हो जाते हैं। १५ वर्ष

से ४० वर्ष तक की आयु में जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से एक तिहाई केवल क्षय-रोग से होती हैं। कुछ लोग विचार करते होवेंगे कि विज्ञान की बहुत उन्नति हो रही है और देश में क्षय-निवारक समितियां बन रही हैं। इसके रोकथाम के उपाय हो रहे हैं अतः धीरे धीरे रोग की कमी हो रही होवेगी और नवीन विज्ञान की सहायता से भविष्य में रोग और भी कम हो जावेगा। जैसा कि इंगलैण्ड और अमेरिका में बहुत कुछ कमी हो गई है। पर ऐसा विचार केवल भ्रम मात्र है ! विदेशों में जो थोड़ी बहुत कमी हुई है उसके सम्बन्ध में तो हम आगे विचार करेंगे। हमारे देश में तो यह रोग इन सब उपायों के होते हुए भी बराबर बढ़ ही रहा है जैसा कि कुछ प्रसिद्ध नगरों में इस रोग की मृत्यु संख्या से जो वहां के हेल्थ आफिसरों द्वारा रक्खी गई है विदित होता है :—

इलाहाबाद में क्षय-रोग से मृत्यु

वर्ष	पुरुष	स्त्री	जोड़
१९२०	८५	१६३	२४८
१९२१	१५८	३३१	४८९
१९२२	११५	२३८	३५३
१९२३	१२३	२४६	३६९
१९२४	१२५	३०३	४२८
१९२५	१०६	२१८	३२४
१९२६	३०८	३१०	६१८
१९२७	२६२	३९२	६५४

उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि सन् १९२० में मृत्यु संख्या यदि २४८ थी तो सन् १९२७ में ६५४ थी जो लगभग तीन गुनी है। सन् ४१ में जांच की जावे तो और भी वृद्धि मिलेगी

दिल्ली में		बम्बई में	
वर्ष	क्षय रोग से मृत्यु	वर्ष	क्षय रोग से मृत्यु
१९२०	२८१	१९२१	१६१४
१९२१	३५०	१९२२	१४७३
१९२२	३३६	१९२३	१३७१
१९२३	४३२	१९२४	१५६८
१९२४	४२८	१९२५	१४०४
१९२५	४००	१९२६	१७५५
१९२६	४२०	१९२७	१७४८
१९२७	४६६	१९२८	१७६४
१९२८	५६२		
१९२९	७४१		

उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट विदित होता है कि क्षय-रोग की बराबर वृद्धि हो रही है। इस सम्बन्ध में अन्य लोगों ने जो अपनी सम्मतियां प्रगट की हैं वह इस प्रकार हैं :—

१—रेवरेन्ड डा० डीस एम० डी० ने कमायूं के ग्रामों में अपने जीवन के ३४ वर्ष व्यतीत किये थे। उनका क़थन है कि उनके समय में कमायूं के देहात में क्षय-रोग नहीं होता था। वहां के बहुत से ईसाई लड़के पढ़ने के लिये बरेली भेजे जाते थे जिनमें से कितने ही को वहां क्षय-रोग हो जाता था। ये लड़के बीमार होकर अपने घर लौट आते थे। इस प्रकार बहुत से ग्रामों में जहां पहिले क्षय-रोग नहीं होता था अब खूब होने लगा है।

२—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रेवरेन्ड डाक्टर केनेडी छोटा नागपुर में आए थे। वहां पर क्षय-रोग की कमी देखकर उनको आश्चर्य होता था, क्योंकि वह स्वयं आयरलैंड से आये थे, जहां क्षय-रोग अधिकता से होता था। उनके

देखते २ हजारी बाग और पड़ोस के जिलों में क्षय-रोग उस समय से फैल गया, जब से वहां का जल वायु इस रोग के इलाज में लाभदायक समझा जाने लगा। उत्तम जलवायु के कारण कलकत्ता तथा बंगाल के अन्य स्थानों से क्षय-रोगी वहां आकर टिकने लगे और फलस्वरूप सब देहातों में क्षय-संक्रमण फैल गया। उनके देखते देखते छोटा नागपुर के आदि निवासियों में भी क्षय-रोग फैल गया। इसका कारण यह था कि वहां के आदमी कलकत्ता इत्यादि नगरों में काम करने के लिये जाते और बीमार होकर लौटते थे।

३—भारत सरकार ने कुछ समय पूर्व डा० आर्थर लैंकेस्टर को भारतवर्ष में क्षय-रोग की जांच करने के लिये नियुक्त किया था। उनको भी खोज करते समय इसी प्रकार की साक्षी प्राप्त हुई कि क्षय रोग देश में बराबर बढ़ रहा है। हैदराबाद (दक्षिण) और हैदराबाद (सिंध) जैसे कुछ शहरों के सम्बन्ध में उनको अपनी जांच में इस बात के बहुत अच्छे प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि लगभग ४० वर्ष पूर्व इन नगरों में क्षय रोग बहुत कम था परन्तु अब बहुत होता है। उन्होंने इस विषय में सिविल सर्जनों, महिला अस्पतालों की लेडी डाक्टरों तथा प्राइवेट प्रैक्टिशनरों से भी जांच की थी। इस जांच से यही परिणाम निकलता है कि क्षय-रोग बढ़ रहा है। बड़े बड़े नगरों के लगभग सभी प्रतिष्ठित हकीमों का भी यही मत है कि पिछले ५० वर्षों में क्षय रोग में बहुत वृद्धि हुई है। डा० लैंकेस्टर साहब की रिपोर्ट का उनके ही "शब्दों में सारांश यह है:—

इस विषय की ध्यान पूर्वक जांच करने से और उपलब्ध आंकड़ों की छानबीन तथा तुलना से जो धारणा उत्पन्न होती है उसका यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत

वर्ष के बहुत से विस्तृत प्रदेश, जो ४० वर्ष पहले क्षय-रोग से बिलकुल बचे हुए थे। "और आकृष्ट भूमि" समझे जाते थे; अब बहुधा इस रोग से ग्रसित और संक्रामित हो चुके हैं। यद्यपि यह रोग पहिले भी था और केवल बड़े बड़े शहरों में ही सीमा बद्ध रहा है, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि इन ही शहरों में पिछले ४० वर्ष में इस रोग का बड़ा भारी और वास्तविक विस्तार हो गया है। यहां तक कि ग्रामों और जिलों में तथा छोटे स्थानों में जहां यह विरला ही दिखाई पड़ता था, अथवा इसका अस्तित्व ही नहीं था, इन्हीं ४० वर्षों में इसके दर्शन ही नहीं हुए बल्कि जोरों से प्रसार भी हो चुका है। यह वृद्धि विशेषकर उन शहरों में दिखाई पड़ी है, जिनमें व्यापारिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति अधिक मात्रा में हुई है। साथ ही उन ग्रामों में भी यह रोग फैल गया है, जिन का हर बात का सीधा और बे रोक टोक सम्बन्ध उपरोक्त शहरों से रहा है।" इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि ऊपर जो आंकड़े दिये गये हैं वह सरकारी रजिस्ट्रों के आधार पर हैं और यह बात सब जानते हैं कि ग्रामों में चौकीदार मृत्यु की रिपोर्ट लिखाता है जो ६० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु का कारण ज्वर लिखा देता है। नगरों में भी मृत्यु का कारण ज्वर लिखाने का प्राय: रिवाज है। इन आंकड़ों की यदि जांच की जावेतो निश्चय है कि तपेदिक़ की मृत्यु संख्या कुछ अधिक ही निकलेगी। हमारी यह धारणा निराधार नहीं है किंतु बंगाल के दीनाजपुर जिले में एक हजार मृत्युओं की जांच की गई तो ज्ञात हुआ कि ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्यु में ६० मृत्यु क्षय रोग से निकलीं। इसी प्रकार की दूसरी जांच डा० ब्रह्मचारी ने कलकत्ता के निकट काशीपुर, चितपुर में लगातार ५ वर्ष तक की थी। प्रत्येक के मृत्यु वास्तविक

कारण की जांच का परिणाम यह निकला कि कुल २१८१ मृत्युओं में से ५२२ का कारण क्षय-रोग मिला। जिन मृत्युओं का कारण ज्वर लिखा था उनमें १०'८ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था और जिनका कारण श्वास रोग लिखा था उनमें से २३'६ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था। ढाका जिले के एक भाग में जांच करने से ज्ञात हुआ कि श्वास मार्ग के रोगों के कारण लिखी हुई ६१० मृत्युओं में से सवा तीन सौ के लगभग क्षय-रोग से हुई थीं। अन्य स्थानों पर भी इस प्रकार की जांच हुई जिन से यही परिणाम निकलता है कि जो कुछ संख्या अब तक हम को ज्ञात है उससे कहीं अधिक संख्या में इस रोग से मृत्यु होती हैं।

पाठ ५

रोग वृद्धि के कारण तथा रोकने के उपाय

हमारे देश में रोग वृद्धि के कारणों में निर्धनता ब्रह्मचर्य का अभाव, बाल विवाह, गऊ वध, स्त्रियों में पर्दा, शीघ्र तथा बहु प्रसव इत्यादि अवश्य हैं। पर वास्तव में सबसे बड़ा कारण विदेशी शासन की देन विदेशी सभ्यता है। प्रथम ग्रूप के कारण सर्व मान्य होने से उन सब की व्याख्या करना अवश्यक नहीं, दूसरे ग्रूप में विदेशी शासन का महारोग अब दूर हो चुका है अतः उस पर लिखना भी व्यर्थ है। हां विदेशी सभ्यता का भूत अब तक हम पर सवार है। अतः उसके संबन्ध में यहां कुछ लिखना अवश्यक है। विदेशी सरकार ने हमें शिक्षा द्वारा यह विष पिला दिया है जिससे हम यह समझते हैं कि जितनी नवीन बातें विदेशों में प्रचलित होती जाती हैं वह सब उन्नति और सभ्यता के चिह्न हैं और अपने देश की प्राचीन बातें सभ्य बनने के विचार से त्याज्य हैं। इस कारण हम अंग्रेजी भाषा,

अंग्रेजी पोशाक, अंग्रेजी रहन सहन, अंग्रेजी चिकित्सा, अंग्रेजी भोजन, अंग्रेजी मनोरंजन, अंग्रेजी रस्म रिवाज अपनाने में गौरव समझते हैं। पर यह सबही चीजें इस देशमें क्षय-रोग की वृद्धि करने में सहायक हैं। इन सबकी पृथक २ व्याख्या करने से एक बड़ी पुस्तक इसी विषय की बन जावेगी जिसके लिये इस पुस्तक में स्थान नहीं। अतः हम मोटे तौर पर कुछ बातों को संकेत मात्र बताते हैं। हमारे देश का रिवाज है कि गर्मी में लोग वृक्षों के साये में तथा जाड़ों में धूप में नंगे बदन बैठते हैं। पर अंग्रेजी सभ्यता के पुजारी किसी साहब के यहां आप जाड़ों में जावें तो देखेंगे कि बंगले में बाहर धूप फैल रही है जहां स्वाभाविक रूप से मनुष्य का चित्त बैठने को चाहता है पर साहब बंगले के अन्दर चिक डाले ठिठुर रहे हैं और गर्मी लाने को चाय के कप पर कप पी रहे हैं। रात्रि में क्लब में अथवा सिनेमा में जाना आवश्यक है जहां ऐसी उत्तेजना मिलती है कि विषय भोग की ओर प्रवृति स्वतः ही जाती है। भोजन में अंडा आदि उत्तेजक पदार्थ उस प्रवृत्ति को और बढ़ाते हैं। स्त्रियों के चमचमाते वस्त्र और भी आकर्षण उत्पन्न करते हैं। जिससे विषय वासना बहुत बढ़ गई है। एलोपैथिक चिकित्सा का ढंग भी इस रोग की वृद्धि में सहायक होता है। मलेरिया, मिआदी बुखार इत्यादि अनेक रोगों के ऐलोपैथिक इलाज से बिगड़े हुए सैकड़ों रोगी ऐसे देखने को हमें मिले हैं जिन का यदि वह इलाज न किया जाता तो कदाचित क्षय-रोग न होता।

१—बात बात में सुई लगवाना(Injection)यहस्वास्थ्य को कितनी हानि पहुँचाता है इसकी जांच यदि कोई निपक्ष कमीशन करे तो सरकार को विवश होकर ऐसी चिकित्सा को बंद करना पड़े। हमें अनेकों ऐसे रोगी देखने को मिले हैं जो इंजेक्शन लगवाने से निर्बल हुए और आगे चलकर उनको क्षय-रोग हो गया।

२—विलायती (वनस्पति) घी भी अंग्रेजी सभ्यता की देन है। इसके खाने से कितने लोग क्षय ग्रस्त होते हैं इसका अनुभव हरएक उस चिकित्सक को होगा जो क्षय-रोग की चिकित्सा करता है। साथ ही रोग के निदान में कारण की भी खोज करता है।

३—सिगरेट, बीड़ी, चाय यह भी अंग्रेजी सभ्यता की ही देन है और यह सब ही क्षय-रोग की वृद्धि में सहायक हैं। हमारी सरकार अभी बहुत झंझटों में फंसी है अनेकों सुधार करना हैं, कदाचित् उसका ध्यान इस ओर नहीं गया है, पर ज्यों ज्यों वह इन हानिकारक वस्तुओं की व्यसनों में न फंसे हुए स्वतन्त्र और पक्षपात रहित वैज्ञानिकों से अनुसन्धान करावेगी तो इन सबही को रोग उत्पादक और क्षय वर्धक पावेगी। बीड़ी तो दो प्रकार से क्षय की वृद्धि करती है। उसका अधिक उपयोग फेफड़े को खराब करता है और उसके बनाने में अधिक मजदूरी मिलने के कारण लाखों मजदूर खेतों की मजदूरी छोड़ बीड़ी बनाते हैं। जिससे मजदूर न मिलने के कारण लाखों एकड़ भूमि परती पड़ी रहती है और देश में अन्न की कमी और मंहगाई के कारण दुर्बल रहने से सैकड़ों मनुष्य क्षय ग्रस्त होते हैं और बीड़ी बनाने वालों में भी अनेकों को क्षय होते हमने देखा है।

४—अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षा और छोटे छोटे दर्जों में २०-२५ पुस्तकों का बोझ उठाने से भी अनेकों निर्बल बालक क्षय ग्रस्त होते पाये गये हैं।

कुछ लोग इस भ्रममें पड़े हैं कि जब इनही साधनों द्वारा इंग्लैण्ड और अमेरिका में क्षयी-रोग की कमी हो रही है, तो यह कैसे माना जावे कि उन्हीं उपायों से भारतवर्ष में लाभ न होगा, पर हमारी सम्मति में यह निरा भ्रम ही है क्योंकि यह बात तो

निर्विवाद है कि अंग्रेजी शासन काल में भारतवर्ष में अब तक क्षय रोकने के सब विदेशी साधन ही उपयोग में लाए गए हैं। फिर भी रोग बढ़ रहा है। यदि यह कहो कि अभी सब साधन पूर्ण रूप से काम में नहीं लाए गए, लोग अपढ़ हैं इस कारण लाभ नहीं हुआ तो हम कहेंगे कि जिस अनुताप से साधन उपयोग किये गए थे उस अनुताप से तो लाभ होना चाहिये था। कमी के स्थान में क्षय-रोग में वृद्धि तो इस बात का खुला प्रमाण है कि वे साधन उपयुक्त नहीं।

जिन देशों में क्षय रोग में कमी हो रही है वहां के विद्वान् भी इस बात में मतभेद रखते हैं और वह इस कमी का श्रेय इन साधनों को देने को उद्यत नहीं किन्तु :—

सब विद्वानों का एक मत होकर यह विश्वास है कि जिन कारणों से व्यापक मरण निष्पत्ति में कमी हुई है, उन्हीं, कारणों से क्षयी मरण निष्पत्ति में भी कमी हुई है। इन कारणों में सार्वजनिक स्वच्छता और स्वास्थ्य में उन्नति, आर्थिक दशा में उन्नति, कारखानों में परिश्रम सम्बन्धी नियमों में सुधार इत्यादि मुख्य हैं, वेतन में उन्नति और फलस्वरूप लोगों को अधिक पौष्टिक भोजन का उपलब्ध होना भी क्षय-रोग की कमी का एक कारण है। यह बात इससे भी स्पष्ट विदित होती है कि जिन जिन देशों में जितनी अधिक आर्थिक उन्नति हुई है, उन देशों में उतनी ही अधिक क्षय-रोग में कमी हुई है। इंग्लैंड और अमेरिका में सबसे अधिक कमी होने का कारण यह है कि ये दोनों देश संसार में सबसे अधिक श्री सम्पन्न हैं और भी ऐसे साक्षी हैं जिनसे क्षय रोकने के साधनों को श्रेय नहीं दिया जा सकता। इंगलैण्ड में क्षय-रोग के रोकने के उपायों के प्रत्युत होने के पहिले से ही क्षय-रोग में कमी होने लगी थी। नार्वे में क्षयरोग के रोकने का उतना ही प्रयत्न किया जा रहा है जितना उसके निकटवर्ती डेनमार्क देश में, परन्तु फिर भी वहां क्षय - रोग के

रोकने के इन उपायों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। उनका कहना है कि जितने भी उपाय किये जाते हैं, वे सब क्षय-संक्रमण रोकने के उपाय हैं। परन्तु फिर भी आज क्षय-संक्रमण उतना ही फैला हुआ और व्यापक है, जितना उन प्रयत्नों के पूर्व था।

अमेरिका इत्यादि देशों में भी युद्धकाल में रोग का बढ़ जाना जबकि भोजन में अपेक्षाकृत कमी हो गई थी हमारे इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से सिद्ध करता है कि वहां की मृत्युसंख्या की कमी के कारण वे साधन नहीं किंतु वहां की आर्थिक दशा है। तब हमें इस भुलावे में न आना चाहिये कि विदेशी साधनों से हम भारतवर्ष में क्षय-रोग कम कर लेंगे। यह तो ऐसा ही होगा जैसे कोई आदमी प्यास कम करने को वर्फ का पानी पीले जिससे प्यास और भी तीव्र होगी हम अपने देश में क्षय रोग के बढ़ते वेग को रोकना चाहते हैं तो इसके मुख्य कारण विदेशी सभ्यता को प्रथम हटाना होगा और जलवायु शुद्धि के प्राकृतिक साधन हवन यज्ञ इत्यादि को अपनाना होगा। साथही पर्दा, बाल विवाह इत्यादि सामाजिक नियमों में भी सुधार करना होगा। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि पर्दा क्षय-रोग का एक मुख्य कारण है। इसके लिये हमें स्त्री पुरुषों की मरण निष्पत्ति देखना होगी। कलकत्ते में सन् १९१३ में स्त्रियों की जनसंख्या पुरुषों कीअपेक्षा ३३प्रतिशतथी पर मृत्यु संख्या ४५ प्रतिशतथी। क्षय रोग की मरण निष्पत्ति पुरुषोंमें २·० प्रति सहस्र और स्त्रियों में ३·३ थी। मुसलमान स्त्रियों में ५·८ और हिन्दू स्त्रियों में ३·० थी क्योंकि हिन्दुओंमें मुसलमानों की अपेक्षा पर्दा कम होता है।

लाहौर में सन् १९१३ में क्षय-रोग से इस प्रकार मृत्यु हुई।

मुसलमान		हिन्दू		अन्य जातियां	
पुरुष	स्त्रियां	पुरुष	स्त्रियां	पुरुष	स्त्रियां
१५०	२९९	५९	८६	१५	२१

कुल पुरुष २१४ स्त्रियां ४०६

बम्बई प्रान्त के उत्तरी भागके तीन नगरों में सन् १९१५-१६ में क्षय रोग की मरण निष्पत्तियां इस प्रकार थीं।

वम्बई प्रान्त के कुछ नगरों में क्षय-रोग की मरण निष्पत्ति

	मुसलमान		हिन्दू	
क्षय-रोग से मृत्यु	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
अहमदाबाद	२·८४	४·४	४·३	४·६
सूरत	१·५३	३·२७	२·१२	२·९
वरौच	१·७	४·९	२·१३	२·३

इन तीनों शहरोंमें मुसलमानों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय रोग की मरण निष्पत्ति कहीं अधिक है, परन्तु हिन्दुओं में लगभग बराबर है इन नगरों में हिन्दुओं में पर्दा नहीं होता पर मुसलमानों में होता है।

इस बात का सर्वोत्तम दृष्टांत रेन्दर का है। रेन्दर सूरत से लगभग चार मील की दूरी पर एक छोटा कसबा है जिसमें अधिकतया मुसलमान व्यापारी रहते हैं। इन व्यापारियोंमें अधिकांश बहुत धनवान हैं। यहां का जल, वायु अच्छा है और इस कस्बे की स्वच्छता भी बुरी नहीं है। मुसलमान धनवान होने के कारण भोजन इत्यादि का अधिक सुभीता रखते हैं। फिर भी

अधिक मृत्यु का कारण पर्दा और उनका 'अप्राकृतिक भोजन है। स्त्रियों की अधिक मृत्यु संख्या का कारण केवल पर्दा है। वहां की मृत्यु संख्या क्षय-रोग से २५'३ प्रति सहस्र है । जिसका विवरण इस प्रकार है :—

ब्रह्मदेश में बौद्धों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में क्षय-रोग अधिक होता है क्योंकि इस समुदाय में पर्दा प्रथा नहीं है और स्त्रियां उसी प्रकार खुली वायु में रहती हैं जिस प्रकार पुरुष। 'पुरुषों' में क्षय-रोग प्रायः क्लार्क, विद्यार्थी इत्यादि श्रेणी में पाया जाता है जो मकानों में बैठकर काम करते हैं। पर मुसलमानों में वहां भी पर्दा है अतः उनमें विपरीत दशा है जैसा कि इस चित्र से प्रगट होता है।

रंगून की मरण निष्पत्ति—

बौद्ध		मुसलमान	
पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
२'०३	१'७६	१'४६	३'५७

पर्दा के संबन्ध में सब ही डाक्टरों का मत है कि यह स्त्रियों में क्षय-रोग की अधिकता का कारण है। कलकत्ते के भूत पूर्व हेल्थ आफीसर डा० एच० एम० क्रेक ने अपना अनुभव सन् १९१३ की वार्षिक रिपोर्ट में इस प्रकार प्रकाशित किया था कि मरण निष्पत्ति जहां पुरुषों में प्रतिसहस्र १४·३ है वहां स्त्रियों में ३८·४ है। शहर के किसी किसी भाग में ४८·२ तक है।

पर्दे से क्षय-रोग इस प्रकार फैलता है कि मनुष्य के स्वस्थ शरीर में रोग रोकने की जो स्वभाविक शक्ति है उसके होते हुए जब क्षय-कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं तब वह मार दिए जाते हैं। परन्तु जब वह शक्ति निर्बल हो जाती है तब कीटाणु रोग उत्पन्न करने में सफल हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि स्वच्छ वायु और व्यायाम से शरीर के पुट्ठे पुष्ट होते हैं। दूसरी ओर बन्द मकान में बैठे रहने से शरीर निर्बल हो जाता है। शरीर को रोग नाशक शक्ति बनाए रखने के लिये स्वच्छ वायु का मिलना आवश्यक है। रात में बन्द कमरों में रहने से जो हानि होती है, वह दिन में बाहर रहने से और स्वच्छ वायु के मिलने से बहुत कुछ दूर हो जाती है, परन्तु जब दिन रात बन्द मकान में रहना पड़ता है विशेष-कर नगर के घने मुहल्लों के छोटे मकानों में तो शरीर शिथिल होकर रोग का शिकार बन जाता है। ठीक यही दशा उस युवती की होती है जो अपना बाल्यकाल खुली हवा में बिताती है और विवाह के बाद एकदम पर्दे के अन्दर कर दी जाती है। इस प्रथा का जो मूल्य देश को देना पड़ता है उसका अनुमान उपरोक्त आंकड़ो से होता है।

इसी प्रकार बाल विवाह क्षय-रोग की वृद्धि का कारण है, क्योंकि लड़की के शरीर में एक हड्डी १६ वर्ष की आयु के पश्चात् ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त होती है उससे पूर्व यदि गर्भाधान क्रिया की जाती है तो लड़की का स्वास्थ्य जीवन भर के लिये बिगड़ जाता है और वह निर्बल हो जाती है। निर्बल अवस्था में जब क्षय-संक्रमण होता है तो सक्रिय रोग हो जाता है, इसी कारण मनुजी और स्वामी दयानन्दजी आदि ऋषियों ने १६ वर्ष से पूर्व लड़की के विवाह का निषेध किया है। इसी प्रकार मदिरा पान, चाय, तम्बाखू, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, अफीम इत्यादि खाने से बहुत विषय भोग करने से रात को

बहुत जागने और दिन को सोने से स्वास्थ्य बिगड़कर मनुष्य निर्बल होता है और संक्रमण होने पर वह रोगी हो जाता है। उपरोक्त कु-प्रथाओं को रोकने से और देश की निर्धनता को दूर करने से इस रोग की बढ़ती हुई लहर को रोका जा सकता है।

पाठ ६

क्षय रोग की उत्पत्ति के कारण

क्षय-रोग का इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि क्षय-रोग के विषय में पाश्चात् देशों का मत परिवर्तन शील रहा है। कभी क्षय प्रकृति या दूषित शरीर रचना को कारण माना और कभी संक्रमण को और जब एक बात को माना तो दूसरे सिद्धांत का खंडन किया गया या उपेक्षा की गई। काक साहब की कीटाणु खोज के पश्चात् कुछ समय तक कीटाणुवाद का युग रहा और शरीर रचना सम्बन्धी कारणों की उपेक्षा होने लगी पर इस सिद्धांत के अनुसार चिकित्सा करके उसका परिणाम देखने के पश्चात् इस विचार को बड़ी असफलता हुई। अतः अब समझदार डाक्टर इस प्रकार सोचने लगे हैं जैसा कि डा० शंकरलालजी गुप्त ने अपने विचार अपनी पुस्तक क्षय-रोग में प्रगट किये हैं:— जिसके कुछ शब्द हम क्षय रोग के इतिहास वाले पाठ में लिख चुके हैं यहां प्रकरण वश फिर लिखते हैं।

"क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान के पश्चात् लोग समझने लगे कि अब क्षय-रोग के अचूक इलाज और उससे बचने के उपायों में सफलता प्राप्त करना कोई कठिन बात नहीं है। यदि क्षय-कीटाणुओं को जहां मिलें, नष्ट कर दिया जाय और उनको फैलने न दिया जाय तो क्षय-रोग से निस्सन्देह बचत हो सकती है और यदि कोई ऐसी औषधि ज्ञात हो जाय जो क्षय-कीटाणुओं को शरीर में नष्ट करदे तो क्षय-रोग का शर्तिया इलाज हो सकता है। इस आदर्श को सामने रखते हुए गत पचास वर्षों में जो परिश्रम हुआ है उससे कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हुई है,

परन्तु वह बहुत थोड़ी है, पूर्ण सफलता प्राप्त न होने का एक कारण यह भी है कि कीटाणु विज्ञानवादी शरीर रचना संबंधी कारणों की अपेक्षा क्षयोत्पादन में कीटाणुओं को कहीं अधिक प्रधानता देते रहे हैं। वास्तव में क्षय-रोग की उत्पत्ति में क्षय-कीटाणुओं का स्थान केवल उतना ही है जितना कि किसी फसल के तैयार होने में बीज का होता है। यह तो सत्य है कि बिना बीज के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, परन्तु उस वस्तु के उत्पन्न होने के लिये जितना बीज का होना आवश्यक है, उतना ही उगने के अनुकूल भूमि का होना भी। यदि भूमि की दशा अनुकूल न हो तो बीज बोने पर भी वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार क्षय-रोग के उत्पन्न होने के लिये क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त मनुष्य शरीर का तदनुकूल दशा का होना भी आवश्यक है। क्षयोत्पत्ति के संबन्ध में पाश्चात् चिकित्सकों के दो मत हैं। एक मत भूमि प्रधान है और दूसरा बीज प्रधान। परन्तु वास्तविक बात जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, यह है कि क्षय-रोग के उत्पन्न होने में रोग का बीज अर्थात् क्षय-कीटाणु और रोग की भूमि अर्थात् मनुष्य शरीर, दोनों ही अपना अपना उचित स्थान रखते हैं। शरीर रचना और वातावरण सम्बन्धी कारण (Constitutional & Environ mental causes) क्षय रोग के कीटाणु-विज्ञान से संक्रमण सम्बन्धी प्रश्न तो बहुत कुछ हल हो गये हैं, परन्तु रोग सम्बन्धी सब प्रश्न अभी तक हल नहीं हुए हैं। डा० थ्यो वोल्ड स्मिथ का यह कथन सर्वथा सत्य है कि किसी रोग के कीटाणुओं का पता लगा लेना उस रोग की समस्या के हल करने में पहिली सीढ़ी उस रोग संबन्धी अनेक प्रश्नों में से केवल एक का उत्तर है। इसलिये कुछ वर्षों से क्षयोत्पत्ति सम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिये विचारशील लोगों का ध्यान कीटाणु-विज्ञान को छोड़कर रोगोत्पत्ति सम्बन्धी अन्य आभ्यन्तरिक और वाह्य बातों की ओर आकृष्ट हुआ है

वंशपरम्परा और वातावरण, रोग ग्रहण शीलता, प्रवण शीलता तथा रोग क्षमता सम्बन्धी प्रश्नों का नये ढंग से गवेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इस रहस्य पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है कि क्या कारण हैं कि जिन लोगों में क्षय-संक्रमण होता है उनमें से कुछ को तो रोग हो जाता है और अधिकांश निरोग बने रहते हैं। क्षयी परिवारों तथा क्षयी माता पिता की संतान में से किसी को रोग हो जाता है और किसी को नहीं और जिन को रोग हो जाता है उनमें से किसी को उग्र व्यापी, किसी को उग्र फुप्फुस, प्रदाह रूपी, किसी को फुप्फुस का पुरातन प्रदाहरूपी और किसी को निष्फल क्षय होता है। क्या कारण है कि रोग किसी के फेफड़ों में होता है तो किसी के उदर में, किसी की हड्डी या संधि में होता है तो किसी की लसिका ग्रन्थियों तथा अन्य स्थानों में। यह समझने की चेष्टा की जा रही है कि क्या कारण है जो संक्रमित मनुष्यों में से केवल कुछ में रोग के लक्षण प्रकट होते हैं और अधिकांश में जिनके शरीर में क्षय-कीटाणु निस्संदेह प्रविष्ट हो जाते हैं और उनसे शरीर में विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते और विकार स्वतः अच्छे हो जाते हैं।

कीटाणुवाद के पक्षपाती क्षयोत्पत्ति सम्बन्धी उपरोक्त प्रश्नों के अनेक उत्तर देते हैं परन्तु उनमें से कोई भी सन्तोष प्रद नहीं है। किसी किसी का मत है कि रोग के विभिन्न रूप भेदों का कारण कीटाणुओं का जातिभेद और उनके विषैलेपन का अन्तर होता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि बतलाया जा चुका है कि युवावस्था के लगभग सभी प्रकार के क्षय-मानव क्षय-कीटाणुओं से होते हैं। यह भी लोग मानने लगे हैं कि विभिन्न प्रकार के क्षय रोग के कीटाणुओं को अलग अलग करके उनके विषैलेपन के अन्तर के सम्बन्ध में जो जांच हुई है उनसे इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। गिनीपिग, बन्दर

और असभ्य जातियों के लोगों में संक्रमण के सम्पर्क में आने से जो रोग उत्पन्न होता है वह सदा उग्ररूप का होता है। इसके विपरीत सभ्य जातियों के मनुष्यों में स्वतः संक्रमण होकर जो रोग होता है वह बहुधा पुरातन रूप का होता है।

चूंकि कीटाणु-विज्ञान क्षय-रोग के उत्पत्ति सम्बन्धी सब प्रश्नों के हल करने में असमर्थ हैं। इसलिये अब कुछ दिनों से कीटाणुओं को छोड़कर रोगोत्पत्ति सम्बन्धी अन्य कारणों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। ऐसे अनेक कारण ज्ञात हुए हैं जिनका क्षय-रोग के विकास (Evolution of Disease) पर बड़ा प्रभाव होता है। इन सब कारणों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (१) आन्तरिक या रचनात्मक कारण अर्थात् वे कारण जिन का शरीर की रचना से सम्बन्ध होता है। (२) बाह्य वातावरण के कारण–अर्थात् वे कारण जो बाहर से शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं। आन्तरिक या रचना संबंधी कारण (Constitutional causes) दो प्रकार के हैं। (१) पैतृक (Hereditary) जिनको मनुष्य अपने पूर्वजों से प्राप्त करता है। (२) उपार्जित जिनमें से कुछ तो शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं और कुछ जन्म के पश्चात् उपार्जित होते हैं।

चय-रोग के कारणों का बोधक वृत्त

क्षय-रोग के कारण

- क्षय रोग का बीज (कीटाणु)
- क्षय रोग की भूमि (अप्राकृतिक साधनों से बिगाड़ा हुआ शरीर)
  - आन्तरिक या रचनात्मक संबंधी कारण
    - पैतृक अर्थात् पूर्वजों से प्राप्त
      - क्षयी प्रकृति
      - क्षय संक्रमण
    - उपार्जित
      - जन्मजात रचनात्मक विकार Congenital contitutional defects.
      - जन्मोत्तर उपार्जित (रचनात्मक विकार)
  - वाह्य या वातावरण संबंधी कारण
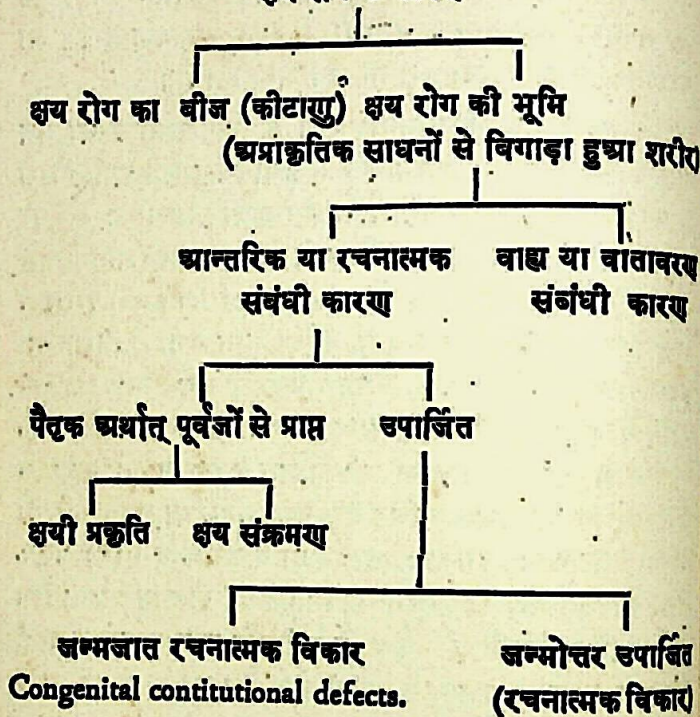
संवर्तन क्रिया के दोष—(Errors of inetabolism.)

कुछ लोगों का कहना है कि जिन मनुष्यों के शरीर की भौतिक तथा रासायनिक क्रियाओं का क्रम ठीक रहता है, उनमें क्षय-रोग कम होता है, परन्तु जिन लोगों की संवर्तन क्रिया अर्थात् भौतिक तथा रासायनिक आय-व्यय में कोई दोष होता है उन को क्षय-रोग अधिक होता हैं। इस विषय में अभी तक बहुत कम खोज हुई है। इसलिये निश्चय रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि संवर्तन क्रिया के किन किन दोषों का क्षय-रोग के

प्रादुर्भाव से सम्बन्ध होता है। कुछ लोगों का कहना है कि क्षय रोगियों के मूत्र में रोग होने से पूर्व खटिक (Calcium) अधिक पाया जाता है या दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि इन लोगों के शरीर में खटिक की मात्रा व्यर्थ व्यय होने से कम हो जाती है। कुछ लोगों ने क्षय-रोगियों के रक्त में भी खटिक की मात्रा का अनुमान लगाया है। उनके मतानुसार स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा क्षय-रोगियों के रक्त में खटिक की मात्रा कम होती है। फ्रांस देश के रोविन विने इत्यादि अनेक विशेषज्ञों ने इस बात का पता लगाया है कि क्षय-रोग होने से पूर्व की अवस्था में रोगी के मूत्र में खनिज पदार्थ अधिक निकलते हैं और फल-स्वरूप रक्त, अस्थि और फेफड़ों में इन पदार्थों की कमी हो जाती है। गोवे ने यह पता लगाया है कि क्षय-रोगियों की सन्तान में स्वस्थ मनुष्यों की सन्तान की अपेक्षा खटिक और मन्न धातु (Maganese) का व्यय अधिक होता है। रोविन का मत है कि खटिक तथा अन्य खनिज पदार्थों की कमी सम्बन्धी संवर्तन क्रिया के दोषों का क्षय-रोग की उत्पत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। क्षय-रोग के उत्पन्न होने के लिये [केवल क्षय संक्रमण ही पर्याप्त नहीं होता जब संवर्तन क्रिया के विकारों से शरीर रूपी भूमि निर्बल हो जाती है] तभी क्षय-रोग उत्पन्न होता है। रोग की तीव्रता खनिज पदार्थों की कमी के अनुसार होती है। डाक्टर रोवन का यह भी मत है कि यदि रोग उत्पन्न होने से पहिले उस कमी का पता लगा लिया जाय और उसी समय उसको पूरा कर दिया जाय तो क्षय-रोग से बचत हो सकती है।

प्रणाली विहीन ग्रन्थियों (Ductless glands) के दोष—

प्रणाली विहीन ग्रन्थियों के विकारों के सम्बन्ध में हाल में जो अनुशीलन हुआ है, उससे यह ज्ञात हुआ है कि इन ग्रन्थियों के विकार क्षय-रोगियों में बहुधा पाये जाते हैं, परन्तु अभी तक

क्षय-रोग का उनसे कोई कारण रूपी सम्बन्ध निश्चित नहीं हुआ है। क्षय-रोग के विस्तृत प्रसार का विचार करते हुए कुछ रोगियों में प्रणाली विहीन ग्रन्थियों के विकारों का पाया जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। परन्तु फिर भी ऐसा विदित होता है कि कुछ ग्रन्थि विकारों का क्षय रोग के विकार पर हितकर और कुछ का अहितकर प्रभाव पड़ता है। यद्यपि प्रणाली विहीन ग्रंथियों और क्षय-रोग सम्बन्धी प्रश्न की अधिक खोज नहीं हुई है तथापि इस सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात हुई है जिनसे इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

चुल्लिका ग्रन्थि— Thyroid gland

यह देखा गया है कि जिन लोगों में चुल्लिका ग्रन्थि का रस अधिक बनता है। उन लोगो में क्षय रोग कम होता है और जब होता भी है तो हलका होता है। डा० मोरिन ने इस बात का पता लगाया था कि चुल्लिका ग्रन्थि से पीड़ित परिवारों में जिन लोगों की चुल्लिका ग्रन्थि बढ़ी हुई थी उनमें क्षय रोग नहीं होता था। और दूसरी ओर ३४८ रोगियों में जिनमें चुल्लिका ग्रंथि क्षीण (Atrophied) हो गई थी उनमें से २५ प्रतिशत को क्षय रोग था डा० सैजो के मतानुसार क्षय रोग से पीड़ित होने वाले लोगों में चुल्लिका ग्रन्थि का अपचय (Atrophy) साधारण पाया जाता है।

उपवृक्क ग्रन्थियाँ— (Suprasenal Glands)

इन ग्रंन्थियों का क्षय-रोग से और भी घनिष्ट सम्बन्ध होता है। क्षय-रोग में रक्त चाप (Blood pressure) की कमी मांस पेशियों की क्षीणता तथा दुर्बलता और त्वचा श्यामता इत्यादि लक्षणों से उपवृक्कों का विकार सूचित होता है। डा० सैजो का भी यही मत है कि उपवृक्कों का विकार होने पर क्षय रोग अधिक होता है।

जनन ग्रन्थियां—

जनन ग्रन्थियों का भी क्षय-रोग से घनिष्ट सम्बन्ध होता है यह देखा गया है कि विषय की कमी का क्षय रोग पर बड़ा हितकर प्रभाव पड़ता है। हिजड़ों में क्षय-रोग बहुत कम पाया जाता है। बधिया किए हुए गिनीपिग आदि पशुओं में क्षय-रोग बहुत कम होता है। स्त्रियों में मासिक धर्म बन्द हो जाने के बाद क्षय-रोग बहुत कम होता है और यदि होता भी है तो बहुत हलका और शीघ्र अच्छा हो जाता है इसके विपरीत युवा अवस्थां में जब विषयेच्छा अधिक होती है तो क्षय-रोग अधिक होता है और बड़े तीव्र रूप का होता है। इन बातों से क्षय-रोग के होने में ब्रह्मचर्य का अभाव स्पष्टता प्रकट होता है। लेखक की चिकित्सा में २ वर्ष से रोगपीड़ित एक युवा स्त्री तीन चार मास की चिकित्सा से लगभग आरोग्य हो चुकी थी कि अचानक रोग फिर से तीव्र हो उठा। कारण की खोज करने पर बड़ी कठिनता से उसके पति ने अपना दोष स्वीकार किया। पति को फिर से समझाया गया और चिकित्सा फिर से आरम्भ की गई ७-८ मास की चिकित्सा से फिर रोग लक्षण कम हो गये। थोड़ी निर्बलता शेष थी कि फिर उसी भूल को दुहराया गया और रोग फिर तीव्र हो उठा। वास्तव बात ज्ञात होने पर लेखक ने चिकित्सा करने से इनकार कर दिया बाद को ज्ञात हुआ कि वह आरोग्य न हो सकी।)

शरीर रचना में न्यूनता—Constitutional Inferiarity

कुछ लोगों का विचार है कि क्षय ग्रहण शीलता शरीर के किसी अवयव विशेष में नहीं होती, बल्कि व्यापक होती है। सब मनुष्यों के शरीर की गठन एकसी नहीं होती। किसी का शरीर हृष्ट पुष्ट और गठन दृढ़ होता है और किसी का शरीर निर्बल होता है और गठन भी दृढ़ नहीं होती। प्राचीनकाल से

यह देखा गया है कि निर्बल शरीर रचना वाले प्राणियों को क्षय-रोग अधिक होता है। निर्बल गात वाले मनुष्यों में निम्न-लिखित साधारण लक्षण होते हैं ग्रीवा लम्बी, छाती लम्बी चपटी और संकीर्ण अंसफलक पुट्ठे पंखों की तरह उभरे हुए कंधे सामने की ओर झुके हुए। हंसली और दूसरी पसली उभरी हुई मांस पेशी निर्बल तथा पेट बड़ा होता है। जिनका चेहरा कान्ति, हीन और पीला होता है और जिनकी त्वचा पर रूखापन होता है ऐसे मनुष्यों को भी क्षय-रोग अधिक होता है।

अन्य पूर्ववर्ती रोगों का प्रभाव—

यह सब लोग जानते हैं कि जो भूमि ऊसर होती है, उस में बीज बोने से कोई पैदावार नहीं होती परन्तु कड़ी भूमि को यदि जोतकर निर्बलकर लिया जाय तो वह उपजाऊ हो जाती है। इसी प्रकार जब मनुष्य का शरीर हृष्ट पुष्ट होता है, तो उसमें कीटाणु-प्रवेश होने पर भी क्षय-रोग नहीं होता परन्तु जब उस मनुष्य को कोई रोग हो जाता है। तो उसका शरीर निर्बल हो जाता है और उस समय उसको क्षय हो जाता है। शरीर को क्षय ग्रहण करने के योग्य बनाने में सब रोगों का एकसा प्रभाव नहीं होता, किन्तु निम्नलिखित रोगों का क्षयो-त्पत्ति से विशेष सम्बन्ध है:—

श्वांस मार्ग के रोग, पार्श्व कला का प्रदाह, पुरानी खांसी, उग्र संक्रामक रोग, कुकर खांसी, खसरा इत्यादि इन-फ्लूएंजा, मोतीझरा, मियादी बुखार, पुरातन रोग, मधुमेह, (Diabetes) और वृक्क का पुरातन प्रदाह (Chronic nephritis) रिकेटस (सुखा सरीखा) और सर्दी लग जाना। रोगियों के अनुभव से यह विदित होता है कि सर्दी लग जाने के बाद प्रायः क्षय-रोग प्रारम्भ हो जाता है। यह स्वयं प्रकट

है कि केवल सर्दी से क्षय-रोग नहीं हो सकता। परन्तु जब इसका ध्यान आता है कि लगभग हर एक मनुष्य के शरीर में क्षय-कीटाणु विद्यमान होते हैं तो यह समझ में आ जाता है कि सम्भव है, सर्दी लगने से कीटाणु के अनकूल अवस्था हो जाती हो, जिससे वह पुर्नजाग्रत हो जाते हैं। अधिकांश क्षय-रोगी जिनमें रोग पाशर्ण कला के प्रदाह के रूप में आरम्भ होता है, यह स्पष्ट कहते हैं कि सर्दी लगने से पूर्ण वे बिलकुल अच्छे थे इसलिए सर्दी लगने से क्षय-रोग का आरंभ होना तो निश्चित है। परन्तु अभी तक यह ठीक ज्ञात नहीं हुआ है कि सर्दी लगने से शरीर में क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं जिनके कारण क्षय-रोग हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जब सर्दी लगने से क्षय का आरम्भ होता है तो प्रतिश्याय (जुकाम) के लक्षण उत्पन्न नहीं होते, केवल उपक्रान्त रूप से खांसी, हरारत इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। ऐसा क्यों होता है कारण शरीर के विकार न निकलकर दब गये। जो क्षय उत्पत्ति के कारण बने इसी प्रकार विकारो को दबाने वाली औषधियां क्षय उत्पन्न करती हैं।

वातारण सम्बन्धी कारण—

अनेक लोगों के शरीर की रचना में कोई विकार या अन्य कोई रोग न होने पर भी केवल अहितकर वातावरण में रहने से क्षय-रोग हो जाता है। वस्तुतः रचनात्मक विकार और अन्य रोगों की अपेक्षा क्षयोत्पत्ति पर वातावरण का कहीं अधिक प्रभाव होता है यदि क्षय-रोग को प्रधानतः वातावरण का रोग कहा जाय तो अनुचित न होगा। वातावरण सम्बन्धी निम्नलिखित बातों का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर विशेष प्रभाव होता है।

पौष्टिक-भोजन की कमी—

शरीर को हृष्ट पुष्ट और निरोग रखने के लिये उत्तम और पौष्टिक भोजन अत्यावश्यक है। जब किसी कारण

वश मनुष्य को पौष्टिक भोजन नहीं मिलता तो उस का शरीर निर्बल होकर क्षय-रोग का ही नहीं किन्तु अन्य रोगों का भी शिकार हो जाता है। क्षय-रोग का भोजन की कमी से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ लोग तो क्षय रोग को वस्तुतः भोजन की कमी का रोग (dificiency disease) मानते हैं। भोजन में खाद्योज (vitamins) नाम के जो अज्ञात पदार्थ होते हैं उन की कमी का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर विशेष प्रभाव होता है। डा० मोलर मेडिकल कमिश्नर टियूबरक्यूलोसिस एसोसीएशन ने अपनी एक स्पीच में क्षय-रोग का मुख्य कारण पौष्टिक भोजन की कमी माना है। भोजन की कमी के साथ साथ अप्राकृतिक भोजन के कारण भी क्षय-रोग होता है। अंडा और मांस जिसे लोग बड़ी ताक़त की चीज़ समझते हैं, खाने से कुछ ताक़त अवश्य आती है और इसी को देखकर इन चीज़ों का प्रचार बढ़ता जाता है। पर सब दूरदर्शी डाक्टर जानते हैं कि मांस में बहुत से रोग पैदा करने वाले तत्व हैं। जिस समय पशु को मारा जाता है तो भय के कारण उसके रक्त में विष उत्पन्न हो जाता है जो सारे शरीर में फैल जाता है जो खाने वाले के पेट में पहुँचता है। इसके अतिरिक्त मास मुर्दे की मांस पेशियों के भीतर के सभी जहरीले पदार्थों को भी शरीर में छोड़ देता है। जिससे अनेक रोग होते हैं जिनसे निर्बल होने से मांसाहारी शीघ्र ही क्षय का शिकार हो जाता है और चूंकि मांसाहारी के शरीर में बहुत से विकार एकत्रित रहते हैं अतः जब उसे क्षय रोग हो जाता है तो उसके शरीर की शुद्धि उस निर्बल अवस्था में करना बड़ा कठिन हो जाता है। कुछ पशुओं को भी क्षय रोग होता है जैसा कि अन्यत्र बताया है उस पशु का मांस खाने से तो शीघ्र ही क्षय हो जाता है। इसी प्रकार मदिरापान से भी शरीर निर्बल होकर क्षय-रोग के लिए भूमि बन जाता है फिर जहां बीज रूपी क्षय कीटाणु से सम्पर्क हुआ और शराबी क्षयी-अस्त

हुआ। अंडे के ऊपर जो छिलका होता है उसमें रोग कीटाणु बड़ी सुगमता से प्रवेश कर सकते हैं और अंडा का व्यवसाय करने वालों के घर प्रायः बड़े गंदे रहते हैं। जहां रोगों के कीटाणु रहते ही हैं। अतः अंडा खाने से भी क्षय होने का भय रहता है। वास्तव में दूध और उससे बने पदार्थ ही ऐसा भोजन है जिसकी कमी के कारण क्षय रोग होता है। अतः क्षयसे बचने के लिये हर मनुष्य को दूध का तथा उसके बने पदार्थों का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए और दूध देने वाले पशुओं की वृद्धि के उपाय करना चाहिए। फल तथा साग न मिलने से भी विटा-मिन कम रहते हैं।

चिन्ता—

क्षय रोग की उत्पत्ति पर चिंता का भी बड़ा प्रभाव होता है। शोकातुर और चिन्ताकुल व्यक्तियों में क्षय–रोग बहुत होता है। चिता और चिंता दोनों बहनें हैं इनमें चिंता बड़ी है क्योंकि चिता मुर्दे को जलाती है, परन्तु चिंता जीवित प्राणी को भस्म कर देती है।

अतिपरिश्रम तथा अन्य सब प्रकार की अति—

आधुनिक सभ्यावस्थाओं में मनुष्य का जीवन बड़ा अवि-श्रांत हो गया है। पाश्चात् सभ्यता के स्वार्थ पूर्ण सिद्धान्तों ने साधारण खानपान को प्राप्त करना भी कठिन बना दिया है जिससे मनुष्य को अधिक समय तक और रात को बहुत देर तक शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम करना पड़ता है जिससे उसकी प्राण शक्ति कम हो जाती है। अनेक रोगियों में रोग का आदिकारण अधिक परिश्रम पाया जाता है। पहिले योरोपीय महाभारत के समय बहुत लोगों को अतिपरिश्रम के कारण क्षय हो गया था। सभ्यता से दारिद्रय और बाहुल्य दोनों उत्पन्न होते हैं और दोनों ही प्राणशक्ति के ह्रास के कारण होते हैं। एक ओर दरिद्रता से भोजन के अभाव के कारण शरीर पुष्ट

नहीं रहता तो दूसरी ओर धन की अधिकता के कारण भोजन की अति से पाचनशक्ति बिगड़ कर भोजन पेट में सड़ने लगता है और उससे विषैले पदार्थ उत्पन्न होकर शरीर में व्याप्त होने लगते हैं। अन्त में दोनों प्रकार के लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है। मदिरा उपरोक्त, विषैले पदार्थों का कार्य और भी प्रबल बनाकर सोने में सुहागे का काम करती है। यही कारण है कि सभी प्रकार की अति, भोजन, मदिरा, विषय तथा चित्त-विकार से क्षय-रोग उत्पन्न होता है।

अस्वस्थता; अस्वच्छ दशायें तथा जन संकीर्णता—

डाक्टर फार का मत है कि क्षय-रोग का जनसंकीर्णता से गहरा संबंध है। एडनबर्ग नगर में जब कुछ पुराने अस्वच्छ स्थानों में स्वच्छ नये मकान बनाए गये; जिन में वायु और सूर्य प्रकाश के आने का समुचित प्रबन्ध था तो वहां की व्यापक मरण-निष्पत्ति प्रति सहस्र ४५ से १५ रह गई और क्षय-रोग की मरण निष्पत्ति ३·४ से केवल ०·४ रह गई। इसी प्रकार लिवरपूल में, जहां की मरण निष्पत्ति प्रति सहस्र ४ थी नये स्वच्छ स्थानों में लगभग उसी प्रकार की आवादी में १·६ रह गई। क्षय रोग का जन संकीर्णता से सम्बन्ध प्रत्येक नगर में देखा जा सकता है। लंडन शहर में भी यह देखा गया है कि क्षय रोग की मरण निष्पत्ति का जन संकीर्णता से प्रत्यक्ष सम्बंध है। बस्ती जितनी सघन होती है क्षय-रोग की मरण निष्पत्ति उतनी ही अधिक होती है। विचार करने पर पता लगेगा कि इस देश में भी अस्वच्छता और जन संकीर्णता का सामाजिक अवस्थाओं से सम्बंध है। निर्धन लोग धनाभाव के कारण अस्वच्छ और अंधेरी कोठरियों में बहुत से एक साथ रहते हैं। यह भली-भांति सिद्ध हो चुका है कि जन संकीर्णता और अस्वच्छता के दुष्परिणाम का कारण दरिद्रता होती है। लंडन के श्रमजीवियों

में यह अनुभव किया गया है कि जब तक वे कमाते रहते हैं और उनको अच्छा वेतन मिलता रहता है तब तक अस्वच्छ दशाओं में रहने पर भी क्षय-रोग कम होता है। अमेरिका के संयुक्त-राज्य में श्रमजीवियों की जांच करने पर डा० वारिन को भी यही अनुभव हुआ है। अस्तु, अस्वच्छता और जनसंकीर्णता उसी सीमा तक क्षय रोग के कारणरूप होती हैं जहां तक वे दरिद्रता की सूचक होती हैं।

दरिद्रता, बेकारी और वेतन की कमी—

क्षय-रोग के शिकार प्रधानतः वे ही लोग होते हैं जो निर्धन और असहाय होते हैं। जिनको पौष्टिक भोजन नहीं मिलता और जो गंदे तथा अंधेरे मकानों में रहते हैं। डा. वारिन ने पता लगाया है कि वेतन की कमी और क्षय-रोग साथ साथ चलते हैं। यह बतलाया जा चुका है कि क्षय-रोग की मरण निष्पत्ति लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक दशा के अनुसार न्यूनाधिक होती है। ऊंची श्रेणी और धनिक लोगों में कम तथा निर्धनों में अधिक होती है। हरएक शहर में यही बात मिलती है कि धनवान लोगों में कम और दरिद्रों में क्षय-रोग से अत्याधिक मृत्यु होती हैं। वेतन अच्छा और आय अधिक होने पर लोगों को अच्छा पौष्टिक भोजन मिलता है। वे अच्छे मकानों और वातावरणों में रहते हैं, सुखी रहते हैं और उनको कम चिंता होती है आमदनी कम होने से खाने को न पौष्टिक भोजन मिलता है न रहने को स्वच्छ मकान, निरन्तर चिंता घेरे रहती है। फल यह होता है कि ऐसे लोग शीघ्र क्षय-रोग का शिकार बन जाते हैं।

धूल—

चूंकि यक्ष्मा ऐसा रोग माना गया है जो प्रधानतः श्वांस के साथ कीटाणुओं के प्रविष्ट होने से होता है। इसलिये लेखक शताब्दियों से धूल को क्षय-रोग का एक कारण मानते

आये हैं। क्षय-रोग अथवा व्यवसाय जनित रोगों पर जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उन सब में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया है कि खानिज पदार्थों, धातुओं, वनस्पतियों अथवा पशुओं की धूल से धूसरित व्यवसायों में काम करने वालों में अन्य लोगों की अपेक्षा क्षय-रोग अधिक होता है। डा० हाफमैन के हाल केएक निबन्धसे उद्धृत कुछ आंकड़ोंसे इस बात का उत्कृष्ट उदारहण मिलता है कि धूल धूसरित उद्योगों के करने वालों में अधिक क्षय-रोग होनेका भय होता है। सन् १९०८ या १९०९ ई० में अमेरिका के संयुक्तराज्य के रेजिस्ट्रेशन विभाग में सब प्रकार के व्यवहारित व्यक्तियों के क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति कुल मृत्यु संख्या के अनुपात में १४·९ प्रतिशत थी और किसानों, बाग वालों तथा खेती में काम करने वाले मजदूरों में केवल ८·७ प्रतिशत थी परंतु धातु-धूलमय उद्योगों के करने वालों में २१ प्रतिशत, खुदाई में काम करने वालों में ३१·१ प्रतिशत, मुद्रकों तथा छापाखाने वालों में २९·५ प्रतिशत, औजार तथा चाकू छुरी बनाने वालों में २४·१ प्रतिशत, रत्नकारों में १७·८ प्रतिशत और लोहारों में १४·९ प्रतिशत थी। खनिज धूल वाले कारखानों में काम करने वालों में तो और भी अधिक क्षय-रोग होता है, ऐसे उद्योगों के करनेवालों में ३४·६ प्रतिशत, मनिहारों में ३०·७ प्रतिशत, ईंट और खपड़ेवालों में १२ प्रतिशत और कोयले की खानों में काम करनेवालों में केवल ९ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग के कारण मिली थीं। अन्य देशों में भी इसी प्रकार की साक्षी मिली है। उपरोक्त आंकडों से विदित होता है कि कुम्हारों में सब से अधिक और कोयले की खान में काम करने वालों में सब से कम क्षय-रोग होता है। यद्यपि इस में कोई सन्देह नहीं कि कोयले की धूल की प्रर्याप्ति मात्रा श्वास के साथ उनके फेफड़ों तक पहुंचती है और वहां जमा हो जाती है। उस से उनको एक और रोग फुप्फुसागार (Anthrocosis) होता है।

सन् १८६३ ई० में डा० क्यूबन ने लोगों का ध्यान इस ओर दिलाया था और कहा था कि फ्रांस में कोयले की धूल से न राजयक्ष्मा होता है और न उससे राजयक्ष्मा के विकास में कोई सहायता मिलती है। इङ्गलैंड में भी जैसा कि डा० आलिवर ने दिखाया है, यही दशा पाई जाती है। डा० ब्राउनली का कहना है कि राजथक्ष्मा कोयले की खान में काम करने वालों में अपेक्षाकृत कम होता है। अमेरिकाके संयुक्त राज्यमें भी यही बात पाई जाती है। इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यह है कि यक्ष्मा कृमि के विरुद्ध कोयले में कोई गैस है। क्योंकि अन्यत्र परीक्षणों से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि जो स्त्रियां लकड़ी जलाकर भोजन बनातीं हैं और लकड़ी का धुंआ अपनी श्वांस में लेती हैं उन को उन स्त्रियों की अपेक्षा कम क्षय रोग होता है जो भोजन नहीं बनातीं अथवा स्टोव पर बनातीं हैं। जो लोग नित्य प्रति हवन यज्ञ करते हैं और हवन का धुंआ श्वांस के द्वारा ग्रहण करते हैं उनको भी क्षय रोग कम होता है। इससे अनुमान होता है कि ऐसे धुंआ व कोयले के भीतर क्षय रोग नाशक कोई गैस है। जिसका अनुसंधान अभी नहीं हुआ है।

आयुर्वेद में क्षय-रोग के कारण—

आयुर्वेद में यक्ष्मा होने के केवल चार कारण बताकर सागर को गागर में भर दिया है। वह कारण इस प्रकार हैं:—

१—साहस=अर्थात् शक्ति से अधिक कार्य करना जैसे अपने से बहुत अधिक बलवान से कुश्ती लड़ना, बहुत अधिक बोलना, व्याख्यान देना, बहुत भारी बोझ उठाना, बहुत पढ़ना, बहुत देर तक काम करना, बहुत चिंता करना, बहुत समय तक गंदे स्थान में रहना, बहुत उपवास करना, बहुत खाना, बहुत आराम करना, अथवा बहुत परिश्रम करना इत्यादि। ऐसा

करने से फेफड़ों के अथवा किसी अन्य अंग के भीतर किसी

शिराधमनी अथवा कोष (Cell) के फट जाने से क्षत हो जाता है। जहां वायु बढ़कर रक्त और कफ को सुखाना आरम्भ कर देता है। इस वायु के सारे शरीर में बढ़ जाने से जमहाई आना, अंगों का टूटना और ज्वर प्रगट होता है। वही वायु आमाशय में पहुंचकर मंदाग्नि उत्पन्न करता है, गले में आने से गला बैठ जाता है। फेफड़ों के भीतर प्राण वायु की अधिकता से खांसी उत्पन्न करता है। जब रोगी बलपूर्वक खांसता है तो क्षत के भीतर से रक्त मिश्रित राध निकलता है। इस प्रकार रक्त के निकलने तथा वायु के कोप से रोगी दिन प्रति दिन सूखकर मर जाता है।

२—वेग धारण=अर्थात् शौच इत्यादि वेग उत्पन्न होने पर बहुत समय तक उसे रोके रखना (इस कारण की ओर डाक्टरों का ध्यान अभी नहीं गया है) इससे भी वायु कुपित होकर शरीर की सब क्रिया को बिगाड़ देता है और अंत को मार तक डालता है।

३—धातु क्षय=अर्थात् बहुत वीर्य का निकालना, बहुत विषय-भोग करना, बहुत रक्त का निकल जाना, बहुत चिंता व शोक करनेसे मानसिक दुर्बलता का आ जाना, बहुत जागना, शरीर की शक्ति जितनी काम करने से व्यय हुई है उसके अनुसार पुष्ट भोजन का न मिलना। इन बातों से शरीर में खुश्की होती और वायु बढ़ जाती है। यही खुश्की रक्त और मेद (चरबी) को सुखाकर निर्बल करती जाती है। शरीर के कफ और पित्त को निकालती, दोनों पसवाड़ों, कंधों और गले में दर्द उत्पन्न करती है, तथा ज्वर खांसी और जुकाम उत्पन्न करती है और अंत को शरीर का नाश कर देती है।

४—विषम भोजन=अर्थात समय कुसमय खाना, खराब अवस्था

कर भोजन करना। ऐसी वस्तुएँ एक साथ खाना जो विषम प्रभाव करती हैं और जिनका एक साथ खाना आयुर्वेद में मना है, जैसे खरबूजा और दूध, दूध और खटाई, हरी पत्ती का साग व दूध, मूली व दही, मछली व दूध, सहजने की फली (मुन्गा) व दही इत्यादि।

इन भोजनों के एक साथ खाने से बात, पित्त और कफ बिगड़ जाते हैं। बात के बिगड़ने से दर्द, पांव की जलन, कफ के बिगड़ने से सर का भारीपन, जुकाम खांसी और मंदाग्नि इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं और फिर यही रोग बढ़कर क्षय-रोग का रूप धारण करते हैं क्योंकि इनसे शरीर निर्बल हो जाता है और क्षय-रोग ग्रहण करने की उसमें योग्यता हो जाती है।

रोग लक्षण तथा निदान

पाठ ७

रासायनिक परिवर्तन

जब क्षय-कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होकर किसी स्थान पर स्थापित हो जाते हैं और उनकी वृद्धि होने लगती है तो शरीर के तंतुओं में आत्मरक्षक और बाद को क्षतिपूरक आदि क्रियायें होने लगती हैं। आक्रांत तंतु की रचना संक्रमण की तीव्रता, शरीर की रोग क्षमता तथा बहुत सी अन्य बातों के अनुसार, जिनका आधुनिक काल में अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है यह प्रतिक्रिया विविध रूप की होती है। परन्तु सब का मूलाधार एक ही होता है। क्षय कीटाणुओं से जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे विशिष्ट और लाक्षणिक रूप के होते हैं। क्षय कीटाणुओं की उत्तेजना से तन्तुओं में उत्पादक प्रदाह होकर वहां पर एक गुठली सी बन जाती है जिसको यक्ष्म (Tubercle)

कहते हैं। इसमें रक्त नाड़ी नहीं होती। इसलिये रक्त के अभाव के कारण उनकी प्राणशक्ति टिकाऊ नहीं होती। इसके अतिरिक्त क्षय-कीटाणुओं और यक्ष्म की नईसेलों में जो जीवन-संग्राम होता है,उसमें कुछ कीटाणुओं का भी नाश होता है। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि कीटाणुओं के नष्ट भ्रष्ट शरीरों से विषैले पदार्थ निकलते हैं। रक्त की कमी और कीटाणुओं के विषों से सेल समूह के मध्य भाग की सेलों की मृत्यु हो जाती है। मृत सेलों की मींगी टूट फूट जाती है और उनके जीवोज में बसात्मिक अपकर्ष (Fatty degeneration) हो जाता है फलतः सेलों का प्रथक रूप मिटकर एक रूप रहित राशि बन जाती है।

किलाटीव परिवर्तन—(Caseation)

सेलों की मृत्यु के पश्चात् उनके शरीरों की रूप रहित राशि रासायनिक परिवर्तन से पनीर के सदृश एक श्वेत अपारदर्शक पदार्थ में परिणित हो जाती है। किलाट सदृश रूप होने के इस प्रक्रिया को किलाटीय प्रक्रिया कहते हैं। कभी कभी यह किलाटीप पदार्थ अनियत काल तक ज्यों कात्यों बना रहता है परन्तु अंत में (शीघ्र या देर में) उसमें इन दो में से एक प्रकार का परिवर्तन हो जाता हैं, क्योंकि एक ओर जहां क्षय-कीटाणु शरीर की सेलों के नाश की चेष्टा करते हैं वहां दूसरी ओर शरीर की सेलें कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने की और उनके द्वारा की हुई क्षति को पूरा करने की चेष्टा करती हैं। यह क्षतिपूरक क्रिया (Reparative Process) दो प्रकार की होती है।

१—खटिक संग्रह (Cafcifiction) २—सूत्र निर्माण (Fibrosis) खटिक संग्रह पहिले किलाटीप पदार्थ सौत्रिक तन्तु से घिर जाता है और फिर जल का शोषण होकर शुष्क हो जाता है। तथा मात्रा में बहुत कम हो जाता है। इसके बाद उसमें खटिक (Calcium) के दाने जमा होने लगते हैं। जिससे

अंत में वह कंकड़ीला हो जाता है। कभी कभी खटिक के दानों के मिलने से बड़ी २ कंकड़ी सी बन जाती हैं। इन कंकड़ियों में प्रायः कीटाणु जीवित अवस्था में बने रहते हैं। यह रासायनिक परिवर्तन क्रिया क्षयी व्रणों के पुरने की साधारण और स्वाभाविक विधि होती है।

सूत्र निर्माण— (Fibrosis)

परन्तु यक्ष्म में सदा किलाटीप परिवर्तन, खटिक संग्रह अथवा गलाव नहीं होता। अधिकांश लोगों में जिनमें राजयक्ष्मा विकसित नहीं होता अथवा उसकी प्रगति रुककर अन्त में रोग अच्छा हो जाता है, बंधक तन्तु की सेलों से सूत्र की रचना होकर यक्ष्म सौत्रिक-क्षत-चिन्ह में परिणित हो जाता है। मृतक शरीरों का शवच्छेद करने पर निदान शास्त्र वेत्ताओं को पता लगा है कि अधिकांश लोगों के फेफड़ों और पार्श्व कलाओं में क्षत चिन्ह होते हैं, जिससे विदित होता है कि बहुत से लोगों में क्षय रोग होकर स्वयं अच्छा हो जाता है। क्योंकि यह लोग कुछ कष्ट अनुभव होने पर खानपान इत्यादि स्वास्थ्य के नियमों का अधिक पालन करते होवेंगे जिससे बिना औषधि रोग अच्छा हो जाता है। इन्हीं पुरे हुए अथवा गुप्त क्षयी विकार वाले लोगों में यक्ष्मन प्रतिक्रिया मिलती है। यद्यपि प्रकटतः उनमें कोई रोग नहीं होता।

गलाव— (Softening)

जब नाशकारक क्रिया प्रबल होती है तो यक्ष्म के किलाटीप पदार्थ में सौत्रिक या खटिक परिवर्तन होने के बजाय गलाव होने लगता है। जब ऐसा होता है तो यक्ष्म पक जाता है और उसका किलाटीप पदार्थ गलकर क्षयी पीव में परिणित हो जाता है।

यक्ष्म की अन्तगति—

यक्ष्म की अन्तगति सूत्र निर्माण तथा खटिक परिवर्तन

और किलाटीप परिवर्तन तथा गलाव-इन दोनों प्रकार की क्षति-पूरक और नाशकारक प्रक्रियाओं की तीव्रता पर निर्भर होती है। वस्तुतः क्षय-रोग की गति पर इन्हीं दो क्रियाओं की परस्पर तीव्रता का प्रभाव होता है। पहिली दो क्रियायें क्षतिपूरक और दूसरी दो क्रियायें नाशकारक होती हैं। जब नाशकारक क्रियायें प्रबल होती हैं तो रोग के लक्षण और रोग का विस्तार दोनों में वृद्धि होती है। जब क्षतिपूरक क्रियायें प्रबल होती हैं तो रोग की गति मंद होती है और अंत में सौत्रिक या खटिक परिवर्तन होकर क्षयी व्रण अच्छे तक हो जाते हैं।

डाक्टरों का अनुमान है कि क्षय संक्रमण अर्थात् कृमि का प्रवेश तो ९९ प्रतिशत मनुष्यों में होता है। यदि कहा जाय कि सभ्य संसार के सब ही मनुष्यों में होता है तो भी असत्य न होगा। पर इससे सबको क्षय-रोग नहीं हो जाता अतः रोग निरूपण के सम्बन्ध में एक क्षय विशेषज्ञ डाक्टर श्री शंकरलाल गुप्त सिविलसर्जन की सम्मति इस प्रकार है :—

"रोग निरूपण में उतावलेपन से हानि होती है, लोग यह समझते हैं कि प्रारम्भ में जितना शीघ्र रोग का पता लगा लिया जाय, रोगी के अच्छे होने की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है। इस धारणा के कारण कुछ दिनों से यह देखा जाता है कि सन्देह मात्र होने पर चिकित्सक लोग सक्रिय रोग का होना मान लेते हैं और तब तक वैसा ही इलाज करते रहते हैं जब तक उनका यह विचार ग़लत न सिद्ध हो जाय। फलतः विचारे अनेक व्यक्ति स्वास्थ्य शाला में अथवा श्रेष्ठ जलवायु के किसी दूसरे स्थान में भेज दिये जाते हैं। अनेक बालकों का पढ़ना लिखना छुटा दिया जाता है। अनेक शिल्पकारों की नौकरी तथा अनेक व्यवसायियों का व्यवसाय छुड़ा दिया जाता है। यह अवश्य है कि इन संदिग्ध क्षय-रहित व्यक्तियों में से अनेक ऐसे होते हैं जो श्रीमान् और निर्बल होते हैं और उनको

आराम की आवश्यकता होती है। इसलिये रोग की जांच करने में भूल होने से इन लोगों को लाभ ही हो जाता है। परन्तु अन्य कितने ही को भारी हानि होती है। इनमें से अनेकों को क्षय-रोग न होने पर भी व्यर्थ का कलंक लग जाता है। इस बात की शिक्षा देने पर भी एक समझदार क्षय-रोगी से दूसरों को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, क्षय रोगी को लोग अभी तक बुरी दृष्टि से ही देखते हैं।

निर्धन और साधारण हैसियत के लोगों में (अधिकतर क्षय-रोगी इन ही में से होते हैं) रोग निरूपण का और भी अधिक भयङ्कर परिणाम होता है। इस बात का एक उत्तम और उल्लेखनीय उदाहरण अमेरिका की एक स्त्री का है। यह लगातार २६ वर्ष क्षय-रोग की विभिन्न संस्थाओं में रही थी। अंत में जब फुप्फुस प्रदाह से उसकी मृत्यु हुई और उसके शव की परीक्षा की गई तो क्षय-रोग का कोई चिन्ह नहीं मिला। यह अनुमान किया जाता है कि अलावा इस बात के कि यह स्त्री इतने दिनों तक वेकार बनी रही,इसके इलाजमें जनताका लगभग ३०सहस्र रुपया बिलकुल व्यर्थ व्यय हुआ औरउसके कारण लगभग ४०-क्षय-रोगियों को स्वास्थ्य शालाओं में स्थान नहीं मिल सका जिससे सम्भवत: उनको लाभ होता। (इस घटना से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि जिस आधुनिक विज्ञान को हम ब्रह्म अस्त्र समझ अपने देश का करोड़ों रुपया उसके लिये विदेश भेज देते हैं और अब देश के स्वतन्त्र होने पर भी सरकारी तौर पर वह ही माननीय है उस के विशेषज्ञ भी २६ वर्ष तक किसी रोगी को अपने पास रखकर भी ठीक परीक्षा नहीं कर सकते। जबकि हमारे यहां अनेकों ऐसे चिकित्सक विद्यमान हैं जो अपने अनुभव के आधार पर बिना इन साधनों के अचूक और शंका रहित निदान कर सकते हैं। जो कभी भी गलत नहीं निकलता लेखक)

अब कुछ दिनों से उपक्रांत क्षय-रोगियों की उत्कण्ठित

तलाश की प्रथा के विरुद्ध एक उल्टी लहर चलती देख पड़ने लगी है। प्रतिष्ठित लेखक अब इस बात पर जोर देने लगे हैं कि अनिश्चित रोग चिन्हों पर भरोसा नहीं करना चाहिये। उन का कहना है कि केवल विष व्याप्ति के लक्षणों को ही सक्रिय रोग की सच्ची कसौटी समझनी चाहिये। डा० एडवर्ड आदि से रोग लक्षणों के प्रभाव में केवल निश्चित या अनिश्चित रोग चिन्हों से सक्रिय रोग मान बैठने की और ऐसे चिन्ह वाले रोगियों का व्यवसाय छुड़ाकर स्वास्थ्य शाला में भेजने की बुद्धिमत्ता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि स्वास्थ्य शालाओं में नये और सक्रिय संक्रमण होने का कुछ न कुछ भय रहता है।

हर संदिग्ध व्यक्ति को क्षय-रोगी मानकर इलाज करने के सिद्धांत से समाज को जो हानि पहुँचती, है उसका एक उत्तम उदाहरण गत यूरोपीय महायुद्ध में देखने में आया था। सैनिकों की परीक्षा करने पर चिकित्सकों को यदि थोड़े भी रोग चिन्ह मिल जाते थे तो उनको अस्पतालों में भेज दिया जाता था। फल यह हुआ कि फ्रांस में एक हजार ऐसे रोगियों में केवल १२ को यथार्थ में क्षय-रोग निकला। कर्नल बुशनेल का कहना है कि रोग निरूपण की इस त्रुटि की बुराई सर्वत्र पाई जाती है। जर्मनी, ग्रेटब्रिटेन और फ्रांस. किसी भी देश की सेना इस बुराई से खाली नहीं है। क्षय-रोग के निरूपण में उतावलेपन से उतनी ही हानि होती है जितनी कि सक्रिय और प्रगतिशील रोग की पहचान में भूल करने से। यदि सावधानी से निरीक्षण किया जाय तो कुछ देर हो जाने से रोगी को कोई विशेष हानि नहीं हो सकती। क्योंकि रोग की ठीक २ पहचान करने में अधिक देर नहीं लगती। सक्रिय और प्रगतिशील रोगियों में रोग बहुत शीघ्र व्यक्त हो जाता है। कुछ देर होने से भी हानि नहीं होती क्योंकि वैसे भी ऐसे रोगियों में इलाज से अधिक लाभ होने की सम्भावना नहीं होती। पुरातन रोग में कुछ दिनों की देर से

रोग की साध्या-साध्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसको यथार्थ में क्षय-रोग नहीं है। क्षय-रोगी कह देने से प्रायः उसकी और उसके परिवार की बरबादी हो जाती है और उससे समाज को भी बड़ी हानि पहुंचती है। बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि रोगीके उपक्रान्त अवस्थामें होने का सदा यह अर्थ नहीं होता कि वह रोगी साध्य है अथवा अच्छा हो सकता है। अनेक प्रारम्भिक रोगियों की दशा तथा भविष्य सम्वृद्ध रोगियों की अपेक्षा बुरे होते हैं। (क्षय रोग से)

सक्रिय राजयक्ष्मा की पहिचान के मोटे नियम—

सक्रिय राज-यक्ष्मा में विष-व्याप्ति के लक्षण अवश्य पाये जाते हैं। यदि विष-व्याप्ति के लक्षण न हों तो रोगी के संक्रामित होते हुये भी---और संक्रमण किस में नहीं होता—उसके किसी इलाज की अवश्यकता नहीं है। विशेषकर ऐसे इलाज की जो समाज के लिये व्यय-साध्य और रोगी के परिवार के लिये नाश-कारक हों। ऐसे व्यक्ति को न उसके परिवार से प्रथक करने की और न किसी आरोग्यशाला में भेजने की अवश्यकता होती है। रोगीसे यह कहते समय कि उसको उपक्रान्त क्षय है, इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिये। प्रत्येक सावधान चिकित्सक, चाहे वह रोग को स्थानांकित भले ही न कर सके और उसके लिये उसे किसी विशेषज्ञ की सहायता लेनी पड़े, रोग लक्षणों से प्रारम्भिक राज्य-यक्ष्मा की पहचान कर सकता है। ज्वर, खांसी, शीघ्रगामी नाड़ी, आलस्य, रात्रि स्वेद, रक्त निष्ठीवन इत्यादि लक्षणों के बिना सक्रिय क्षय-रोग नहीं होता। सक्रिय रोग के प्रकट होते ही सभी या कुछ लक्षण अवश्य या तुरन्त प्रकट हो जाते हैं। सबसे बड़ी बात जिसको कभी न भूलना चाहिये यह है कि बिना रोग लक्षण के सक्रिय क्षय-रोग नहीं होता और

कफ में क्षय-कीटाणु मिलने के अतिरिक्त ऐसा कोई रोग लक्षण या रोग चिह्न नहीं है जो क्षय-रोग का द्योतक हो। केवल विभिन्न लक्षणों और चिन्हों के संयोग तथा परस्पर सम्बन्ध से ही रोग की पहिचान हो सकती है। विशेषकर उन रोगियों में जिनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते।

क्षय-रोग की लक्षणावली का महत्व—

सक्रिय क्षय-रोग के अस्तित्व अथवा प्रभाव का पता लगाने में अनिश्चित रोग-चिन्हों की अपेक्षा लक्षणों का महत्व कहीं अधिक है। एक ओर तो यह सम्भव है कि सक्रिय क्षय-रोग होते हुये भी कुशल विशेषज्ञ तक को कोई रोग चिन्ह न मिले और एक्सरे परीक्षा से भी विकार के स्थान का पता न लगे और दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि अनेक स्वस्थ लोगों में फुप्फुस शिखर में विकार के अनेक चिन्ह मिलते हैं। परन्तु बिना रोग लक्षणों के सक्रिय क्षय-रोग नहीं हो सकता। यह एक ऐसा सत्य है जिसको बार बार दुहराना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। क्षय-रोग के लक्षणों की उचित और सावधानी से जांच और विवेचन करने पर रोग के प्रारम्भ, उसकी तीव्रता की प्रवृति तथा साध्या साध्यता के सम्बन्ध की सूचना मिलती है, हरएक चिकित्सक इनका पता लगा सकता है। बहुधा निश्चित रोग चिन्हों के प्रादुर्भाव से पूर्व लक्षण व्यक्त होते हैं। अतएव पहिले लक्षणों की ही पूछतांछ करना चाहिये।

इसलिये सक्रिय राज यक्ष्मा के खांसी, कफ, ज्वर, रात्रि स्वेद, रक्त निष्ठीवन कृशता, तीव्रगामी नाड़ी, इत्यादि प्रमुख लक्षणों की आलोचना पहिले की जायगी। इन लक्षणों के ठीक ठीक समझने से ही रोग की पहिचान की जा सकती है विशेष कर उपक्रान्त अवस्था में; दूसरी ओर केवल शारीरिक परीक्षा और एक्सरे परीक्षा द्वारा ज्ञात बातोंसे रोग की साध्या-साध्यता

का विचार करने में भयंकर भूल हो सकती है। (क्षय-रोग) उपरोक्त, विवरण के पश्चात् हम आयुर्वेद तथा अपने अनुभव के आधार पर कुछ ऐसे विशेष चिन्ह व लक्षण बतावेंगे जिनके द्वारा रोग निर्णय करने में और भी सुगमता हो जावेगी।

पाठ ८

खांसी

फेफड़े की क्षय अर्थात् राज-यक्ष्मा में खांसी प्रधान लक्षण है। प्रायः सबसे पहिले इसी से रोग जाना जाता है। कुछ डाक्टरों का ऐसा मत अवश्य है कि बिना खांसी के भी राज-यक्ष्मा हो सकता है। पर पीड़ो तथा अन्य अनेक प्रसिद्ध विशेषज्ञों का मत यही है कि राज-यक्ष्मा में किसी न किसी रूप में खांसी अवश्य होगी। हमें भी अभी कोई ऐसा रोगी नहीं मिला जिसे प्रारम्भ से अन्त तक थोड़ी बहुत खांसी न हो और यह कई प्रकार की होती है :—

१—प्रतिश्याय (जुकाम) कुछ लोगों को सक्रिया क्षय होने से पहिले कई वर्षों तक बार २ जुकाम और हलकी खांसी होती रहती है। जिसका कारण प्रायः जुकाम समझा जाता है। पर यदि बार २ ऐसा हो तो अवश्य किसी क्षय-विशेषज्ञ से परीक्षा कराना चाहिए। अन्य लक्षणों के आधार पर इस बात की जांच की जा सकती है।

२—दौरेदार खांसी (Paroscysmal Cough) अनेक क्षय-रोगियों में रोग के प्रारम्भ में अथवा बाद को खांसी बड़े वेग से उठती है। उसके दौरे होते हैं। जब सूखी होती है तब यह बड़ी कष्टदायक और असह्य होती है, क्योंकि यह प्रायः सायंकाल में अधिक तीव्र होती है और इससे रोगी सो नहीं सकता। इससे छाती में पीड़ा, निद्रानाश और बड़ी

थकावट हो जाती है। अन्य रोगियों में खांसी काफी देर तक बनी रहती है और कुछ समय के बाद जब कफ निकल जाता है तो शान्त हो जाती है। रोगी सब से पहिले कफ को ढीला करनेवाली औषधि चाहते हैं। दौरों में कभी २ वमन हो जाता है और इस के कारण कुछ मनुष्यों में आंत उतरने लगती है। दौरे में ऐसे रोगियों के होंठ और नख नीले पड़ जाते हैं। ग्रीवा की शिरायें फूल जाती हैं और रोगी को बड़ा कष्ट होता है। जितना कफ निकलता है उस की अपेक्षा खांसी का वेग कहीं अधिक होता है। स्वच्छ कफ की फुटकी निकलने पर खांसी शांत हो जाती है। पर रोगी थक जाता है। कुछ देर बाद फिर खांसी उठती है। रात में भी दौरे होते हैं। वेगवान् फुफ्फुस क्षय के अनेक रोगियों में जिनमें रोग स्थानाङ्कित नहीं कियाजा सकता और बजरीले क्षय में जिसमें यक्ष्म फेफड़ों भर में बिखरे हुये होते हैं और शारीरिक परीक्षा से वायुध्मान के चिन्ह मिलते हैं। कभी कभी तीव्र खांसी के दौरे देखने में आते हैं। कुछ लेखकों का विश्वास है कि खांसी के वेग से स्थानान्तरित होकर क्षय-रोग फैल जाता है। परन्तु अनेक रोगियों में यह देखा गया है कि अन्त में रोग स्थानाबद्ध होकर उसकी गति साधारण पुरातन राज-यक्ष्मा की सी हो जाती है और खांसी केदौरे बन्द होकर साधारण क्षय-रोगीकी सी सामान्य खांसी रह जाती है।

३—वमनकारक खांसी (Emetic cough) क्षय रोग की प्रारंभिक अवस्था में अनेक रोगियों में ऐसी खांसी होती है कि खांसते खांसते उलटी हो जाती है। इस प्रकार की खांसी को वमनकारक खांसी कहते हैं। कुछ फ्रांसीसी लेखकों का कहना है कि राज-यक्ष्मा के ५०—६० प्रतिशत रोगियों में ऐसी खांसी आती है। परन्तु अन्य लेखकों का अनुभव

ऐसा नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी न किसी अवस्था में आधे से भी अधिक क्षय-रोगियों में वमन हो जाता है। परन्तु सब प्रकार के वमन को वमनकारी खांसी नहीं कहा जा सकता।

प्रारम्भिक क्षय में प्रायः खांसी से कफ नहीं निकलता, किंतु वमन हो जाता है। कुछ रोगियों में भोजन करते ही तुरन्त खांसी आने लगती है, कुछ में भोजन करने के कारण ही खांसी आती है, और अन्य रोगियों में भोजन के बाद खांसी उठती है और उससे वमन हो जाता है। इनमें वमन-कारी खांसी इतनी विशिष्ट होती है कि यदि पुराने मदिरा-पान करने वालों में मिलने वाली खांसी, कूकर खांसी, और नासिका के प्रदाह को निकाल दिया जाय तो संदिग्ध रोगि-यों में क्षय-रोग का निश्चय करने में यह एक विश्वस्त लक्षण होता है। क्षय-रोग का निर्णय करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु इसके रोग निरूपक मूल्य को ठीक ठीक सम-झने के लिये यह आवश्यक है कि क्षय-रोग में अन्य कारणों से जो वमन होता है। उससे इसकी ठीक ठीक पहचान कर ली जाय। वमनकारक खांसी साधारणतः इस प्रकार की होती है कि रोगी दोपहर को अथवा सायंकाल को जब भोजन करता है तो उससे उसको कोई कष्ट नहीं होता। परन्तु कुछ देर (५ मि-निट से १ घंटे और बहुधा १५ या २० मिनिट) के बाद उसके गले में सुरसुराहट होकर अथवा एकाएक खांसी का दौरा उठता है जिससे उसका दम घुटने लगता है और प्रतीत होता है कि उसके गले में कफ चिपका हुआ है जो निकलने में नहीं आता अन्त में उसको कै हो जाती है और उसमें खाया पिया सब का सब अथवा कुछ भाग निकल जाता है। दौरे से पहिले मतली नहीं होती, किंतु खांसने में एकाएक वमन हो जाता है। इस बात से अन्य प्रकार के वमनों से इसकी पहिचान की जा सकती है।

जब यह पहिलीबार होती है तो रोगी घबड़ा जाता है या उसका कारण कुपथ्य समझने लगता है। परन्तु जब यह बार बार होने लगती है तब अन्य कारण ढूंढ़ने के लिये उसको विवश होना पड़ता है। वमन के बन्द होते ही रोगी को बड़ा चैन मिलता है और पेट का तनाव तथा श्वास कष्ट दूर हो जाता है। कभी २ उसको भोजन की फिर इच्छा होती है और वह जान जाता है कि भरपेट खाने से उसको खांसी आकर वमन हो सकता है।

राज यक्ष्मा काल में अन्य कारणों से भी वमन होता है। परन्तु उसको वमनकारक खांसी नहीं कहा जा सकता, जिन रोगियों में आमाशय का पुरातन प्रदाह होता है या जिनका आमाशय फूला होता है अथवा जिनको पुरातन मद्यपान रोग होता है। उनमें प्रायः वमन हो जाता है और कभी कभी वह खांसी से प्रकुप्त हो जाता है। क्षय रोग की सम्वृद्ध अवस्था में भी वमन हो सकता है और कभी कभी वह इतना प्रमुख होता है कि रोगी के लिये कुछ भी खाना कठिन हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के वमनों को वमनकारी खांसी नहीं कहते। इन रोगियों में साधारणतः मतली, मैली जीभ, श्वास में दुर्गन्ध, क़ब्ज़, अतिसार, शिर में पीड़ा इत्यादि मन्दाग्नि के लक्षण होते हैं और परीक्षा करने पर फूला हुआ आमाशय, यकृति का वसात्मक अपकर्ष अथवा अन्य उदर विकार मिलते हैं। ऐसे रोगियों में खांसी के बाद वमन हो सकता है, परन्तु वमन से पूर्व सदैव खांसी का दौरा नहीं होता, न वमन का कोई नियम होता है न यह भोजन के बाद सदा होता है और न इसके बाद सदा रोगी को तुरन्त चैन मिलता है। शराबियों में वमन प्रातःकाल अधिक होता है, कंठ के पुरातन प्रदाह में भी ऐसा ही होता है। इन दोनों दशाओं में उबकाई और मतली आती है जो वमनकारक खांसी में नहीं आती। वमनकारक खांसी क्षय रोग के प्रारम्भ में बहुधा ऐसे रोगियों में आती है, जिनकी पाचनशक्ति अच्छी

होती है। वमन के पूर्व सदैव खांसी का दौरा होता है। भोजन के उपरान्त यह दौरा सदा निश्चित् समय पर होता है और पहिले या बाद को किसी प्रकार की मतली, चक्कर, उबकाई या मूर्छा नहीं आती। विपरीत क्रम अर्थात् पहिले वमन और फिर खांसी कभी नहीं होती। इस प्रकार की वमनकारक खांसी क्षय-रोग के अतिरिक्त, केवल कूकर खांसी और मद्यपायियों में कंठ के पुरातन प्रदाह रोगमें पाई जाती है। इसलिये यदि किसी रोगी को वमनकारक खांसी हो और उस में कूकर खांसी या पुरातन कंठ प्रदाह के कोई चिन्ह न मिलें तो तुरन्त क्षय-रोग का संदेह करना चाहिये और यदि यह कुछ दिनों तक लगातार जारी रहे तो निश्चयात्मक चिन्ह न मिलने पर भी क्षय-रोग का होना समझना चाहिये।

क्षय रोग की सम्वृद्धावस्था में खांसी—

जैसे जैसे रोग बढ़ता जाता है खांसी उत्तरोत्तर बढ़ती और ढीली होती जाती है और कफ के निकलने में कष्ट कम होता जाता है। फेफड़े में रंध्र बन जाने पर साधारणतः खांसी में कमी हो जाती है। रात में निद्रा भंग नहीं होती क्योंकि कफ रंध्र में जमा होता रहता है। परन्तु प्रातःकाल कफ से भरे रंध्र को खाली करने के लिये खांसी उठती है जो कुछ मिनट तक रहती है और उसके बाद रोगी को चैन आ जाता है। जब रंध्र भर जाते हैं तो उनको खाली करने के लिये रोगियों को समय समय पर खांसी आती है। करवट बदलने का भी प्रभाव पड़ता है, करवट बदलने से रंध्रोंमें भरा हुआ कफ बहकर श्वास प्रणालियोंमें आ जाता है। इसलिये उसको निकालने के लिये खांसी आने लगती है और जब सब कफ निकल जाता है तो शांति हो जाती है। जब तक रंध्र फिर न भर जाय, चैन रहता है। रोगियों को साधारणतः अनुभव से ज्ञात हो जाता है कि किस करवट लेटने से उनको आराम मिलता है और किस करवट से उनको खांसी

आने लगती है। किस करवट से आराम मिलता है यह बात रंध्र नाली की दिशा पर निर्भर होती है। स्वस्थ पार्श्व की ओर लेटने से सदैव आराम नहीं मिलता। पार्श्वकला में बन्धन बन जाने वाले रोगियों में भी करवट बदलने से खांसी आती है परन्तु उनमें खांसी साधारणतः सूखी होती है और उसमें कफ नहीं निकलता। रोगियों को बैठने की अपेक्षा लेटने पर अधिक खांसी आती है, परन्तु कुछ रोगियो में खड़े होने से खांसी आने लगती है। इस अवस्था में कुछ रोगियों को बड़ी कष्टदायक तीव्र खांसी निरंतर आती रहती है जिससे उनको बड़ी बेचैनी होती है और दिन रातमें तनिकभी शांति नहीं मिलती। यह ध्यान देने योग्य है कि खांसी की तीव्रता न फेफड़े के विकार के विस्तार पर और न रंध्रों की संख्या और परिमाण पर पूर्णतया आश्रित होती है। कुछ रोगियों को रोग के अधिक विस्तृत होने पर भी खांसी कम आती है और अन्य रोगियों को रोग परिमित होने पर भी खांसी अधिक आती है। क्षय-रोगियों की खांसी पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। इनमें रोगी की आयु और चित्त वृत्ति सब से अधिक प्रधान होती है। वृद्ध रोगियों की अपेक्षा तरुण रोगियों को खांसी साधारणतः अधिक होती है। वस्तुतः अधिकांश वृद्ध क्षय-रोगियों को खांसी मुश्किल से आती है, उनमें बिना चेष्टा के ही बहुत सा कफ निकल जाता है। जिन रोगियों के सम्बन्ध में कुछ लेखक वर्णन करते हैं कि उनको वर्षों तक क्षय-रोग होने पर भी खांसी नहीं आती, वे यही वृद्ध रोगी होते हैं। रोगी की मानसिक अवस्था का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। चिड़चिड़े और तेज स्वभाव वाले रोगियों को शांत स्वभाव वालों की अपेक्षा अधिक खांसी आती है।

खांसी का महत्व—

खांसी से इतना लाभ अवश्य होता है कि अनेक रोगियों का ध्यान फेफड़ों की ओर शीघ्र आकर्षित हो जाता है। जिस

व्यक्ति को पहिले कभी खांसी न हुई हो, यदि उसको तरुणावस्था या उसके पार करने के बाद प्रथमवार जुकाम हो और फल-स्वरूप एक महिने से अधिक खांसी आती रहे तो उसके फेफड़ों में रोग के निश्चित चिन्ह न मिलने पर भी क्षय-रोग का बहुत बड़ा सन्देह करना चाहिये। यदि रोग के प्रथम दिनों में नाक और कंठ में जुकाम के लक्षण न हुए हों तो सन्देह को और भी दृढ़ समझना चाहिये क्योंकि साधारण जुकाम और खांसी में नाक और कंठ से स्रावक प्रदाह अवश्य होता है।

साध्यासाध्य विचार—

रोग के साध्यासाध्य विचार की दृष्टि से भी खांसी एक महत्वपूर्ण लक्षण होता है। अनेक रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनके फेफड़ों में विकार बहुत कम होता है और ज्वर, अरुचि, निर्बलता इत्यादि लक्षणभी कम होते हैं; परन्तु खांसी वशमें नहीं आती। अन्यथा इन रोगियों की दशा बड़ी अच्छी होती है। खांसी के तीव्र होने व दौरे के देर तक ठहरने से रोग के फैलने की सम्भावना रहती है और रोगी निर्बल हो जाता है तथा उसकी भावी दशा बिगड़ने लगती है। ऐसी खांसी से कंठ, टेटुआ, श्वास नल और फुफ्फुस तुरन्त प्रकुप्त हो जाते हैं और उनमें क्षय फैलने की अधिक सम्भावना रहती है। जिन रोगियों के फेफड़े में रोग पृष्ठस्थ होता है उन में खांसी के वेग से वायुवक्ष (Pneumathorax) होने का डर रहता है। कुथी और बुल फीनर का कहना हैकि सबसे अधिक असाध्य रोगी वह होते हैं जिनको रात दिन खांसी आती है उनसे कम असाध्य वह होते हैं जिनको केवल दिन में खांसी आती है और सब से अधिक साध्य वह होते हैं जिनको केवल प्रातःकाल खांसी आती है। खांसी से कुछ अंश तक साध्यासाध्य विचार सम्बन्धी अन्य सूचनायें भी मिलती हैं। जब रोगी की व्यापक अथवा स्थानिक दशा में उन्नति होती है तो खांसी कम हो जाती है या मिट जाती है और खांसी का

फिर से बढ़ना फेफड़े में क्षयी प्रक्रिया का फैलना अथवा श्वास नल, कंठ, नासिका इत्यादि में किसी उपद्रव का होना सूचित करता है। कभी कभी खांसी का यकायक बन्द हो जाना राजयक्ष्मा के किसी भारी उपद्रव विशेषकर मस्तिष्कावरण या उदर-कला के प्रदाह का सूचक होता है। स्वरयंत्र में भारी व्रण होने से भी कभी २ ऐसा हो जाता है। इस दशा में खांसी तो कम हो जाती है, परन्तु फेफड़े में विकार बना रहता है और भोजन के अभाव से शक्ति नाश होकर रोगी का अन्त निकट होने लगता है।

श्लेष्मा (कफ)

कफ-क्षय रोग का एक प्रमुख लक्षण होता है। परन्तु प्रत्येक क्षय-रोगी के सदा कफ नहीं निकलता। प्रायः यह देखा गया है कि अधिकांश क्षय-रोगियों को प्रारम्भिक अवस्था में केवल सूखी खांसी आती है। कई सप्ताह या मास के बाद कफ निकलना प्रारम्भ होता है। बच्चों के भी कफ नहीं निकलता क्योंकि वह कफ को प्रायः निगल जाते हैं। कितनी ही स्त्रियां और कुछ पुरुष भी ऐसा ही करते हैं। रोग की सम्वृद्धावस्था में भी जब रोगी अत्यन्त जीर्ण होने के कारण थूकने में असमर्थ होता है, कफ अधिक होतेहुए भी बाहर नहीं निकलता। अतएव यह स्पष्ट है कि कफ के अभाव से क्षय का अभाव नहीं समझा जा सकता। रोग के बढ़ने पर कफ अधिक आने लगता है। परन्तु ऐसे रोगी भी देखने में आते हैं जिनमें रोग व्यापक होने पर भी कफ बहुत कम निकलता है। यह इस बात का द्योतक है कि फेफड़े में यक्ष्म बन गये हैं, परन्तु अभी तक पक कर श्वास नलों में फूटे नहीं हैं।

कफ का स्थूल रूप—

प्रारम्भिक क्षय में कफ के रूप में कोई विशिष्टता नहीं

होती। आरम्भ में प्रायः कफ बहुत कम निकलता है। कभी कभी बिलकुल नहीं निकलता। डाक्टर कुथी का कहना है कि उनको क्षय-रोग की प्रथमावस्था में ४६ प्रतिशत, द्वितीय अवस्था में १५.४ प्रतिशत और तृतीय अवस्था में १२ प्रतिशत रोगियों में कफ का अभाव मिला था। हमें तृतीय अवस्था में केवल १ प्रतिशत रोगी मिले जिनमें अंत तक कफ नहीं आया और सूखी खांसी तीव्र थी।

प्रारम्भिक क्षय में साधारणतः जो कफ निकलता है। वह स्वच्छ, झागयुक्त और इतना हल्का होता है कि पानी में डालने से तैरने लगता है। इस कफ में और साधारण जुकाम और खांसी के कफ में कोई अन्तर नहीं होता। जैसे जैसे रोग बढ़ता जाता है, कफ गाढ़ा होता जाता है। कुछ दिनों तो कफ स्वच्छ रहता है परन्तु उसके बाद पीला होने लगता है जिससे विदित होता है कि यह पीव रूप होने लगा, पीलापन क्रमशः बढ़ता जाता है, अन्त में कफ पीव के सदृश बिलकुल पीला हो जाता है, जिससे पता लगता है कि फेफड़े में गलाव प्रारम्भ हो गया और फुप्फुस तन्तु गलगल कर निकल रहा है। कफ का पीव रूप होना उसके पीला या पीलापन लिये हुए हरा होने से सूचित होता है। रोग की अत्यन्त सम्वृद्धावस्था में कफ मलिन या मलिन हरा हो जाता है और उसकी गोलियां सी निकलती हैं। जो तरल श्लेष्म या थूक में अलग अलग तैरती रहती हैं, परन्तु जब कफ भारी होता है तो थूकदान के तले में बैठ जाता है और उसके मुद्राकार पिंड बन जाते हैं जो एक दूसरे से अलग रहते हैं। प्राचीन कालमें वैद्यों ने इस प्रकार के कफ को मुद्राकार कफ का नाम दिया है और इसको वे रंध्र निर्माण का निश्चात्मक चिन्ह मानते थे। कभी कभी कफ में सफ़ेद किलाटीप पदार्थ आता है जो टूटे हुये यक्ष्मों का अंश होता है और कफ में बिखरा हुआ होता है। क्षय रोग में कफ साधारणतः गंध रहित होता है

परन्तु कभी कभी उसमें गंध आने लगती है, विशेषकर उ
समय जबकि मादक औषधियों के प्रयोग से अथवा रोगी
निर्बल होने के कारण कफ वक्ष के अन्दर बहुत देर तक
रहता है। ‡अति दुर्गन्ध वाला कफ क्षय-रोग में बहुत विर
होता है। जब क्षय रोगी के कफ में बहुत दुर्गन्धि आने लगे
फेफड़े में उपद्रव रूप, गलाव विद्रधि इत्यादि विकार की तला
करनी चाहिये।

---

‡ नोट—लेखक को बाबू प्रभुदयालजी वकील अलीग
अतरौली निवासी एक ऐसे रोगी के देखने तथा चिकित्सा क
का अवसर मिला था जिनके कफ में इतनी दुर्गन्ध आती
कि जिस समय वह थूकते थे, उनके घर का भी कोई आद
कमरे में नहीं ठहर सकता था। अनेक डाक्टरों ने सैकड़ों इ
कशन करने के पश्चात् उनको असाध्य समझ अतरौली चले ज
का परामर्श दे दिया ताकि अपने गृह पर अन्त समय में
सकें। उसी अवस्था में उनकी यक्ष्म-चिकित्सा प्रारम्भ हुई। मै
खाने की सब औषधियां बन्द करा दीं। उनकी उस समय
अवस्था उनके लघुभ्राता डा० आर० एस० भटनागर म्युनिसि
कमिश्नर के पत्र से भली प्रकार प्रगट होती है, उसका आवश्य
भाग नीचे दिया जाता है :—

श्रीमान् डाक्टर साहब, सादर नमस्ते !

..............मेरे बड़े भाई बाबू प्रभूदयालजी (स्थान अलीग
वकालत करते हैं। वे पिछले डेढ़ वर्ष से इस मूजी रोग
शिकार बन चुके हैं। एक वर्ष से निरंतर ऐलोपैथिक इला
होता रहा है। इञ्जेकशन भी हुए हैं, पर मर्ज बढ़ता गया,
ज्यों दवा की। मैंने कितनी ही बार उनको सुझाया पर वह न
माने। अब वह अति निर्बलावस्था में घरबार सहित यहां
आ गये हैं। मैं कुछ अपनी होम्यो औषधियां दे रहा हूं और

आरम्भ में क्षय रोगी का कफ़ कुछ नमकीन होता है परन्तु बादको उसमें कुछ जी बिगाड़ने वाला मिठास हो जाता है। फेफड़ों के क्षयी रंध्रों से निकला हुआ कफ यदि किसी पात्र में कुछ देर तक रख दिया जाय तो उसके तीन स्तर बन जाते हैं। सबसे ऊपर का स्तर फैनिल होता है, दूसरे अर्थात मध्य स्तर में शलेष्म तरल और सबसे नीचे के स्तर में गाढ़ा कफ बैठ जाता है। क्षय-रोग के अतिरिक्त श्वास नलों के अन्य पुरातन रोगों में भी इस प्रकार का कफ मिलता है। कुछ समवृद्ध पुरातन क्षय-रोगियों में भी कफ बहुत कम या बिलकुल नहीं निकलता। ऐसा सूत्रोन्वण वायुध्मान युक्त क्षय में विशेषतः होता है, यद्यपि इनमें भी समय समय पर अधिक कफ निकलता है। जब क्षयी व्रण पुरने लगते हैं और रंध्र शुष्क होने लगते हैं तो कफ कम आने लगता है यदि ज्वर और खांसी कम हो तो कफ की कमी एक शुभ लक्षण

साथ ही (आपकी हरदा में छपी पुस्तक के अनुसार) सामग्री तय्यार कर के दिन में २ व ३ बार आहुतियां भी दिला रहा हूं। आहुतियों से रोगी को प्रसन्नता होती है। साथ ही खांसी भी कम हो गई है बुखार भी जहां १०३ हो जाता था १००'६ तक आता है। अपने भाई के प्राण बच जायें उसके लिए मैं आपको अतरोली आने का कष्ट देना चाहता हूँ। रोगी ऐसी दशा में नहीं है कि आपके पास लाया जा सके। मैं बड़ी आशा में आपको यह पत्र लिख रहा हूँ...........इत्यादि ।

ऐसे रोगी को देखने के पश्चात् यज्ञ–चिकित्सा कराने से जो लाभ हुआ वह नीचे के पत्र से प्रगट होता है। "यज्ञ-चिकित्सा मेरे भाई के केस में बड़ी सफल हुई वे पिछले सप्ताह ही अलीगढ़ अपनी वकालत प्रारम्भ करने गए हैं। ईश्वर और आपका अनेक सः और कोटिशः धन्यवाद कि उनकी जान बच गई। हः डा. रघुबीरशरण भटनागर, म्युनिसिपल कमिश्नर, अतरोली।

समझा जाता है दूसरी ओर कफ की अधिकता स्वयं सदा बुरा लक्षण नहीं होती। इससे केवल फेफड़ों में रंध्र और उपद्रव रूपी कास रोग अथवा श्वास नलों का फूलना सूचित होता है। कुछ दिनों के बाद कफ वक्ष में जमा होने लगता है और समय समय पर अधिक परिमाण में बिना प्रयास निकलने लगता है। इस दशा में करवट बदलने का इसपर प्रभाव पड़ने लगता है। रक्त निष्ठीवन के समय रक्त स्राव के अनुसार कफ रक्त वर्ण का हो जाता है। रक्त स्राव के बन्द होने के बाद कुछ दिनों तक रक्त के छिछड़े कफ में निकला करते हैं क्योंकि कुछ रक्त रंध्रों और श्वास प्रणालियों में जम जाता है और वह धीरे धीरे निकला करता है। कभी कफ केवल कुछ ललाई लिये होता है। अन्तिम अवस्था में प्रायः कफ पानी सा पतला और कत्थई रंग का हो जाता है। जिसमें वायु के अनेक बुलबुले होते हैं। यह आलू बुखारा के रस के सदृश कफ फुप्फुस-शोथ का द्योतक होता है।

चांवल दानें (Rice bodie)—

कभी कभी थूकदान के तले में छोटे छोटे ज्वार या चांवल के सदृश सफेद दाने पाये जाते हैं। इनको चांवल दाने कहते हैं। ये दाने फेफड़ों से गल गलकर निकले हुए किलाटीप पदार्थ के अंश होते हैं। इन दानों में असंख्य क्षय-कीटाणु होते हैं और वे सक्रिय नाशकारक प्रक्रिया के द्योतक होते हैं।

कंकड़ी—

कभी कभी कफ में रेत या कंकड़ी निकलती हैं। कभी रेत की मात्रा बहुत होती है और थूकदान के तले में भूरे रंग के बालू कण बैठ जाते हैं। कभी कभी रोगी स्वयं यह बतलाते हैं कि उनको मुंह में करकराहट प्रतीत होती है। कोई कोई कंकड़ी बहुत बड़ी होती है और उसके निकलने में बड़ी कठिनाई होती

है। श्वास नल और टेंटुआ उसकी रगड़ से छिल भी जाते हैं और तब कफ़ में कुछ रक्त भी आने लगता है। रोग की साध्या-साध्यता के विचार से उनका कोई विशेष महत्व नहीं होता।

कफ़ की परीक्षा—

डाक्टरी मतानुसार कफ़ की परीक्षा का बड़ा महत्व है। पर उसकी परीक्षा एक डाक्टर ही कर सकता है, जिसे प्रत्येक प्रमाणिक डाक्टर जानता है अतः उसकी विधि इस स्थान पर लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। जो रोगी अपने कफ़ की परीक्षा कराना चाहें वह इस काम के अनुभवी डाक्टर से जांच करालें। कफ़ की परीक्षा के सम्बन्ध में जो बातें जानने योग्य हैं वह लिखी जाती हैं:—

जिन रोगियों को यथार्थ में क्षय-रोग होता है उनमें कफ़ की कई बार परीक्षा करने पर भी क्षय-कीटाणुओं का न मिलना बहुत विरल होता है। कई बार जांच करने से सक्रिय क्षय के अधिकांश रोगियों के कफ़ में क्षय-कीटाणु मिल जाते हैं। पर ऐसा भी होता है कि किसी किसी रोगी में कफ़ की बीस बीस बार परीक्षा करने पर क्षय-कीटाणु मिलते हैं। लेखक को देहली में एक १८ वर्षीय लड़की को देखने को बुलाया गया था जो लग-भग २ वर्ष से बीमार थी। सक्रिय क्षय के सब लक्षण विद्यमान थे पर न तो एक्सरे में रोग चिन्ह मिलते थे और न कफ़ में क्षयी के कृमि पाये जाते थे। अतः कफ़ में क्षय-कीटाणु न मिलने से यह नहीं कहा जा सकता कि इसको क्षय-रोग नहीं है। हां क्षय-कीटाणु मिल जाने से यह निश्चय हो जाता है कि यह रोगी क्षयी का ही है। डा० कोपर का अनुमान है कि कफ़ में क्षय-कीटाणु तभी मिलते हैं जब वे एक घन शतांश मीटर कफ़ में कम से कम एक लाख होते हैं। अनेक लोग कफ़ में क्षय-कीटाणु-

ओं की संख्या पर रोग की तीव्रता का अनुमान करते हैं। पर

यह उनकी भूल है। अनेक रोगी ऐसे होते हैं जिनके कफ में बहुत कम क्षय-कीटाणु होते हैं, फिर भी रोग बड़ा उग्र और प्रगतिशील होता है। दूसरी ओर ऐसे रोगी भी होते हैं जिनके कफ में क्षय-कीटाणु बहुत होते हैं, परन्तु रोग पुरातन और उसकी गति मंद होती है और अंत में वे अच्छे हो जाते हैं। यह बात विशेष करके वृद्धों के क्षय-रोगमें पाई जाती है। उनके कफमें असंख्य क्षय-कीटाणु निकला करते हैं,फिर भी वे वर्षों तक अपेक्षाकृत आराम से जीवित रहते हैं। संभवतः ऐसे रोगियों के फेफड़े में व्रणयुक्त छोटा रंध्र होता है जिसमें कीटाणुओं की वृद्धि होती रहती है ; परन्तु उसके चारों ओर सौत्रिक कोष बन जाने से रोग फैल नहीं सकता।

स्थितिस्थापक सूत्र—

कफ में स्थितिस्थापक सूत्रों (Elastic fibres) का पता लगाना बहुत सुगम होता है। लगभग ६० प्रतिशत रोगियों के कफ में यह मिलते हैं। इसलिये रोग निर्णय में इनका पर्याप्त महत्व होता है। कफ में इन का मिलना फुफ्फुस तन्तु के नष्ट भ्रष्ट होने का द्योतक होता है। रोग के प्रारम्भ में भी कफ में यह सूत्र मिल सकते हैं। किलाटीय गलाव में फुफ्फुस तन्तु के अन्य शेष भाग तो गल जाते हैं, परन्तु यह सूत्र नहीं गलते। फेफड़े के गलाव विद्रधि और उपदंश रोग में भी कफ में यह सूत्र पाये जाते हैं। इसलिये जब रोगी के कफ में ये सूत्र मिलें और उपरोक्त रोगों में से कोई न हों तो क्षय-रोग की सम्भावना अधिक दृढ़ समझनी चाहिये।

स्वर भंग—

क्षय-रोग में किसी न किसी अवस्था में अधिकांश रोगियों का गला बैठ जाता है और कांसे के फूटेहुए बर्तन का सा स्वर हो जाता है। इस दशा को स्वर भेद या स्वर भंग कहते हैं।

पाठ ६

ज्वर

सक्रिय-क्षय में ज्वर का मुख्य स्थान है। पर इस रोग में ज्वर का कोई निश्चित रूप नहीं होता। भिन्न २ रोगियों में भिन्न भिन्न रूप प्रगट करता है और इसी कारण क्षय-रोग के ज्वर का निदान कठिन होता है। ज्वर क्षय-कीटाणुओं से उत्पन्न विषों के शरीर में व्याप्त होने से उत्पन्न होता है। मानव शरीर और क्षय-कीटाणुओं के बीच जीवनसंग्राम में जो जटिल जीवों रासायनिक (Biochemical) प्रक्रियायें होती हैं उनसे शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है। जो ज्वर के रूप में प्रगट होती हैं। क्षय-कीटाणुओं से और नष्ट भ्रष्ट तन्तुओं से जो विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनके प्रतिकार के लिये शरीर की रक्षक शक्ति उत्तेजित हो जाती है और उस विष को शरीर से वाहर निकालना चाहती है और फलतः ताप नियन्त्रक केन्द्र उत्तेजित हो जाता है। अतएव ज्वर कीटाणु और शरीर के संग्राम का सूचक होता है। क्षय-रोग में ज्वर का महत्व ठीक ठीक समझने के लिये यह स्मरण रखना चाहिये कि ज्वर रोग का कारण नहीं होता, प्रत्युत उसकी सक्रिया का परिणाम होता है। जिन रोगियों में रोग सक्रिय होता है उन सब में ज्वर होता है। आगे चलकर विशेषकर सूत्रोन्वण क्षय में ज्वर प्रायः थोड़े २ समय के लिये शांत हो जाता है। परन्तु जब जब रोग का पुनरुद्दीपन होता है अथवा जब रोग में वृद्धि होती है तो ज्वर हो जाता है।

नाड़ी ज्ञान तथा थर्मामीटर—

हमारे देश में प्राचीनकाल से ज्वर को नापने के लिये वैद्य को नाड़ी का ज्ञान होता था,, जिससे सदवैद्य से कभी भूल होने की सम्भावना नहीं थी पर आजकल वह ज्ञान लुप्तप्राय है।

और थर्मामीटर से ज्वर देखने का रिवाज बढ़ता जा रहा है, अतः थर्मामीटर के सम्बन्ध में आवश्यक बातें यहां लिखी जाती हैं :—

थर्मामीटरों में से जिनकी सचाई के प्रमाणपत्र होते हैं ताप देखने पर बहुधा एक या दो डिगरी तक का अन्तर मिलता है। इस सम्बन्ध में एक प्रयोग उल्लेखनीय है :— दो दर्जन थर्मामीटरों को एक साथ गरम पानी में डालकर उनकी परीक्षा की गई। जब उनका ताप देखा गया तो भिन्न २ यन्त्रों में ६६° फ० से लेकर १०१.६ फ० तक का ताप मिला। डा० ब्रेकी की रिपोर्ट है कि ८३ प्रमाणपत्र वाले थर्मामीटरों की जांच करने पर उनको १७ में ३.० से ६.० तक का अन्तर मिला। अस्तु यह स्पष्ट है कि जब हरारत हो या हरारत की शंका हो, तो निर्णय करने के लिये ठीक और विश्वासपूर्ण थर्मामीटर होना चाहिये और कई थर्मामीटरों से देखने के पश्चात् ठीक सम्मति निर्धारित करना चाहिये अथवा नाड़ी का ज्ञान रखने वाले अनुभवी चिकित्सक द्वारा जांच होना चाहिये, अन्यथा रोग की पहिचान करने में भारी भूल होने की संभावना होती है। क्योंकि उपक्रम क्षयमें केवल ज्वर की हरारत होती है। इसलिये ज्वर नापनेमें एक डिगरी (अंश) ताप की भी ऊंच नीच होने से बड़ा अन्तर हो जाता है।

ज्वर देखने की विधि—

बगल में थर्मामीटर लगाकर इस रोग में ज्वर देखने से काम नहीं चलता। बगल का ताप मुख के ताप से एक डिगरी और गुदा ताप से कभी २ दो तीन डिगरी कम होता है। इसलिये जब रोगी को हरारत का सन्देह हो तो गुदा का ताप लेना चाहिए। न हो सके तो मुंह का जो उससे कम तथा बगल से अधिक भरोसे का होता है। और थर्मामीटर कम से कम ७ मिनट तक लगाना चाहिये।

ज्वर दिन में कितनी बार देखना चाहिये—

क्षय रोगी का ताप हर २ घंटा के पश्चात् लेकर लिखना चाहिये। क्योंकि बहुत से रोगी ऐसे होते हैं कि उनको किसी समय एक २ घंटे को ही ज्वर बढ़ता है। किंतु रात में सोते हुए रोगी को ताप लेने के लिए जगाना उचित नहीं है।

प्रकृतिस्थ (आरोग्य) ताप—

बालावस्था में शारीरिक ताप परिमाण स्थिर नहीं होता आरोग्य दशा में भी यह इतना चंचल होता है कि बच्चों का कोई औसत तापमान नियत नहीं किया जा सकता, स्वास्थ्यमें तनिक भी विकार होने पर बच्चों को वयस्कों की अपेक्षा ताप परिमाण कहीं अधिक बढ़ जाता है। बहुत से चिकित्सक बच्चों में १००°० के ताप को, यदि उनमें रोग के अन्य लक्षण विद्यमान न हों अस्वस्थ नहीं समझते। परन्तु जैसे २ आयु बढ़ती जाती है शारीरिक ताप भी स्थिर होता जाता है और प्रौढ़ावस्था पर पहुँचने पर वह चंचल नहीं रहता, केवल रोग से ही घटता बढ़ता है। मुंह में ६८°४° और गुदा में इससे आधी डिगरी अधिक ताप परिमाण प्रकृतिस्थ ताप परिमाण समझा जाता है, परन्तु इससे भी स्वस्थ व्यक्तियों में दैनिक परिवर्तन होते रहते हैं। प्रातःकाल चारपाई से उठने से पूर्व ताप परिमाण लगभग आधी या एक डिगरी कम अर्थात् ६७½ या ६८ होता है। परन्तु उठने के थोड़ी देर बाद ६८ या ६८°५ हो जाता है। और फिर दिन भर यही बना रहता है। कुछ लोगों का प्रकृतिस्थ ताप औसत आरोग्य ताप से कम होता है। इन लोगों में औसत आरोग्य ताप को ज्वर की हरारत समझनी चाहिये ऐसा कभी २ उन क्षय-रोगियों में पाया जाता है जिनका प्रकृतिस्थ ताप कम होता है। इनमें ६६ ताप होते ही ज्वर के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं।

स्वस्थ व्यक्तियों के ताप में परिवर्तन—

परिश्रम करने से शरीर का ताप कुछ बढ़ जाता है। दू तक टहलने से या अधिक परिश्रम करने से शरीर का ताप डिगरी तक बढ़ते देखा गया है। गरम चीजों के खाने या पी के बाद लगभग सदैव कई घंटे तक शरीर का ताप बढ़ जाता है ताप की वृद्धि खाने के १½ घंटे बाद सब से अधिक होती है परन्तु १ डिगरी से अधिक बढ़ती विरले ही होती है। स्त्रियों शारीरिक ताप मासिक धर्म के समय या उससे कुछ पूर्व एक दो डिगरी बढ़ जाता है। परिश्रम से शारीरिक ताप में जो वृद्धि होती है वह स्वस्थ व्यक्तियों में बहुत थोड़ी देर रहती है। आध घंटे से एक घंटे के भीतर वह फिर कम होकर अपनी वास्तवि अवस्था को पहुँच जाती है।

मनुष्य की चित्त-वृत्ति का भी शारीरिक ताप पर प्रभाव पड़ता है। चित्तोद्वेग से, विशेषकर स्त्रियों में शारीरिक ताप ए या दो डिगरी बढ़ जाता है। जब क्षय-रोग की आशंका होती तो ताप परिमाण देखते समय घबराहट से ताप कुछ बढ़ जाता है। इसलिये चंचल स्वभाववाली स्त्रियों में केवल तापमान प्रारम्भिक क्षय का निश्चय करने में बड़ी सावधानी की आव श्यकता होती है। हाल में इस विषय का अनुशीलन करते समय डा० विन को पता लगा है कि स्वस्थ व्यक्तियों में मानसि प्रभावों से शरीर का ताप बढ़ जाता है। उन्होंने दो बार बहु से लोगों की जांच करके देखा है कि घबराहट संशय और चिंत की दशाओं में। जैसे विद्यार्थियों में परीक्षा के समय, अधिकांश लोगों के शरीर का ताप बढ़ जाता है। चिंता या समस्या जितनी अधिक गम्भीर होती है, ताप उतना ही अधिक बढ़ता है। प्रायः प्रसिद्ध भी है कि अमुक बात सुनने से बुखार आ गया। पशुओं में भी यह देखा गया है कि घबराहट से शारीरि

ताप बढ़ जाता है। डा० मोर ने पता लगाया है कि चीड़ फाड़ के लिये खरगोश को जब तख्ते से बांध दिया जाता है तो घव-राहट से उसके शरीर का ताप बढ़ जाता। कुछ लोगों में जो रात को काम करते हैं और दिन में सोते हैं, ताप का दैनिक क्रम उल्टा हो जाता है। अर्थात् उनका ताप प्रातःकाल अधिक और सायंकाल कम हो जाता है। जब उपक्रांत क्षय-रोग का सन्देह हो तो निर्णय करने के लिये चलने फिरने वाले या काम करने वाले व्यक्तियों में ९८.४ मुखताप तथा ९९ गुदा ताप को आरोग्य ताप मानना निरापद होता है। प्रातःकाल उठने से पूर्व ताप इससे आधी या एक डिगरी कम और शाम को अथवा परिश्रम के बाद आधी डिगरी कम हो सकता है। परन्तु इससे अधिक मिले तो उसका कारण खोजना चाहिए और यदि अन्य कारण न मिले तो क्षय-रोग की सम्भावना समझनी चाहिये।

प्रारम्भिक क्षय में ज्वर—

यदि उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर शरीर का ताप देखा जाय तो पता लगेगा कि हरारत या ज्वर सक्रिय क्षय-रोग के विकास का रोग की उपक्रांत अवस्था में विशिष्ट लक्षण होता है और ज्वर का अभाव सक्रिय रोग के न होने का द्योतक होता है। जो क्षय-रोगी देखने में ज्वर रहित प्रतीत होते हैं उनमें से अनेकों में ज्वर न मिलने का कारण प्रायः ज्वर नापने की विधि में त्रुटि होती है। रोगी का दोपहर के बाद घंटे दो घंटे के लिये किसी समय थोड़ीसी हरारत हो जाती है। यदि उस समय ज्वर न देखा जाय और केवल सुबह शाम देखा जाय जैसा कि साधारणतः किया जाता है, तो हरारत का पता नहीं चल सकता। क्षय रोगियों का ताप बड़ा चंचल होता है। चित्तोद्वेग अथवा थोड़े से परिश्रम से तत्काल बढ़ जाता है। इसी प्रकार स्वस्थ मनुष्यों का ताप भी चंचल होता है। परन्तु दोनों में अन्तर

इतना होता है कि जिस परिश्रम से स्वस्थ मनुष्यों में ताप बढ़ता है, उसको छोड़ने के बाद आधा या अधिक से अधिक एक घंटे में ताप कम हो जाता है. परन्तु उतने ही परिश्रम से क्षय-रोगी में जो ताप बढ़ता है वह इतनी शीघ्र कम नहीं होता।

प्रातःकाल स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा क्षय-रोगी के ताप में कभी २ अधिक कमी हो जाती है अर्थात् ९६·६ अथवा ९७डिग्री हो जाता है। क्षय-रोग में केवल ताप की अधिकता ही नहीं देखनी चाहिये,परन्तु यह भी देखना चाहिये कि दिन रात में कम से कम और अधिक से अधिक ताप कितना होता है। स्वस्थ मनुष्यों में इन दोनों तापों में केवल एक डिग्री का अन्तर होता है। परन्तु क्षयी-रोगियों में दो या इससे अधिक डिगरी का अन्तर होता है।

ज्वर के लक्षण—

अन्य प्रकार की हरारतों से क्षय-रोग की हरारत की पहिचान सहगामी लक्षणों से भी की जा सकती है और यह लक्षण अधिकांश प्रारम्भिक क्षय-रोगियों में पाये जाते हैं। अन्य सब हरारतों में नाड़ी की गति हरारत के अनुसार तेज होती है। परन्तु क्षय-रोगी की हरारत में नाड़ी की गति अपेक्षाकृत कहीं अधिक तेज होती है। अनेक क्षय-रोगियों को हरारत आने से पूर्व कुछ ठंड लगती है। उनका चेहरा पीला हो जाता है और हाथ पैर कुछ ठंडे हो जाते हैं। ज्वर आने पर चेहरा तमक उठता है। नेत्रों में एक विशेष चमक आ जाती है। जिसको अनुभवी चिकित्सक पहिचान सकते हैं, और रोगी को गरमी प्रतीत होने लगती है। इसके अतिरिक्त हाथ पैर और नेत्रों में जलन और शिरमें कुछ पीड़ा होने लगती है। आलस्य बढ़ जाता है और काम करने को जी नहीं चाहता। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखने योग्य यह है कि इन सब लक्षणों के होते हुए

भी शाम को रोगी की भूख कम नहीं होती। भोजन में अरुचि प्रारम्भिक क्षय को छोड़कर अन्य सब रोगों के ज्वर में पाई जाती है। ज्वर के प्रति क्षय-रोगी की सहिष्णुता इस बात से प्रगट होती है कि वह स्वस्थ लोगों की भांति दिन भर काम करता है और रात को भली प्रकार सोता है, केवल ज्वर के समय उसको कुछ आलस्य हो जाता है। कुछ रोगियों को रात में पसीना आता है जो कभी कभी इतना अधिक होता है कि रोगी बिलकुल तर हो जाता है।

अप्रत्यक्ष ज्वर—

उपरोक्त लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में सब क्षय-रोगियों में पाये जाते हैं। प्रारम्भिक क्षय में भी विरले ही उनका अभाव होता है। अन्य कारणों से उत्पन्न हरारतों से क्षय-रोग की हरारत की पहिचान करने में यह लक्षण बड़े सहायक और पथ प्रदर्शक होते हैं। वस्तुतः तीसरे पहर का आलस्य क्षय-रोगियों की विष व्याप्ति का इतना विशिष्ट लक्षण होता है कि वह प्रायः उन सम्प्राप्त रोगियों में भी मिलता है जिनमें ज्वर नहीं होता। ऐसे रोगियों के ज्वर को जिनका ताप परिमाण नहीं बढ़ता, परन्तु जिनमें हरारत के लक्षण होते हैं अप्रत्यक्ष ज्वर कहते हैं। यह ज्वर क्षय-रोग के प्रारम्भ में भी कुछ रोगियों में देखने में आता है। यही कारण है कि क्षय-रोगियों की चिकित्सा में अकेले थर्मामीटर पर ही अधिक भरोसा नहीं करना चाहिये। कभी कभी अप्रत्यक्ष ज्वर का उलटा भी देखने में आता है, अर्थात् रोगी का ताप बढ़ जाता है, पर विष व्याप्ति के अन्य लक्षण नहीं होते। ऐसे रोगियों का भविष्य बहुत अच्छा होता है।

प्रकुपित ज्वर—

क्षय-रोग में ताप केन्द्र बड़ी सुगमता से उत्तेजित हो

जाता है, फलतः क्षय-रोगी का ताप चंचल और अस्थिर होता है। जिन बातों का साधारण निरोग लोगों के ताप पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता, उनसे क्षय-रोगी का ताप सुगमता से बढ़ जाता है। भोजन, परिश्रम, चिन्ता, क्षोभ, शोक और सन्ताप से क्षय-रोगियों का ज्वर दो तीन डिगरी तक बढ़ जाता है। परीक्षा करते समय बहुत से क्षय-रोगियों का ताप बढ़ जाता है। स्थान परिवर्तन और रेल यात्रा से भी रोगी का ताप बढ़ जाता है।

जिन रोगियों में क्षय रोग के आरम्भ का सन्देह हो, उनमें रोग का निर्णय करने में इस प्रकुपित ज्वर का उपयोग किया जा सकता है। जब किसी रोगी में क्षय-रोग के अनिश्चित लक्षण और चिन्ह मिलें तो परिश्रम करने से पहिले और बाद को उसका ताप देखना चाहिये और यदि परिश्रम से उसका ताप एक डिगरी या अधिक बढ़ जाय तो उपक्रान्त क्षय की बहुत बड़ी सम्भावना समझनी चाहिये। साधारणतः रोगी को दो मील चलाकर देखते हैं कि क्या प्रभाव होता है। यदि चलने के बाद रोगी का ताप एक डिगरी या इससे अधिक बढ़ जाय तो उससे क्षय-रोग की ओर संकेत होता है। डा० डरेमवर्ग का तो मत है कि यह परीक्षा निश्चयात्मक होती है। यदि साथ में अन्य लक्षण भी हों तो यह बड़ी मूल्यवान होती है। निरोग मनुष्यों में भी परिश्रम से शारीरक ताप कुछ बढ़ जाता है परन्तु परिश्रम छोड़ने पर आध घंटे में कम हो जाता है। इसके प्रतिकूल क्षय-रोगी का बढ़ा हुआ ताप दो घंटे से भी अधिक देर तक बना रहता है।

मासिक ज्वर—

क्षयी-स्त्रियों में ऋतुकाल में ज्वर अधिक हो जाता है परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि कुछ क्षय-रहित स्त्रियों में

भी ऋतुकाल या उससे पूर्व शारीरिक ताप कुछ बढ़ जाता है। परन्तु क्षय-रोगियों में केवल ताप ही नहीं बढ़ता, किन्तु उसके साथ कभी कभी रोग स्थान पर क्वर्णा (Rales) की संख्या भी बढ़ जाती है और रक्त निष्ठीवन तथा पार्श्व-शूल भी होने लगता है। डा० मैश का कहना है कि जिन रोगियों में साधारणतः हरारत नहीं होती, उनमें ऋतुकाल में हरारत उत्पन्न हो जाती है और जिनमें पहिले से कुछ हरारत होती है उनमें बढ़ जाती है। हरारत की यह वृद्धि प्रारम्भिक और सम्प्राप्त दोनों प्रकार के रोगियों में होती है। प्रारम्भिक रोग में रोग का निर्णय करने में यह वृद्धि बहुत महत्वपूर्ण होती है। यदि किसी स्त्री में बार बार ऋतुकाल में हरारत हो जाती हो और उसके जननेन्द्रियों में कोई रोग न मिले तो क्षय-रोग का सन्देह करना चाहिये।

अधिकांश रोगियों में रज स्राव होने पर ज्वर कम हो जाता है। ऋतु कालिक ज्वर कुछ घंटों से लेकर कई दिनों तक रहता है। डा. सैरोरिन ने पता लगाया है कि कुछ स्त्रियों में मासिक ज्वर तीन सप्ताह तक रहता है और आगामी मासिक धर्म से केवल एक सप्ताह पहिले बन्द होता है। यह ज्वर बड़ा भयंकर होता है। सैबोरिन के कथनानुसार अपने मासिक धर्मों से ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। बहुत से विशेषज्ञों का मत है कि मासिक धर्म से पूर्व की हरारत गुप्त या सक्रिय क्षय की द्योतक होती है। इसलिये जिन स्त्रियों में क्षय-रोग का सन्देह हो उनमें उसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह हरारत मासिक धर्म के प्रारम्भ से कुछ दिन पहिले से होती है और ऋतुकाल भर रहती है। इस बात पर विचार करते हुये कि क्षयी स्त्रियों में ४०-५० प्रतिशत में ऋतुकालिक या पूर्व ऋतुकालिक ज्वर होता है और निरोग स्त्रियों में बहुत कम होता है। इन लेखकों का मत

है कि रोग का निर्णय करने में यह एक बड़ा महत्वपूर्ण लक्षण होता है। यदि ऋतुकालिक ज्वर न हो तो सक्रिय रोग नहीं समझना चाहिये।

डा. मैश के मतानुसार ऋतुकालिक ज्वर का तेज होना बुरा होता है। दूसरी ओर इस का न होना या कम होना रोग की निवृत्ति या शमन का चिन्ह होता है।

क्षय रोग में ज्वर के मूल्य का निर्धारण—

साधारण पुरातन क्षय-रोग की उपक्रांत अवस्था में केवल थोड़ी सी हरारत होती है। यदि लगातार सप्ताह दो सप्ताह तक हर दो घंटे पर थर्मामीटर लगाकर न देखी जाय तो उसका पता नहीं लगता। तीसरे पहर रोगी को जो सुस्ती मालूम होती है उसको लोग स्नायविक दुर्बलता और भोजन की अरुचि को मन्दाग्नि समझ लेते हैं। फलतः रोग के वास्तविक कारण की ओर ध्यान न जाने से उसका पता नहीं लगता। कभी २ रात को हरारत होती है इसलिये उसका पता नहीं लगता। कभी ज्वर का क्रम उलटा होता है, अर्थात् ज्वर शाम के बजाय सबेरे होता है। यह अच्छा लक्षण नहीं समझा जाता। एक दो दिन के लिए हरारत का हो जाना सक्रिय क्षय-रोग का प्रमाण नहीं होता. क्योंकि अन्य कारणों से भी एक दो दिन व दस दिन के लिये हरारत हो सकती है। इसके अतिरिक्त उपक्रांत क्षय-रोग में भी कभी २ कई दिन तक हरारत नहीं रहती। इसलिये जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो निर्णय करने से पूर्व दो तीन सप्ताह तक लगातार ताप देखना चाहिये और उसका एक रेखा चित्र (Chart) बना लेना चाहिये। ऐसा रेखा चित्र रोग के पहिचान की अच्छी कसौटी होती है।

तीसरे पहर की हरारत, जो प्रारम्भिक क्षय का विशिष्ट लक्षण होती है केवल क्षय-रोग में ही नहीं पाई जाती, बल्कि

अनेक दशाओं में भी ऐसी ही क्षय-रोग की सी हरारत सप्ताहों तक रहती है। इसलिये जब तक फेफड़े के विकार के अन्य लक्षण और चिन्ह न मिलें तब तक केवल हरारत से ही क्षय-रोग का निश्चय नहीं कर लेना चाहिये। तीसरे पहर की ऐसी हरारतें जिनका कारण क्षय-रोग नहीं होता, प्रधानतः स्त्रियों में पाई जाती है। रक्त की कमी, नाक की श्लेष्म कला का पुरातन प्रदाह, दांतों की जड़ से पीव का निकलना, कंठ के पुरातन विकार, कान का बहना, श्वास नलों का फूलना, वृक्क, स्त्रियों की जननेन्द्रियों और यकृत के विकार और उपदंश इत्यादि अनेक कारणों से हरारत हो सकती है।

क्षय-ज्वर की दशा में अनेक रोगियों का वजन कम होने लगता है परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता, ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं। जिनका वज़न ज्वर की दशामें भी बढ़ता है। बहुत से चिकित्सक रोगी की दशा का निर्णय करने में उसके ज्वर की अपेक्षा वजन पर अधिक ध्यान देते हैं। यह उनकी भूल है। ऐसे भीरोगी होते हैं जिनका वज़न तो स्थायी अथवा बढ़ता रहता है पर साथ ही फेफड़े में रोग भी बढ़ता रहता है। यह बहुधा ऐसे रोगी होते हैं जिनको ज्वर रात को बढ़ता है, तो न अकेले ज्वर को और न अकेले वज़न को ही रोग की साध्यासाध्यता की कसौटी मानना चाहिये, किन्तु सब रोग लक्षणों और रोग चिन्हों पर एक साथ विचार करके रोगी की दशा का निर्णय करना चाहिये।

दूसरी ओर ज्वरका अभाव अधिकांश रोगियों में अच्छा लक्षण होता है। परन्तु यह सदैव रोग के हल्के पन का निश्चयात्मक प्रमाण नहीं होता, विशेषकर जब सक्रिय रोग के अन्य लक्षण विद्यमान हों। ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं जिनका ज्वर १०१ से ऊपर कभी नहीं आता फिर भी अरुचि, कृशता, खांसी, रक्त निष्ठीवन इत्यादि लक्षणों से उनकी मृत्यु हो जाती

है। ऐसा विशेषकर उन रोगियों में होता है जो कुछ वर्ष तक चलते हैं। उनमें रोग के प्रति कुछ सहिष्णुता आ जाती है।

क्षय-रोग में ज्वर के विविध रूप—

प्रगतिशील और सम्वृद्ध क्षय में ज्वर का कोई विशेष क्रम जैसा मलेरिया इत्यादि कई रोगों में होता है नहीं होता। भिन्न भिन्न रोगियों में और एक ही रोगी में भिन्न भिन्न समय में रोग की तेजी, पूयजनक कीटाणुओं केमिश्रित संक्रमण, फुफ्फुस तन्तु के गलाव, गले हुए तन्तुओं के बाहर निकलने की सुविधा और क्षयी-कीटाणुओं का रक्त में संचार इत्यादि के अनुसार विभिन्न प्रकार का ज्वर होता है। बहुधा एक ही रोगी में विभिन्न समयों पर ज्वर के विविध रूप देखने में आते हैं, जो एक दूसरे में यकायक या शनैः २ परिणित हो जाते हैं। अतएव किसी भी ज्वर को क्षय का लाक्षणिक ज्वर नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी कुछ ताप क्रम ऐसे मिलते हैं जो रोगी की दशा, उपद्रव और साध्यासाध्यता का पता लगाने में पथ प्रदर्शक का काम करते हैं।

क्षय-रोग में साधारणतः दोपहर के पश्चात् ज्वर होता है और इसकी न्यूनाधिकता रोग की तेजी पर निर्भर होती है। जैसा पहिले कहा जा चुका है, प्रारम्भिक क्षय में केवल थोड़ी सी हरारत होती है। परन्तु जैसे जैसे रोग में वृद्धि होती है ज्वर भी अधिक होता जाता है।

अविरत ज्वर—

अविरत ज्वर विशेष रूप से विस्तृत स्रावक या श्वास नल,फुफ्फुस, प्रदाह रूपी रोग में, उग्र फुफ्फुस प्रदाह रूपी क्षय रोग में बच्चों के श्वास-नल, फुफ्फुस,प्रदाहरूपी क्षय में और में सर्वाङ्गिक बजरीले क्षय-रोग में होता है। पुरातन क्षय-रोग में

जब रोगी की दशा सुधर रही हो। यदि रक्त निष्ठीवन के बाद या बिना किसी ज्ञात कारण के ज्वर अविरत हो जाय, तो समझना चाहिये कि फेफड़े में रोग बढ़ गया है और यदि यह अविरत ज्वर तीन या चार सप्ताह से अधिक रहे, तो रोगी का भविष्य शोचनीय और उसकी मृत्यु सन्निकट समझनी चाहिये। सम्भव है ऐसे रोगियों में से कुछ की दशा थोड़ी बहुत सुधर जाय, परन्तु वे अच्छे नहीं हो सकते। श्वास कष्ट, श्यामता और शक्तिपात के साथ अवरित ज्वर वजरीले या उग्र प्रहार रूपी क्षय का, जो कि पुरातन क्षय की बहुधा अन्तिम घटना होती है, द्योतक होता है।

तरंगित ज्वर—

पुरातन राजयक्ष्मा के अनेक रोगियों में ज्वर तरंगित होता है। रोगी ज्वर से मुक्त तो कभी नहीं होता, परन्तु सप्ताह में दो या तीन दिन ज्वर १०२'५ या १०३ तक पहुँच जाता है और शेष ४ या पांच दिन १०० या १०१ रहता है। इस प्रकार की ज्वर की तरंगें समय २ पर महिनों तक आती रहती हैं। इस प्रकार का ज्वर उन रोगियों में पाया जाता है जिनमें पुराने रोग-केन्द्रों में गलाव होने लगता है अथवा रोग फैलने लगता है। ज्वर का प्रत्येक चढ़ाव नये भाग का रोगक्रांत होना सूचित करता है और अनेक रोगियों में इसका पता वक्ष की परीक्षा से चल सकता है।

विषम ताप—(Hectic Fever)

प्रगतिशील रोग में उपरोक्त प्रकार के ज्वरों के अन्त में विषम ताप हो जाता है जिन रोगियों के फेफड़ों में गलाव हो जाता है और गला हुआ तन्तु धीरे धीरे छूटकर रंध्र बनते जाते हैं, उनमें ताप के रेखा चित्र के देखने से इसका पता लग जाता है। प्रातःकाल ज्वर बहुत कम हो जाता है और प्रायः आरोग्य

ताप से भी कम हो जाता है। दोपहर के बाद कुछ सर्दी लगती है या बड़े ज़ोर का जाड़ा आता है। नाड़ी जो ज्वर रहित काल में कमज़ोर और शीघ्र गामी होती है, और भी अधिक तेज़ हो जाती है। शरीर का ताप बढ़ने लगता है १०४ तक पहुँच जाता है। ऐसे रोगियों में रात्रि स्वेद बहुत होता है, जिससे रोगी शिथिल हो जाता है। इन विषम ताप के रोगियों में ज्वर की सबसे अधिक तेज़ी का समय भिन्न भिन्न होता है। बहुधा तीसरे पहर ज्वर सबसे अधिक होता है, पर कभीर दोपहर को ही अधिक होता है और सायंकाल तक उतर जाता है। ऐसे रोगियों में ज्वर यदि केवल सबेरे और सायंकाल को ही देखा जाय, तो इसका पता नहीं लग सकता, इस प्रकार का विषम ज्वर कई सप्ताहों एवं महिनों तक रहता है। इस काल में ज्वर से और उसके सह गामी अरुचि और अतिसार के कारण रोगी का शरीर क्षीण होकर केवल अस्थि कंकाल शेष रह जाता है। गीले और मटीले चमड़े से ढके हुए अस्थि पञ्जर, पैरों पर सूजन, नख और होंठों पर नीलापन, बैठी हुई आंखें तथा पिचके हुए गालों से रोगी की दयनीय दशा को देखकर चिकित्सक भी प्रायः निरुत्साहित हो जाता है और समय काटने के लिये औषधियां देता है परन्तु इन रोगियोंमें एकबात ध्यान देने योग्य यह होती है कि शरीर इतना क्षीण होने पर भी मेधा शक्ति ठीक बनी रहती और रोगी निराश नहीं होते। खांसी, अतिसार इत्यादि किसी सामान्य लक्षण के निवारण के लिये प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि यदि उनके इस लक्षण का निवारण हो जाय तो उनकी तबियत बहुत अच्छी हो जाय, इनमें भी दो प्रकार के रोगी होते हैं एक वह कि जब ऐसे समय में उन्हें बाथ देने, यज्ञ करने, वस्ती कर्म करने इत्यादि चिकित्सा सम्बन्धी उपायों के करने को कहा जाता है तो बड़ी श्रद्धा और उत्साह के साथ हर काम करने और पथ्य में भी चिकित्सक की आज्ञानुसार नियम पालन करने को

होते हैं और वैसा ही करते भी हैं। ऐसे रोगी प्रायः इस बुरी और अंतिम दशा से भी बचकर रोग मुक्त हो जाते हैं। दूसरे ऐसे होते हैं जो चाहते हैं कि जो कुछ करना है वह सब चिकित्सक ही कर दे अर्थात् कोई रामबाण दवा पिला दे, कोई बूटी लाकर सुंघा दे अथवा इञ्जेकशन दे और रोग भाग जावे, किसी क्रिया के करने को कहा जाता है तो ध्यान से सुनते भी नहीं और पहिले कुछ अच्छे हो जावें तब उसे करने को उद्यत होते हैं। ऐसे रोगी कभी अच्छे नहीं होते।

अंतिम अवस्था में कभी कभी ज्वर अनियमित रूप का हो जाता है। एक दिन का ज्वर दूसरे दिन के ज्वर से भिन्न होता है। सोगमैन का कहना है कि अनियमित ज्वर यदि रोग की प्रारम्भिक अवस्था में मिले तो वह आंतों के क्षय का अच्छा चिन्ह होता है।

निम्नारोग्य ताप—(Sub normal Temperature)

अनेक क्षय-रोगियों में प्रातःकाल जो निम्नारोग्य ताप होता है, उसका वर्णन किया जा चुका है। परन्तु रोग की सम्वृद्ध अवस्था में भी बहुत से रोगी ऐसे मिलते हैं जिनके शरीर का ताप महीनों तक दिन रात प्रकृतिस्थ तापसे कम रहता है। ६८·५ से अधिक कभी नहीं होता। प्रातःकाल बहुधा ६६ व ६७ हो जाता है। रोग सक्रिय और प्रगतिशील होने पर भी ताप-मापक-यन्त्र से उसकी कोई सूचना नहीं मिलती। यह साधारणतः फेफड़ों में रंध्रनिर्माण का द्योतक होता है। सक्रिय सूत्रोत्पण क्षय के अनेक रोगियों में शरीर का ताप प्रकृतिस्थ ताप से कम रहता है। वायुध्मान के अनेक रोगियों में भी, जब क्षय-रोग होता है तो ज्वर नहीं होता। ये दोनों प्रकार के क्षय पुरातन होते हैं और उनकी गति बड़ी मन्द होती है। रोगी वर्षों तक जीवित रहते हैं, परन्तु बिलकुल अच्छे नहीं होते।

ऐसा विशेषज्ञों का मत है पर देखा गया है कि प्राकृतिक यक्ष्म-चिकित्सा से इस प्रकार के रोगी सबसे अधिक संख्या में आरोग्य होते हैं।

ज्वर वाले रोगी में ज्वर का यकायक कम हो जाना और उसके साथ श्वास कष्ट और श्यामता का होना, अरिष्ट का चिन्ह होता है। यह स्वाभाविक वायु क्षय (Sponteneous Pneumothorax) का होना रोग का एकदम बहुत फैलना अथवा उपद्रव रूप उग्र वजरीले क्षय का होना सूचित करता है। उपरोक्त तीनों बातों में से चाहे कोई भी हो रोगी की दशा बड़ी गंभीर समझनी चाहिये।

अनेक दुर्बल क्षय-रोगियों में मृत्यु से कुछ दिन पूर्व शारीरिक ताप निम्नारोग्य हो जाता है।

ज्वर विहीन क्षय—

पुरातन क्षय के अनेक रोगियों में महीनों तक ज्वर नहीं रहता, यद्यपि फेफड़ों में क्षयी प्रक्रिया जारी रहती है। सूत्रोल्वण क्षय, वार्द्धक्य क्षय और पार्श्व कला के क्षय में ऐसा पाया जाता है। ऐसे रोगी १५ या २० वर्ष तक जीवित बने रह सकते हैं और थोड़ा बहुत काम भी कर सकते हैं। ये क्षय-कीटाणुओं के वितरण के बड़े महत्वपूर्ण साधन होते हैं। ऐसे रोगी प्रधानतः या तो अच्छी आर्थिक दशा वाले होते हैं जो बेकार बैठे रह सकते हैं अथवा निर्धन होते हैं जो क्षय-रोग के अस्पतालों में वर्षोंपड़े रहते हैं। मध्य श्रेणी के वे होते हैं जो अपनी देखभाल कर सकते हैं कुछ व्यवसायी होते हैं जो कम परिश्रम का व्यवसाय करते रहते हैं। ऐसे रोगी प्रायः दुबले पतले होते हैं। फेफड़ों में सूत्रनिर्माण और हृदय में वसावृद्धि होने के कारण उनको साधारणतः श्वास कष्ट होता रहता है।

एक सिविल सर्जन को इसी प्रकार का क्षय हो गया था। उन्होंने नौकरी छोड़ दी और एक बड़े नगर में अपना मेडीकल हाल खोल दिया वहां जाड़ों में वह प्रैकटिस भी करते थे तथा गर्मी में पहाड़पर जाकर आराम करते, प्राकृतिक जीवन विताते कुछ और कष्ट होने पर होम्योपैथिक औषधि का सेवन करते इस प्रकार वह रोग हो जाने के २५ वर्ष पश्चात् मरे और इन २५ वर्षों में भी प्रायः प्रसन्न चित्त रहे विषय वासना और अप्राकृतिक भोजन इत्यादि को उन्होंने छोड़ रक्खा था।

भिन्न भिन्न क्षय-रोगियों की प्रतिकार शक्ति में बड़ा अन्तर होता है यद्यपि साधारणतः ज्वर रोग की तेजी का द्योतक होता है परन्तु कुछ लोगों की प्रतिकार शक्ति इतनी कम होती है कि रोग के तेज होनेपर भी ज्वर बहुत कम होता है या होता ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि ज्वर का अभाव या कमी सर्वदा रोग की कमी की सूचक नहीं होती। इसलिये ज्वर के साथ रोग प्रगति के अन्य लक्षणों का भी ध्यान रखना चाहिये। कभी कभी वृद्ध क्षय रोगियों में ज्वर नहीं होता और चूंकि उनमें खांसी भी बहुत कम होती है इसलिये रोग का कभी कभी पता नहीं लगता।

उपद्रवों के कारण ज्वर—

क्षय-रोग में ज्वर की गति सदा एक सी नहीं रहती ज्वर घटता बढ़ता रहता है। जब जब रोग में वृद्धि होती है, ज्वर बढ़ जाता है। जैसे जैसे रोग अच्छा होने लगता है, ज्वर भी घटने लगता है। इसके अतिरिक्त बीच २ में उपद्रव उत्पन्न होने से भी ज्वर बढ़ जाता है। उदाहरण के लिये क्षय-रोगी को शीत ज्वर होने पर ज्वर यकायक बढ़ जाता है। कब्ज या मन्दाग्नि, कंठ पाक, इन्फुल्एञ्जा अथवा पार्श्वकला के प्रदाहसे ज्वर अधिक हो जाता है। कभी २ एलोपैथिक औषधियों, विशेषकर शामनकारी और निद्रा लाने वाली औषधियों के देने से भी क्षय-रोग का ज्वर,

अधिक हो जाता है। कितने ही बार देखा गया है कि अफीम या इसका कोई योगिक देने पर अथवा अन्य कोई नींद लाने वाली औषधि देने पर दूसरे दिन ज्वर कुछ अधिक हो जाता है परन्तु ऐसा ज्वर बहुधा एक दिन रहता है औषधियों की पिच-कारी लगाने पर प्रायः ज्वर कुछ बढ़ जाता है।

रोग निर्णय और साध्यासाध्यता विचार में ज्वर का मूल्य—

सारांश यह है कि यदि किसी व्यक्ति को तीसरे पहर एक सप्ताह तक ज्वर की हरारत होती रहे और उसका कोई अन्य कारण न मिले तो क्षय-रोग की सम्भावना समझनी चाहिये। यदि साधारण परिश्रम से हरारत उत्पन्न हो जाय अथवा बढ़ जाय और आराम करने पर वह एक घंटे के अन्दर शांत न हो तो रोगी को क्षय-रोग हुआ समझना चाहिये। यदि हरारत के साथ रात्रि स्वेद, आलस्य, वजन का घटना, खांसी और कफ इत्यादि अन्य लक्षण भी हों तो क्षय-रोग का निश्चय समझना चाहिये, चाहे परीक्षा करने पर फेफड़ों में क्षय-रोग का कोई चिन्ह न भी मिले। यदि प्रातःकाल का ताप-औसत आरोग्य ताप से कम हो तो रोग का निश्चय और भी दृढ़ हो जाता है। ताप और नाड़ी की चंचलता हर एक क्षय-रोगी में पाई जाती है. परन्तु यह क्षय-रोग का लाक्षणिक चिन्ह नहीं होता, क्योंकि परिश्रम से हर व्यक्ति में जिसमें कहीं भी और किसी भी प्रकार का संक्रमण होता है, शारीरिक ताप बढ़ जाता है। पिंगल नाड़ी मंडल और प्रणाली विहीन ग्रन्थियों में विकार होने से भी ताप और नाड़ी चञ्चल हो जाती है। चुल्लिका ग्रंथि की तेजी में ऐसा विशेषकर के होता है। इस रोग में क्षय-रोग के से तीव्रगामी नाड़ी, कृशता, खांसी, स्वेद, थकावट इत्यादि लक्षण भी होते हैं। इसलिये इन दोनों रोगों की परस्पर पहचान करना कभी कभी बड़ा कठिन होता है पर आगे आयुर्वेद मत से क्षय के

का अन्य ज्वरों से जो प्रभेद बताया जावेगा उससे इसके निदान में सहायता मिल सकती है।

क्षय-रोग में दिन भर तेज़ ज्वर का रहना और कभी न उतरना तथा दोपहर के बाद और भी बढ़ जाना फेफड़े में रोग की बढ़ती हुई तेज़ीका द्योतक होता है। जब प्रातःकाल ज्वर उतर जाय और दिन में न आवे, केवल सायंकाल को १०० या १०१ तक हो जाय तो रोग की प्रगति मन्द या रुकी हुई समझना चाहिए। तेज़ अविरत ज्वर १०३ या इससे अधिक फेफड़ों के रोग का विस्तीर्ण होना सूचित करता है यदि इस प्रकार का ज्वर लगातार एक मास से अधिक रहे तो रोगी की दशा बड़ी शोचनीय समझना चाहिये। इस हालत में रोगी की दशा यदि कुछ सुधरने भी लगे तो भी डाक्टरी मतानुसार वह अच्छा नहीं हो सकता पर प्राकृतिक यक्ष्म-चिकित्सा से ऐसे रोगी अवश्य ठीक हो सकते हैं। हां चिकित्सक की योग्यता और अनुभव का होना जरूरी है। विषम ताप जो प्रातःकाल बिलकुल उतर जाता है और आरोग्य ताप से भी कम हो जाता है तथा दोपहर को या दोपहर के बाद बहुत तेज अर्थात् १०३ या १०४ हो जाता है बुरा लक्षण होता है। रोगी महीनों तक भले ही जीवित बना रहे पर अन्त में अच्छा नहीं होता। ऐसा डाक्टरी मत है पर प्राकृतिक यक्ष्म चिकित्सा से इस प्रकार के रोगी भी कुछ कठिनता के साथ आरोग्य हो सकते हैं।

अधिकांश रोगियों में ज्वर का अभाव रोगी का अच्छा होना या उसकी दशा का सुधरना सूचित करता है। परन्तु इस बात में अनेक अपवाद भी होते हैं। इसलिये साध्यासाध्य विचार में अन्य लक्षणों का भी विचार करना चाहिए, ज्वर का एकदम कम हो जाना बुरा लक्षण है।

पाठ १०

रक्त निष्ठीवन

कुछ लोग क्षय-रोग में रक्त निष्ठीवन अनिवार्य समझ हैं। पर ऐसा नहीं है अनेक रोगियों में आदि से अंत तक निष्ठीवन नहीं होता। दूसरी ओर क्षय-रोग के अतिरिक्त कारणों से भी रक्त निष्ठीवन हो सकता है। कुछ डाक्टरों केवल २५ प्रतिशत और कुछ को ८० प्रतिशत क्षय-रोगियों रक्त निष्ठीवन मिला है। डा० सोकोलवस्की का कहना है ऐसे सम्वृद्ध क्षय-रोगी बहुत कम पाये जाते हैं जिनके कभी रक्त न आया हो। विलियम्स को ७० प्रतिशत रोगियों और काड़ी को केवल २४ प्रतिशत में और फिलाडेल्फिया के क्रिप्स आरोग्यशाला में ४४६६ रोगियों में से ४९.९ प्रति में रक्त निष्ठीवन मिला था। हमारी सम्मति में भी आरोग्य शाला की यह संख्या ही अधिक ठीक जान पड़ती है।

फुप्फुस तन्तु का उग्र प्रदाह, रक्त,नाड़ी की दीवार में और रक्त नाड़ियों में रक्त कोष का बनना क्षय-रोग में रक्त निष्ठी वन के प्रधान कारण होते हैं। रोगके प्रारम्भ में जो रक्तनिष्ठीव होता है वह प्रायः फेफड़ों में उग्र प्रदाह होने से होता है। साधा रणतः उग्र प्रदाह में फुप्फुस तन्तु में रक्त वष्टम्भ (Congestion) हो जाने से रक्त स्राव होता है, वह थोड़ा होता है और केवल रक्त मिश्रित श्लेष्म निकलता है, परन्तु कभी स्राव अधि भी होता है। इसके प्रतिकूल रक्तमिश्रित कफ आने से यह नहीं समझना चाहिये कि इसका कारण केवल रक्तावष्टम्भ है और विशे अधिक गम्भीर नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण स्रवित रक्त कफ साथ बाहर नहीं निकलता है। इसका पर्याप्त भाग फेफड़ों, श्वा प्रणालियों में रह जाता है और वहां उसका शोषण हो जाता इसलिये रक्त-निष्ठीवन जब अधिक न हो तो उससे यह

समझना लेना चाहिये कि रोग हल्का या विकार अधिक विस्तीर्ण नहीं है। जब फेफड़े का विकार पककर उसमें गलाव होने लगता है तो फुप्फुस तन्तु के साथ साथ उस स्थान की रक्त नाड़ियां भी रोग क्रांत हो जाती हैं। फेफड़े के इस नाशकारक और व्रण कारक प्रक्रिया को देखकर पहिले तो यह आश्चर्य होता है कि रक्त स्राव अधिक क्यों नहीं होता। परन्तु रक्त नाड़ियों में रक्त जमने की प्रबल चेष्टा को देखकर इसका कारण समझ में आ जाता है। पुरातन क्षय-रोग में साधारणतः यक्ष्मों की रचना से रक्त नाड़ी संकीर्ण हो जाती है या बिलकुल रुक जाती है, परन्तु अन्त में जब यक्ष्म पक कर गलने लगते हैं तो रक्त नाड़ी की दीवार में व्रण होने से वह कट जाती है और उससे रक्त स्राव होने लगता है जो रक्त के जमने से फिर रुक जाता है। इसके अतिरिक्त रक्त नाड़ी की दीवार भीतर के रक्त के भार से निर्बल स्थान पर फूल जाती है जिससे रक्त नाड़ी की दीवार में रक्त कोष (Aneurysm) बन जाते हैं। इन रक्त कोषों के फटने से रक्तपात होने लगता है। अधिकांश रोगियों में रक्त-निष्ठीवन होकर अच्छा हो जाता है। इसलिये रक्त स्राव के समय फेफड़े के विकारों का केवल अनुमान ही किया जा सकता है. परन्तु जब रक्त निष्ठीवन से मृत्यु हो जाती है तो फुप्फुस विकारों के देखने का अवसर मिल जाता है। साधारणतः यह देखने में आता है कि चारों ओर के फुप्फुस तन्तु गलकर छूट जाने से जो अनाश्रित खुली हुई रक्त नाड़ी रह जाती है उससे रक्त निष्ठीवन होता है। चारों ओर के फुप्फुस तन्तु का आश्रय छूटने से और दीवार में व्रण होने से नाड़ी की दीवार निर्बल होकर उसमें रक्त कोष बन जाते हैं और संचरित रक्त के भार से वह कट जाती है।

जो रोगी अच्छे होते जाते हैं उनकी दशा कभी कभी इन रक्त कोषों के अनायास फटने से एकदम फिर गिर जाती है

और सूखी नदी में बाढ़ के समान उनमें रक्तपात होने लगता है। यदि वह रंध्र जिसमें रक्त कोष या क्षत नाड़ी फटती है, छोटा होता है तो निकले हुये रक्त से वह भर जाता है और रक्त के जमने से रक्त नाड़ी का छिद्र रुककर रक्त स्राव बन्द हो जाता है। परन्तु जब रंध्र बड़ा होता है या रक्त में जमने की शक्ति कम होती है तो रक्त बहता रहता है और रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु हो जाती है। एक क्षय-रोगी की रक्त नाड़ी फट जाने से रात्रि में अकस्मात उसकी मृत्यु हो गई थी जब उसके शव की परीक्षा की गई तो उसके एक फेफड़े में रक्त से भरा हुआ एक बहुत बड़ा रंध्र मिला। रक्त साफ़ करने पर फटा हुआ रक्तकोश साफ दिखाई देने लगा।

उग्र क्षय में, जिसमें फुप्फुस तन्तु का बड़ी तीव्र गति से नाश होता है साधारणतः रक्त स्राव रक्त नाड़ी की दीवार में व्रण होकर फट जाने से होता है। इसका कारण यह है कि इस रोग में रक्त नाड़ी को संकीर्ण होने के लिये पर्याप्ति समय नहीं मिलता जिसमें रक्त स्राव होने पर रक्त के जम जाने से शीघ्र उसका मुंह रुक जाय और अधिक रक्त स्राव, जैसा कि पुरातन रोग में होता है, न हो सके।

प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि पशु शरीर के आधे रक्त तक का नाश सह लेते हैं। इससे अधिक नाश पर मृत्यु हो जाती है।

कुछ रोगियों में क्षय-रोग का आरम्भ ही रक्त वमन से होता है। काम करते करते बातचीत करते हुए अथवा रात में सोकर उठने पर यकायक इनके कण्ठ में कुछ उष्णता प्रतीत होती है और खांसी आकर मुंह से रक्त की कुल्ली हो जाती है, अथवा खांसी का दौरा उठकर रक्त मिश्रित कफ निकलने लगता है। वक्ष-स्थल की परीक्षा करने पर और एक्सरे द्वारा

परीक्षा करने पर फेफड़ों में रोग के कोई चिन्ह नहीं मिलते। शरीर का ताप पहिले से प्रकृतिस्थ होता है और बाद को भी वैसा ही रहता है और क्षुधा ठीक बनी रहती है। हां इतना जरूर होता है कि कुछ घंटों या दिनों तक रक्त की काली काली फुटकियां कफ में निकलती हैं। परन्तु इनका आना बन्द होने पर फिर रोगी को कोई शिकायत नहीं रहती। ऐसे रोगियों में से अनेकों को जीवन भर कोई कष्ट नहीं होता जिससे क्षय का सन्देह भी हो सके। इस प्रकार का रक्त निष्ठीवन असफल क्षय में मिलता है। कुछ रोगी ऐसे होते हैं कि इस प्रकार का रक्त निष्ठीवन होने के पश्चात कई दिनों तक जारी रहता है और अन्त में उसके बन्द होने पर खांसी, कफ, शीघ्र गामी नाड़ी, रात्रिस्वेद इत्यादि लक्षण क्षय-रोग के व्यक्त हो जाते हैं। वक्षस्थल की परीक्षा करने पर एक या दोनों फेफड़ों के शिखर पर क्षयी-विकार के चिन्ह मिलते हैं। कफ की परीक्षा करने पर कभी २ क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। अधिकांश रोगियों में कुछ महीनों में सब लक्षण शान्त हो जाते हैं। परन्तु समय समय पर इसी प्रकार के अनेक दौरे होते रहते हैं और कालान्तर में पुरातन क्षय स्थापित हो जाता है। दौरों के बीच बीच में रोगी की दशा काफी अच्छी रहती है और उनको कोई विशेषकष्ट प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसे रोगी पहिले दौरे से ही प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा करें तो अवश्य आरोग्य हो जावेंगे इसमें कोई शंका नहीं है। कुछ रोगी यह बताते हैं कि रक्त निष्ठीवन से पूर्व वे बिलकुल अच्छे थे। परन्तु सावधानी से पूछताछ करने पर पता चलता है कि महीनों से उनको कुछ न कुछ खांसी और कफ आता था, उनकी भूख कम हो गई थी और शरीर दुर्बल हो गया था। स्त्री रोगियों में पता चलता है कि दो एक महीना पहिले से उनमें मासिक धर्म नहीं होता था ऐसे रोगी इन लक्षणों को तुच्छ समझते रहते हैं और यदि इनमें से कोई चिकित्सक के पास आता भी है तो वह उसको मामूली

जुकाम बता देता है। ऐसे लोगों में रक्त स्राव साधारणतः अधिक होता है और कई दिन तक रहता है। क्योंकि क्षयी विकारों का धीरे धीरे अज्ञात रूप से प्रादुर्भाव होता है फिर भी जब पता चलता है उस समय वे काफ़ी बढ़े होते हैं। अधिकांश रोगियों के वक्षस्थल की परीक्षा करने पर काफ़ी विस्तृत क्षयीविकार मिलते हैं। परन्तु कभी कभी निश्चित रोग-चिन्ह नहीं मिलते। फिर भी खांसी, कफ़, ज्वर इत्यादि लक्षणों से रोग का निश्चय हो जाता है।

असफल-क्षय के रक्त-निष्ठीवन के दौरों से यह रक्त-निष्ठीवन इस बात में भिन्न होता है कि इसके बाद रोगी बहुत दिनों में अच्छा होता है।

अधिकतया रक्त-निष्ठीवन रोग की सम्वृद्ध अवस्था में होता है। कभी केवल रक्त-वर्ण का कफ़, कभी शुद्ध रक्त की कुल्ली, कभी सेर आध सेर और कभी २ दो दो सेर तक रक्त निकलता है। रक्त लाल वर्ण का झाग-युक्त और साधारणतः श्लेष्मा मिश्रित होता है। जब स्राव अधिक होता है तो कभी कभी रक्त का रंग शिरा रक्त के समान काला होता है। अधिकांश रोगियों में यह रक्त शीघ्र नहीं जमता, उसमें कुछ फुटकियां भी होती हैं परन्तु अधिकतर वह द्रव रूप होता है, रक्त को जमाने वाले खटिक, रक्त, रस इत्यादि पदार्थ मिलाने पर भी रक्त शीघ्र नहीं जमता। रक्त के देर में जमने का कारण डाक्टरों को अभी तक ठीक ज्ञात नहीं हुआ है।

कुछ लोगों को रक्तनिष्ठीवन होने से पूर्व उसका ज्ञान हो जाता है और वे बता सकते हैं कि उनको रक्तनिष्ठीवन होने वाला है। परन्तु अधिक रोगियों में बिना किसी पूर्वाभास के होता है। रोगी को वक्ष में पहिले जकड़न या गड़गड़ाहट प्रतीत होती है और उसके बाद खांसी उठती है, जिससे झागयुक्त रक्तवर्ण नमकीन रुचिकर रक्त निकलता है। जब रक्तपात

अधिक होता है तो मुंह से रक्त की धारा बहने लगती है। रोगी का चेहरा पीला हो जाता है और वह घबरा जाता है, हाथ पैर ठंडे हो जाते हैं। शरीर का ताप, जो रक्त स्राव से पहिले बढ़ा हुआ होता है एकदम कम हो जाता है। नाड़ी निर्बल और शीघ्र गामी हो जाती हैं।

शक्तिपात के इन लक्षणों का केवल रक्त स्राव ही कारण नहीं होता, उनमें भय और घबराहट का भी भाग होता है। चिकित्सक के तसल्ली देने पर कुछ अवस्था सुधरने लगती है और ताप भी बढ़ जाता है। अनेक रोगियों में कुछ देर के पश्चात् फिर दौरा हो जाता है। अन्त को जब रक्तपात बन्द हो जाता है तो उस के बाद भी रोगी के कफ में काले काले रक्त के छिछड़े कुछ दिनों तक निकलते रहते हैं। कुछ रोगियों में रक्तपात बहुत दिनों तक जारी रहता है और अन्त में रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उन रोगियों में, जिनके फेफड़ों में बड़े बड़े रंध्र होते हैं कभी कभी रक्तपात अधिक होता है। सब का सब स्रवित रक्त बाहर नहीं निकलता। रक्त का एक बड़ा भाग निगल लिया जाता है और कुछ भाग रंध्र और श्वास प्रणालियों में रह जाता है जिसका शोषण हो जाता है। रक्तपात का अन्तिम परिणाम फटी हुई रक्त नाड़ी के आकार और रक्त के जमने की शक्ति पर निर्भर होता है। कभी कभी रोगी निर्बल और क्षीण होने के कारण रक्तपात की विपुलता से दब जाता है और रक्त को बाहर निकालने की शक्ति न होने से अपने ही रक्त में कुछ मिनटों में ही डूब जाता है। कुछ रोगी घंटों और दिनों तक जीने का निष्फल प्रयास करते हैं और अन्त में रक्त की कमी से उनके प्राण छूट जाते हैं। फेफड़ों में रंध्र वाले रोगियों के लिए साधारणतः रक्तपात से निवृत्त होने की काफी सम्भावना है। रक्तपात से तत्काल मृत्यु बहुत कम होती है। अधिकतर रोगी

रक्तपात को सह लेते हैं और यदि उनकी मृत्यु होती है तो
लक्षणों या उपद्रवों के कारण होती है। ऐसे क्षय-
देखने में आते हैं जो धीरे धीरे अच्छे होते जाते हैं; परन्तु
उनको विपुल रक्तपात हो जाता है जिससे उनकी मृत्यु
हो जाती है। ऐसे रक्तपात बहुत कम देखने में आते हैं
साधारणतः किसी रंध्र में रक्तकोष के फट जाने से होते
इनका पहिले से कुछ पता नहीं होता।

एक बैरिस्टर साहब २ वर्ष से क्षय-रोग में ग्रस्त थे
बड़े भ्राता भी इसी रोग से मर चुके थे। वैरिस्टर साहब को
चिकित्सा से धीरे धीरे लाभ हो रहा था। पिछले २ वर्ष में
बार रक्त-निष्ठीवन हो चुका था पर इधर कई मास से बन्द
दुर्भाग्य से शीघ्र लाभ होने के लालच में उन्होंने एक फकीर
बूटी खाली जिससे रात में यकायक रक्त निष्ठीवन हुआ
उनकी तुरन्त मृत्यु हो गई। दौरा इतना तीव्र था कि वह
को जगा भी न सके। घर वालों को उनकी मृत्यु के पश्
देखने का अवसर मिला। उनकी गर्दन लटक रही थी और
नीचे बह रहा था।

सूत्रोल्वण क्षय में रक्तपात—

इस प्रकार के क्षय में रक्त-निष्ठीवन बहुत होता
परन्तु अधिकांश रोगियों में रक्त की मात्रा बहुत कम होती
केवल लाली लिये कफ निकलता है। रोगियों को साधारण
श्वास और खांसी के अतिरिक्त और कोई कष्ट प्रतीत
होता। श्वास और खांसी के प्रति भी कुछ सहिष्णुता उत्पन्न
जाती है परन्तु जब कफ में रक्त आने लगता है तो रोगी
जाता है। कुछ रोगी इसके भी आदी हो जाते हैं और
भी परवाह नहीं करते क्योंकि वह अनुभव से जान जाते
यह कोई भयङ्कर बात नहीं सूत्रोल्वण-क्षय में भी कभी

विपुल रक्तपात हो जाता है। राजयक्ष्मा के उस रूप भेद में जिसको रक्त स्रावक क्षय कहते हैं रक्त स्राव का बार बार होना विशिष्ट लक्षण होता है। वर्षों तक अनियमित रूप से समय समय पर रक्तनिष्ठीवन होता रहता है। परन्तु उससे रोगी को कोई विशेष हानि नहीं पहुँचती। इन रोगियों में वक्षस्थल की परीक्षा करने पर साधारणतः न कोई रोग चिन्ह मिलता है न इनको ज्वर होता है और न इनका भार कम होता है। थोड़ीसी खांसी होती है। केवल रक्तनिष्ठीवन से और कभी कभी कफ में क्षय-कीटाणु के मिलने से इनकी दशा का पता चलता है। फिशवर्ग ने एक स्त्री का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे तथा कई अन्य चिकित्सक उसके वक्षस्थल की परीक्षा करके आसानी से क्षय-रोग का निश्चय नहीं कर सके। बहुत काल तक वे यह समझते रहे कि रोगी बहाना करता है। रक्तपात के दौरों में जो अनियमित समय पर बार बार हुआ करते थे वक्षस्थल की परीक्षा करने पर कोई निश्चयात्मक चिन्ह नहीं मिलते थे। इसी प्रकार के एक और रोगी को पिछले १५ वर्ष से प्रति वर्ष दो बार रक्तनिष्ठीवन हो जाता था परन्तु वह देखने में स्वस्थ प्रतीत होता था। एंड्रूल एक रोगी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उसको ६० वर्ष की आयु तक समय समय पर रक्त स्राव होता रहा और अन्त को ८० वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हुआ। हमें एक ऐसा रोगी मिला जिसको पिछले ८ वर्ष में अनेक बार रक्तनिष्ठीवन का दौरा हो चुका है पर अब तक अन्य कोई चिन्ह रोग का नहीं पाया गया है। इस बीच में उससे ३ सन्तान भी हो चुकी हैं।

रक्त निष्ठीवन के कारण—

उत्तेजक वाद विवाद, अति परिश्रम, गाने, दौड़ने, पहाड़ पर चढ़ने, पाखाना करते समय जोर लगाने तथा चोट लग जाने

से रक्त स्राव हो जाता है। परन्तु रक्तनिष्ठीवन के उद्दीपन में अति परिश्रम का महत्व अधिक नहीं समझना चाहिए। अधिक परिश्रम या चित्तोद्वेग से कफ में लाली आ सकती है अथवा हलका रक्त स्राव हो सकता है; परन्तु अधिक रक्त स्राव तो तभी हो सकता है जब रक्त नाड़ी की दीवार कट जाती है या रक्त कोष कट जाता है। अधिक परिश्रम रक्तनिष्ठीवन का प्रधान कारण नहीं होता है; यह इस बात से भी विदित होता है कि अधिकांश विपुल और घातक रक्तपात रात में होते हैं। अभी तक यह ज्ञात नहीं हुआ है कि रात में क्यों अधिक होता है। जो रोगी अधिक भोजन से मोटे हो जाते हैं उनमें रक्त निष्ठीवन अधिक होता है। ऋतु परिवर्तन से भी रक्त निष्ठीवन का उद्दीपन हो जाता है। स्त्री प्रसंग से रक्त निष्ठीवन होकर तुरन्त मृत्यु होते देखी गई है। संखिया (Arsenic) क्रिकोजूट और उसके भाई बन्द, आयोडाईड, एस्पीरीन इत्यादि कुछ औषधियों से जिनको क्षयोपचार में विस्तृत प्रयोग होता है प्रायः रक्त निष्ठीवन हो जाता है। समुद्रतट की अपेक्षा उष्णताप प्रदेशों में अधिक होता है। अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गर्मी में अधिक होता है। ठिगने मनुष्यों की अपेक्षा लम्बे मनुष्यों में अधिक होता है। पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होता है। १५ से ५० वर्ष की आयु तक अधिक होता है। फिशवर्ग का अनुभव है कि तत्काल, प्राणघातक रक्तनिष्ठीवन स्त्रियों में बहुत विरल होता है। आद्य रक्तनिष्ठीवन भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम होता है, रीक के आंकड़ों से विदित होता है कि पुरुषों में ११ प्रतिशत और स्त्रियों में ५.५ प्रतिशत में आद्य रक्तनिष्ठीवन होता है। अधीर और तामसी स्वभाव वाले रोगियों में शान्त सतोगुणी रोगियों की अपेक्षा अधिक होता है। लगभग सब ही स्वास्थ्य शालाओं का यह अनुभव है कि उन रोगियों में भी रक्त निष्ठीवन होजाता है जो पूर्ण आरोग्यता की ओर अग्रसर होते

रोग निरूपण में रक्तनिष्ठीवन का महत्व—

वैसे सिद्धान्त तो यही है कि रक्तनिष्ठीवन वाले सब रोगियों को जब तक कोई अन्य कारण ज्ञात न हो क्षय-रोगी ही समझना चाहिए। पर इस सिद्धान्त में कभी कभी बड़ी भूल होने की आशंका रहती है। कवेट को ३४४४ रक्त निष्ठीवन वाले रोगियों में केवल आधोंमें जैवसल्वंक को १०१ रोगियों में से ५४·६ प्रतिशत में और स्ट्राइकर को १०० में से ७७·६ प्रतिशत में रक्तनिष्ठीवन का कारण क्षय-रोग मिला था। जब कोई रोगी आकर चिकित्सक से कहता है कि मेरे नाक, कंठ या मसूड़ों से रक्त गिरा है ऐसे रोगी में जब उपरोक्त स्थानों में रोग का कोई चिन्ह जब चिकित्सक को नहीं मिलता और वक्षस्थल की परीक्षा करने पर किसी एक फुप्फुस शिखर पर कुछ अनिश्चित चिन्ह जो क्षय-रोग के अतिरिक्त अन्य रोग में भी हो सकते हैं, मिलते हैं अथवा निवृत्त क्षय के द्योतक चिन्ह मिलते हैं। इस लिये इनको भूल से क्षय-रोगी समझ लिया जाता है। ऐसी भूल विशेषकर उन रोगियों में होती है। जिनके नाक से रक्त निकल कर कंठ में पहुंच जाता है और उससे खांसी पैदा होकर रक्त रंजित कफ निकलता है। कुछ रोगियों को रात में नाक से रक्त स्राव होता है जिससे वे जाग जाते हैं। जागने पर जब खांसी आती है तो रक्त मिश्रित थूक निकलता है। दूसरे ही दिन वह चिकित्सक के पास पहुंचते हैं। परन्तु उस समय परीक्षा द्वारा रक्त के उद्गम स्थान का कोई पता नहीं चलता। कफ में केवल रक्त की डोरियां आने का हाल सुनकर क्षय-रोग का निर्णय करने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये। यह ठीक है कि कफ में रक्त की डोरियां कभी कभी फेफड़े से आती हैं और वे होने वाले विपुल रक्त स्राव की अगुआ होती हैं। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कफ में रक्त की डोरियां फेफड़े से बहुत कम आती हैं। अधिकांश रोगियों में वे नाक, कंठ और विशेष-

कर श्वांस प्रणालियों से आती हैं। बेस्टर का कथन है कि धारीदार रक्तनिष्ठीवन क्षय-रोग की अपेक्षा कांस रोग में अधिक होता है। जब कभी क्षय-रोग में भी ऐसा रक्तनिष्ठीवन होता है। तो वह श्वांस प्रणालियों से ही होता है। जोर से खांसने में श्वांस-प्रणालियों की फूली हुई रक्त केशिकायें फट जाती हैं। कभी कभी श्वांस प्रणालियों में क्षयी व्रण हो जाते हैं, जिनसे थोड़ा रक्त निकलने लगता है। कंठ के पुरातन प्रदाह में भी कफ में. डोरियां आती हैं। ऐसा प्रायः प्रातःकाल होता है जब कंठ को साफ़ करते समय कुछ कफ निकलता है तो उसमें रक्त की डोरियां निकलती हैं जिनको देखकर रोगी भयभीत हो जाता है. पूरा निश्चय करने के लिये वह और भी ज़ोरसे खांसता है और इससे जो श्लेष्म निकलता है उसमें भी रक्त की धारियां दिखाई देती हैं। चिपके हुये कफ को निकालने के लिये गले में जो ज़ोर दिया जाता है उससे भी कफ में लाली आ जाती है। इसलिये कंठ की परीक्षा करने पर रक्त स्राव का कोई विशेष कारण नहीं मिलता। अनेक रोगियों में जिनके कफ में रक्त की लाली आती है, रोग का निश्चय केवल रोगी को कई सप्ताह तक लगातार निरीक्षण में रखकर और उसके लक्षणों का सावधानी से अध्यन करने और वक्ष की परीक्षा करने से ही हो सकता है। टेटुआ में शिराओं के फूल जाने से रक्त आने लगता है। अन्न प्रणाली की शिराओं के फूलने से भी रक्त स्राव हो सकता है। अन्न प्रणाली के इन अर्शों (फूली हुई शिरायें) से कभी कभी काफ़ी रक्त स्राव होता है। कुछ लोगों ने लिखा है कि जीभ के मूल की फूली हुई शिराओं से भी रक्त स्राव होता है। इस प्रकार के नक़ली रक्तनिष्ठीवनों का अनेक चिकित्सकों ने उल्लेख किया है।

श्वास मार्ग के उग्र रोगों में रक्तनिष्ठीवन—

ऊपर यह बताया जा चुका है कि नाक, कंठ और टान्सिल

के उग्र प्रदाह में कफ में रक्त आ सकता है। वस्तुतः जब किसी रोगी के कफ में रक्त निकले और श्वास मार्ग के ऊपरी भाग में उग्र प्रदाह के लक्षण और चिन्ह मिलें तो फेफड़ों की अपेक्षा नाक या कंठ से रक्त के निकलने की अधिक सम्भावना समझनी चाहिये। एक बात यह और भी है कि क्षय-रोग कभी उग्र प्रतिशाय, कंठ प्रदाह और टान्सिल प्रदाह के रूप में आरम्भ नहीं होता। उग्र फुप्फुस प्रदाह में कुछ लाली लिये हुये कफ विशिष्ट लक्षण होता है, परन्तु कभी कभी शुद्ध रक्त भी देखा जाता है। श्वांस, नल, फुप्फुस प्रदाह में कुछ लाली लिये हुये कफ विशिष्ट लक्षण होता है, परन्तु कभी कभी शुद्ध रक्त भी देखा जाता है। श्वांस, नल, फुप्फुस, प्रदाह (Broncho Phneumonia) में रक्तनिष्ठीवन और भी अधिक मिलता है। इनफ्लुएञ्जा की विगत महामारी में जिन लोगों में उपद्रव रूप फुप्फुस प्रदाह हुआ था उन में रक्तनिष्ठीवन बहुत हुआ था। इनकी पहिचान रोगी के हाल, रोग का महामारी रूप, तथा इनफ्लुएञ्जा के अन्य लक्षण और रोग चिन्हों से हो जाता है।

पार्श्वकला के प्रदाह में रक्तनिष्ठीवन—

पार्श्वकला के स्रावक प्रदाह के अनेक रोगियों में आरंम्भ में रक्तनिष्ठीवन होता है। अनेक रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें रक्तनिष्ठीवन बन्द होने के बाद वक्ष की परीक्षा करने पर पार्श्वकला में स्राव मिलता है। कुछ रोगियों में बाद को राजयक्ष्मा हो जाता है और अन्यान्य रोगी स्राव के शोषण के बाद अनिश्चित काल तक अच्छे बने रहते हैं।

हृदय रोग में रक्तनिष्ठीवन—

हृदय के रोग में भी रक्तनिष्ठीवन होता है। चूंकि अनेक हृदय रोगी क्षीण काय होते हैं और उनमें खांसी तथा कभी कभी हरारत भी होती है, इसलिये भूल से इनको क्षय-रोगी समझ

लिया जाता है। हृदय-रोग में रक्तनिष्ठीवन का कारण क्षय-रोग समझ लेने का बड़ा भयंकर परिणाम प्रायः देखने में आता है। प्राइस के मतानुसार क्षय-रोग के बाद रक्तनिष्ठीवन का दूसरा सब से बड़ा कारण हृदय के बायें कोष्ठों के बीच के द्वार की संकीर्णता (Mitral Stenasis) होती है और यही बहुधा भूल का कारण होती है। कवेट को रक्तनिष्ठीवन वाले ३४४४ रोगियों में से ३४ प्रतिशत में रक्तस्राव का कारण हृदय का उपरोक्त रोग मिला था। सब रोगियों के हृदय की परीक्षा नहीं की जाती और कभी कभी परीक्षा करने पर भी विशिष्ट (मर्मर) शब्द का न मिलना कोई असाधारण बात नहीं होती। इसके अतिरिक्त हृदय-रोग में भी प्रायः फुप्फुस शिखर के कुछ विकार मिलते हैं। जिनसे क्षय-रोग का भ्रम हो जाता है। महाधमनी के रक्तकोष (Aneurysm of Aorta) में प्रायःकोष के फटने से घातक रक्तपात होकर मृत्यु हो जाती है, किंतु अनेक रोगियों में घातक रक्तपात से पूर्व कई सप्ताह या मास तक रक्त मिश्रित कफ निकलता रहता है। कुछ रोगियों में रक्तकोष का फेफड़े पर या श्वास प्रणाली पर दबाव पड़ने से फुप्फुस शिखर पर ऐसे रोग चिन्ह उत्पन्न हो जाते हैं जो क्षय-रोग के चिन्हों से बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं।

फेफड़ों के कैन्सर, उपदंश और श्वास नलोत्फुलन रोग में रक्त—

श्वास नलोत्फुलन (Bronchectsis) रोग में रक्तनिष्ठीवन कोई असाधारण बात नहीं होती। रक्त या तो श्लेष्म कला की फूली हुई रक्त नाड़ियों से या शलेष्म कला के प्रदाह से अथवा श्वास नलों के फूलने से उत्पन्न रंध्रों (Bronchectatic Cavities) की दीवार में रक्त कोषों के फटने से आता है। साधारणतः यह रोग वृद्धावस्था या उसके समीप की आयु में होता है।

फेफड़ों के उपदंश रोग में रक्तनिष्ठीवन विभिन्न मात्राओं में पाया जाता है। फेफड़े के दुष्ट व्रण (Cancer) रोग में भी प्रायः रक्त निष्ठीवन होता है जिससे कभी कभी रोग निरूपण में भ्रम हो जाता है। इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था के लक्षण क्षय-रोग के लक्षणों से बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं। जब कभी रक्त स्राव होता है तो बड़ा दुसाध्य होता है और बहुत दिनों तक कफ में रक्त की काली काली फुटकियें निकला करती हैं। लाल वर्ण का शुद्ध रक्त बहुत कम मिलता है।

अन्न प्रणाली से रक्त स्राव—

अन्न प्रणालियों की फूली हुई रक्त शिराओं से जो रक्त स्राव होता है उसका उल्लेख पहिले हो चुका है। अन्न प्रणाली में फूली हुई शिरायें प्रायः जलोदर रोग में पाई जाती हैं। अन्न प्रणाली में कोई वतौड़ी (Tumour) तन जाने से भी रक्तपात होता है।

मासिक रक्त स्राव—

क्षयी-स्त्रियों में जो रक्तपात होता है वह मासिक धर्म के समय अधिक होता है। यह देखा गया है कि ऋतुकाल में रक्त भार बढ़ जाता है और कंठ की श्लेष्म कला में रक्तावष्ठम्भ होता है। कुछ लोगों का कहना है कि इस समय फेफड़ों में भी रक्त की अधिकता होती है। जो फेफड़े से रक्त स्राव होने में सहायक होती है। मैश के मतानुसार ऋतुकालिक रक्तपात कम भी हो सकता है और अधिक भी हो सकता है और रोगी की दशा सुधरने तथा रोग के शांत होने पर भी जारी रह सकता है। ऋतुकाल में क्षय रोगियों में रक्तपात फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी हो सकता है। विलसन और यूमैन ने टेंटुआ और बढ़े श्वास मार्गों से ऐसे रक्तपात के होने का उल्लेख किया है। मैश ने एक स्त्री के सम्बन्ध में, जिसकी आंतों में व्रण हो गये थे

लिखा है कि ऋतुकाल में उसकी आंतों से नियमित रूप से रक्त स्राव होता था।

प्रतिनिधि रूप रक्तस्राव—

प्रतिनिधि रूप रक्तस्राव (Vicarious mestruation) को कहते हैं जिसमें ऋतुकाल में रक्तस्राव गर्भाशय के बजाय फुफ्फुस इत्यादि अन्य इन्द्रियों से होता है। इस प्रकार का रक्त स्राव बहुत बिरल होता है और अधिकतर क्षय-रोग के कारण होता है। प्रतिनिधि रूप रक्तस्राव का मूल्य निर्धारित करते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि क्षय-रोग में मासिक धर्म प्रायः बन्द हो जाता है और इस रोग में रक्तनिष्ठीवन बहुधा होता है इसलिये कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जब मासिकधर्म बन्द हुआ हो तो कभी कभी रक्त निष्ठिवन हो जाय।

गर्भवती क्षयी स्त्रियों में, जब मासिकधर्म बन्दहो जाता है तो कभी २ रक्तनिष्ठीवन इतना होने लगता है कि लोग उसको प्रतिनिधि रूप रक्तस्राव समझने लगते हैं। कुछ लोग स्तनपान काल में स्त्रियों में रक्तनिष्ठीवन होने का उल्लेख करते हैं। बच्चों का दूध छुड़ाने के बाद रक्तनिष्ठीवन बन्द हो जाता है। ऐसे रक्तनिष्ठावन के कारण का अभी तक पता नहीं चला है।

स्नायु विकारों से उत्पन्न रक्तनिष्ठीवन—

हिस्टीरिया के रोगियों में, विशेषकर स्त्रियों में कभी कभी उपक्रांत क्षय-रोग के लक्षण मिलते हैं। जिनमें रक्त निष्ठीवन भी एक है, परन्तु वक्षस्थल की बार बार परीक्षा करने पर भी कोई विकार नहीं निकलता। प्राचीन चिकित्सकों ने इसको हिस्टीरिया रक्त निष्ठीवन कहा है। ऐसे अधिकांश रोगियों में खांसी के तीव्र वेग के कारण मसूड़ों या कंठ से रक्त आता है। जब रक्त निष्ठीवन के साथ खांसी श्वास फूलना, वक्षस्थल में पीड़ा और हरारत इत्यादि लक्षण भी होते हैं, तो रोग का निश्चय

करना बहुत कठिन हो जाता है। परन्तु ऐसे रोगियों में फेफड़ों के किसी विकार के प्रभाव के साथ साथ हिस्टीरिया रोग के अन्य लक्षण भी होते हैं। दूसरी ओर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि क्षय-रोग हिस्टीरिया के रोगियों को भी हो सकता है और क्षय-रोगियों में भी हिस्टीरिया के लक्षण हो सकते हैं। वास्तव में कुछ रोगी जिनको रक्त निष्ठीवन के दो एक दौरे हो जाते हैं, इतने डर जाते हैं, कि अपने को अभागा समझकर वहमी हो जाते हैं। ये लोग अपने कफ को बराबर देखा करते हैं, कहीं उसमें रक्त तो नहीं आया है। ऐसे रोगियों का सुधार औषधि से बड़ा कठिन है पर मांसिक चिकित्सा के साथ प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा से ठीक हो सकते हैं। यज्ञ में ऐसे रोगियों के लिये विशेष रूप से वालछड़ जलाना अधिक हितकर है। वात संस्थान के कुछ रोगियों को भी रक्तनिष्ठीवन होता है।

अज्ञात रक्त निष्ठीवन—

रक्तनिष्ठीवन के कुछ ऐसे रोगी देखने में आते हैं जिनमें रोग के कोई लक्षण या चिन्ह नहीं मिलते जिससे रक्तस्राव के कारण का पता चल सके। बहुधा ऐसे रोगी मिलते हैं जिनकी बड़ी सावधानी से परीक्षा करने पर और बहुत समय तक निरीक्षण में रखने परभी रक्तनिष्ठीवन के कारणका पतानहीं चलता उनका स्वास्थ्य भी ठीक बना रहता है। लिवमैन और आस्टिन वर्ग का कथन है कि कुछ रक्तनिष्ठीवन पैतृक होते हैं उन्होंने एक ऐसा रोगी देखा था जिसकी चार पीढ़ियों में समय समय पर रक्तनिष्ठीवन होता रहा और किसी को भी क्षय-रोग नहीं हुआ।

सम्भव है कि ऐसे अज्ञात रक्तनिष्ठीवन में से कुछ निष्फल क्षय के कारण होते हों।

उद्गमस्थान—

अभी तक रक्तस्राव के स्थान का ठीक ठीक पता लगाने

का कोई विशेष महत्व नहीं समझा जाता था क्योंकि इस ज्ञान से कि रक्तस्राव किस फेफड़े से हुआ है, इलाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। परन्तु कुछ दिनों से जबसे पता लगा है कि फु... में वायु भरने से (A. P. Treatment) विपुल रक्तपात बन्द हो जाता है जो अन्य साधनों से नहीं होता। रक्तस्राव का स्थान... कित करना बड़े महत्व का प्रश्न हो गया है। उन रोगियों में जो बहुत दिनों से निरीक्षण में होते हैं, और जिनके बारे में यह ज्ञात होता है कि रोग केवल एक ही ओर है। यह प्रश्न सरल होता है, क्योंकि विपुल रक्तपात से साधारणतः फेफड़ों में रंध्र का होना विवक्षित होता है, परन्तु जब क्षय-रोग दोनों ओर होता है तो यह बताना बड़ा कठिन हो जाता है कि रक्त किस फेफड़े से आ रहा है। रक्तस्राव के बढ़ने के भय से वक्ष टकोरा नहीं हो सकता। श्रवण परीक्षा से सम्भव है कि किसी स्थान पर कुछ कण (Rales) सुनाई दे जाय, परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि रक्तस्राव के अधिक होने पर रक्त दूसरे फेफड़े में चला जाता है और उसके कारण वहां कण सुनाई देने लगते हैं। इस लिये कभी कभी यह निश्चय करना असम्भव हो जाता है कि रक्त किस फेफड़े से आ रहा है।

स्ट्राइकर का मत है कि जब उग्र और वर्द्धमान रोग में अनायास रक्तस्राव होता है तो वह रक्त नाड़ी की दीवार के फटने से होता है और जब पुरातन रंध्र युक्त रोग में होता है तो साधारणतः रक्त कोष के फटने से होता है। ज्वर के साथ बार बार रक्तस्राव के होने से फुप्फुस तन्तु का प्रगतिशील विनाश सूचित होता है।

रक्तनिष्ठीवन की पहिचान—

आद्य रक्तनिष्ठीवन के विषय में यह पता लगाना बड़ा आवश्यक होता है कि रक्तस्राव किसी क्षयी विकार से हुआ

है अथवा उसका कोई अन्य कारण है। यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि रक्तनिष्ठीवन उर्द्ध और निम्न श्वांस मार्गों के प्रत्येक रोग (क्षय-रोग तथा अन्य रोग) में हो सकता है। कफ और कंठ की सावधानी से परीक्षा करने पर पता चल सकता है कि यह श्वांस मार्ग के ऊपरी भाग की श्लेष्म कला में रक्तावष्टम्य या शिराओं के फूलने से हुआ है या नहीं। यदि थूका हुआ रक्त वर्ण का द्रव पदार्थ सब का सब समान रूप से लाल और जल-वत हो तो उसके मुंह से आने की अधिक सम्भावना है। यदि परीक्षा करने पर क्षय-रोग का कोई लक्षण और चिन्ह न मिले और क्षय के अतिरिक्त रक्तस्राव का और कोई कारण न मिले हृदय ठीक हो और रोगीको कोई चोट न लगी हो, तो उसको क्षय रहित मानने से पूर्व निरीक्षणमें रखना चाहिये। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि कफ में रक्त की डोरियां क्षय-रोग के अति-रिक्त अन्य अनेक कारणों से भी आ सकती हैं। इसलिये केवल उन्हीं से क्षय-रोग का होना नहीं समझना चाहिये। जब रक्तस्राव अधिक होने के कारण रोगी के वक्षस्थल की ठीक ठीक परीक्षा नहीं हो पाती तब यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि रक्तस्राव किसी क्षयी विकार से हुआ है या श्वांस नल के फूलने से उत्पन्न रंध्र से या फेफड़े के उपदंश से। कभी २ यह भी निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि रक्त कफ के साथ गिरा है या रक्त वमन हुआ है। अर्थात् रक्त आमाशय से आया है। रक्त वमन रक्त निष्ठीवन के सदृश प्रतीत हो सकता है, क्योंकि श्वांस के साथ वमन किया हुआ रक्त श्वांस मार्ग में पहुँच सकता है और फिर खांसने पर कफ के साथ निकल सकता है। दूसरी ओर रक्तनिष्ठीवन में रोगी रक्त को निगल सकता है और फिर उसका वमन हो सकता है। इस वमन में निकला हुआ रक्त बहुत कुछ आमाशय के रक्त के सदृश हो जाता है। कभी कभी रक्त निष्ठीवन और रक्त वमन में पहिचान करना बड़ा कठिन

होता है। परन्तु दोनों रक्त पातों में साधारणतः ये भेद होते हैं। रक्तनिष्ठीवन में रक्त खांसने पर निकलता है और वह बिलकुल लाल झाग युक्त तथा कफ मिश्रित होता है यह प्रतिक्रिया में खारा होता है और शीघ्र जमता नहीं, परन्तु अनेक रोगी रक्त को निगल जाते हैं और बाद को कै कर देते हैं। तब उसकी प्रतिक्रिया अम्ल हो जाती है। श्रवण करने पर वक्ष में कुछ कण सुनाई दे सकते हैं। रोगी के हाल की सावधानी से पूंछतांछ करने पर ज्ञात होता है कि उसको बहुत दिनों से खांसी और कुछ कफ आता था। इसके विपरीत रक्तवमन में रोगी जो हाल बताता है वह आमाशय के विकार का सूचक होता है और परीक्षा करने पर उदर में रोग चिन्ह भी मिल सकते हैं। रक्तनिष्ठीवन में रक्त स्राव के वेग के रोकने के पश्चात कुछ दिनों तक रोगी को खांसी आती रहती है और कफ में जमा हुआ रक्त निकला करता है। रक्त वमन में ऐसा कभी नहीं होता। चाहे कहीं से हो, जब रक्त पात अधिक होता है और पहिले से कोई रोग लक्षण नहीं होते तो उपरोक्त बातों से बहुत कम सहायता मिलती है; क्योंकि रक्त बिलकुल लाल खारा होता है और उसमें न कफ होता है और न आमाशय के रस इत्यादि पदार्थ। परन्तु ऐसे विपुल रक्त पात साधारणतः सम्बृद्ध क्षय-रोगियों में ही मिलते हैं जिनमें क्षय-रोग के चिन्ह सदा मिलते हैं।

रक्तनिष्ठीवन का निश्चय के बाद यदि पहिले से रोग का निर्णय न हो चुका हो, तो यह पता लगाना कभी कभी बहुत कठिन हो जाता है कि रक्त फेफड़ों के क्षयी–विकारों से आया है या किसी श्वांस प्रणालीके फूलनेसे उत्पन्न रंध्र (Bronchectatic Cavity) से। इसमें रोगी के ताप और नाड़ी से सहायता मिलती है। जब यह दोनों प्रकृतिस्थ दशा में होती हैं और रोगी की व्यापक दशा अच्छी होती है तो रक्त का कारण फूले श्वांस नल के रंध्र के होने की अधिक सम्भावना होती है। विशेषकर

४५ वर्ष से अधिक आयु वाले रोगियों में जब वक्ष-स्थल की परीक्षा से यह ज्ञात हो कि फेफड़ों के निम्न खंड में रोग है उनके शिखर विकार शून्य हैं, तो समझना चाहिये कि क्षय के अतिरिक्त कोई और रोग है। साधारणतः सावधानी से पूंछताछ करने पर रोगी के पहिले के हाल से रोग का ठीक ठीक निर्णय हो सकता है। परन्तु जिसमें इस प्रकार का निर्णय न हो सके, उनके सम्बन्ध में तब तक कोई राय नहीं देनी चाहिये जब तक रक्त स्राव बन्द न हो जावे और रोगी की ठीक ठीक परीक्षा न की जा सके। क्षय-रोग के अतिरिक्त निम्न लिखित अन्य दशाओं में फेफड़े से रक्त स्राव हो सकता है। (१) हृदय-रोग (२) महाधमनी के रक्त कोष (३) रक्त में जमने की शक्ति का ह्रास (Haemophilia) (४) श्वास नल का फूलना (५) फेफड़े में उपदंश, विद्रधि गलाव का होना (६) कुछ उग्र विशिष्ट ज्वर (७) फुफ्फुस प्रदाह (८) इन्फ्लुऐञ्जा (९) मध्य वक्ष में व्रण (१०) श्वास प्रणालियों में किसी बाहरी पदार्थ का अटक जाना (११) वक्ष-स्थल में चोट लगना (१२) कुकुर खांसी के दौरे (१३) फेफड़ों में दुष्ट व्रण का होना इत्यादि।

साध्यासाध्य विचार में रक्तनिष्ठीवन का महत्व—

लगभग सब रोगी रक्त निष्ठीवन को अत्यधिक महत्व देते हैं और जितना कफ में रक्त देखकर घबराते हैं, उतना क्षय-रोग के अन्य किसी लक्षण से नहीं घबराते। यही कारण है कि कुछ विशेषज्ञों ने आद्य रक्तनिष्ठीवन को शुभ लक्षण बतलाया है। क्योंकि इस से रोगी का ध्यान अपने रोग की ओर आकृष्ट हो जाता है, अथवा सम्भवता वह उसकी उपेक्षा करता रहे। अनेक रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिन में रक्तनिष्ठीवन वस्तुतः जीवनदान का काम करता है। इन रोगियों में महीनों से कफ, खांसी इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु तुच्छ समझ कर वह उनकी

परवाह नहीं करते, अन्त में जब रक्तनिष्ठीवन का दौरा होता है तो उनकी आंखें खुलती हैं और ठीक ठीक इलाज शुरू करते हैं जिससे उनकी जान बच जाती है।

रक्त पात अधिक होने से तुरन्त या कुछ दिनों में रोगी की मृत्यु हो सकती है और यदि रोगी बच जाय तो उसके रोग की गति पर प्रभाव पड़ सकता है।

बहुत से रोगियों में रक्तनिष्ठीवन क्षयी-विकारों के होने पर भी बाद को क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त नहीं होते। हरएक चिकित्सक ने ऐसे रोगी देखे होंगे, जिनमें कई वर्ष पूर्व रक्तनिष्ठीवन हुआ था, परन्तु उसके बाद फिर कभी फेफड़े का रोग नहीं हुआ। डा० एफ० टी० लार्ड का कथन है कि रक्तनिष्ठीवन के बाद प्रकट-क्षय रोग का होना आवश्यक नहीं है। सन् १७६८ ई० में जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान गेटे को १८-१६ वर्ष की आयु में रक्तनिष्ठीवन का बहुत बड़ा दौरा हुआ था कुछ दिनों तक उनकी दशा डामाडोल रही और महीनों तक यह वहम रहा कि क्षय-रोग हो गया है। पर ८२ वर्ष की आयु तक कुछ भी न हुआ। ८३ वर्ष की आयु में फिर रक्तनिष्ठीवन का दौरा हुआ और तब ही उनका देहान्त हो गया। इस से रोगियों को प्रोत्साहित होना चाहिए और समझ लेना चाहिए कि आद्य रक्तनिष्ठीवन बहुत कम घातक होता है।

रक्तनिष्ठीवन से मृत्यु संख्या—

रक्तनिष्ठीवन से मृत्यु हो सकती है पर बहुत कम। डा० लुई को ३० क्षय-रोगियों में केवल ३ में; विलियम्स को १६८ में से ४ में; विल्सन फोक्स को १०१ में से ४ में रक्तनिष्ठीवन के कारण मृत्यु मिली थी और वुल्फ को १२०० में से तीन की। क्षय-रोगियों में सहस्र पीछे एक की मृत्यु सीधे रक्त पात से होती

है जिन रोगियों में रक्तनिष्ठीवन होता है, उनमें भी कठिनता से २ प्रतिशत रक्त पात से मरते हैं।

क्षय-रोग की गति पर रक्तपात का प्रभाव—

क्षय रोग की गति पर रक्तनिष्ठीवन के प्रभाव को समझने में साधारणतः रोगी तो भूल करते ही हैं प्रायः चिकित्सक भी इसको उचित से अधिक महत्व देते हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि रक्त पात से तुरन्त रोगी की मृत्यु न हो और ऐसा होता भी बहुत कम है तो रोगी और रोग की गति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। कुछ लोगों का कहना है कि कभी कभी इसका लाभदायक प्रभाव पड़ता है। लिवर्ट, फ्लिट और फोक्स तथा अन्य लोगों का कहना है कि रक्त स्राव से रोगी को आराम मिलता है और खांसी तथा कफ, जो पहिले आते थे, कम हो जाते हैं। ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं जिनमें रक्तनिष्ठीवन के बाद रोग की दशा सुधरने लगती है और खांसी, अरुचि तथा वक्षस्थल में शूल इत्यादि लक्षणों में कमी हो जाती है। यह सर्वजन विदित है कि थोड़े से रक्त के निकलने से प्रायः लाभ होता है, क्योंकि इससे रक्तोत्पादक इन्द्रियां उत्तेजित होकर अधिक रक्त बनाने लगती हैं। लोगों की यह आशंका कि रक्त के सब श्वांस प्रणालियों में फैल जाने से फेफड़ों में नये २ स्थानों में रोग फैलने की सम्भावना होती है, निर्मूल है। यह निश्चय है कि श्वांस प्रणालियों में रक्त पात के बाद रक्त भर जाता है, परन्तु यह साधारण क्षणिक होता है, क्योंकि कुछ रक्त कफ में बाहर निकल जाता है और कुछ का शोषण हो जाता है। फेफड़ों में विकार यदि पहिले से ही प्रगतिशील न हों तो वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं, उन में कोई वृद्धि नहीं होती। कुछ रोगियों में रक्त स्राव के बाद निश्चेष्ट क्षयी विकार प्रगतिशील हो जाता है। इसका कारण प्रतिरोधक शक्ति की कमी होती है। ऐसे रोगी जब

तब देखने में आते हैं, परन्तु इनकी संख्या उन रोगियों की
अपेक्षा कहीं कम होती है,जिन में रक्तस्राव के बाद ऐसा नहीं
होता। रक्तनिष्ठीवन के बाद उसके फलस्वरूप फुफ्फुस प्रक्षय
होने का भय भी निर्मूल होता है। ज्वररहित रोगियों में रक्त-
स्राव के बाद कुछ दिनों तक ज्वर हो जाता है जो आठ दस
दिन में अच्छा हो जाता है। ज्वर वाले रोगियों में कभी कभी
रक्तपात के पश्चात् ज्वर छूट जाता है। दूसरी ओर अनेक
ज्वर वाले रोगियों में रक्त स्राव के बाद ज्वर जारी रहता है
और अन्त में व्यापक क्षय से उनकी मृत्यु हो जाती है।

१६०० वर्ष से भी अधिक हुए जब डा० गैलिन ने कहा
था कि क्षयी रक्तनिष्ठीवन की साध्यासाध्यता ज्वर की मात्रा
के ऊपर निर्भर होती है। ज्वर रहित रोगी साध्य होते हैं और
ज्वर वाले असाध्य। आजकल के अनुसंधान से भी यह बात
सत्य सिद्ध हुई है। रक्तनिष्ठीवन में रोगी की तात्कालिक और
विशेषकर अन्तिम दशा रक्तस्राव की मात्रा और उसके बार बार
होने पर उतनी निर्भर नहीं होती जितनी कि क्षयी विकारों के
विस्तार और विद्यमान रोग लक्षणों पर। बाद को यह रोग की
गति और उपद्रवों के होने या न होने पर निर्भर होती है।
रक्तनिष्ठीवन के समय यदि रोगी की नाड़ी अच्छी हो और
उसकी गति प्रति मिनट एक सौ से कम हो और श्वांस विरोध
न हो, तो रोगी की तात्कालिक दशा अच्छी समझनी चाहिये।
यदि बाद को रक्तस्राव बार बार होता रहे तोभी रोगी की
दशा जब तक नाड़ी ठीक हो और ज्वर न हो, अच्छी होती
है। यदि केवल थोड़े दिन ही रहे तो ज्वर कोई विशेष बुरा
लक्षण नहीं होता, क्योंकि वह श्वांस प्रणालियों में रक्त के
शोषण के कारण होता है। परन्तु जब ज्वर अधिक होता है
और कई दिनों तक लगातार चढ़ा रहता है तो यह अशुभ लक्षण
होता है। यदि नाड़ी निर्बल और शीघ्रगामी होती जाय तो बा

निश्चय समझना चाहिये कि स्राव जारी है। चाहे मुंह से रक्त बाहर भले ही न निकले। क्योंकि क्षय-रोग में कभी कभी भीतरी रक्त पात होता है और रक्त बड़े रंध्र में रुका रहता है जिसको निर्बल रोगी बाहर नहीं निकाल सकते। जिन रोगियों में रक्तपात से पूर्व ज्वर, शीघ्रगामी नाड़ी, जीर्णता इत्यादि प्रबल रोग के लक्षण होते हैं, उनकी साध्यासाध्यता में रक्तपात से कोई अन्तर नहीं पड़ता। अधिक रक्तपात से शरीर का ताप साधारणतः कम हो जाता है। पर थोड़ी देर में फिर बढ़कर रोग की गति जारी रहती है। परन्तु यदि शारीरिक ताप प्रकृतिस्थ हो अथवा थोड़ा सा बढ़ा हुआ हो, नाड़ी अच्छी हो और उसकी गति १०० से कम हो, रोगी की भूख ठीक हो तो तात्कालिक तथा अन्तिम परिणाम अच्छा समझना चाहिये। अधिकांश रोगियों में साधारण रक्त निष्ठीवन के बाद वक्षस्थल की परीक्षा करने पर ही रोग चिन्ह मिलते हैं, जो पहिले होते हैं वक्षस्थल का श्रवण करने पर साधारणतः कुछ सिक्त कण सुनाई देते हैं, जो पहिले सुनने में नहीं आते। वे कण कुछ सप्ताह तक रहते हैं। कुछ रोगियों में फेफड़ों के ऊर्द्ध खंड में मंदता का क्षेत्र कुछ बढ़ जाता है। रक्त के शोषित होने पर यह मंदता विलीन हो जाती है।

होम्योपैथिक चिकित्सा में लक्षणों के आधार पर चिकित्सा होती है। जैसे रक्त का रंग गाढ़ा या पतला, रोगी का चेहरा पीला या लाल, रक्त गिरने के पश्चात् लाल ही रहता है या काला हो जाता है। ज्वर है वा नहीं। अतः यदि सब लक्षणों का संग्रह करके ठीक उनकी लक्षणों वाली औषधि दी जावे (जो एक अनुभवी और स्वौध्यायशील निपुण डाक्टर ही दे सकता है) तो बिना इस निर्णय के कि क्षय-रोग के कारण रक्त आया है अथवा किसी अन्य कारण से रोगी को लाभ हो सकता है। अतः होम्योपैथिक औषधि से अवश्य लाभ उठाना चाहिये और

उस समय तक प्रयोग करना चाहिये जब तक कोई भी रोग लक्षण शेष रहे।

पाठ ११

स्वेद

यों तो क्षय-रोगियों में साधारणतः पसीना अधिक आता है और बड़ी सुगमता से प्रकट हो जाता है। परिश्रम, शोक, चिन्ता और चित्तोद्वेग से क्षय-रोगी को शीघ्र पसीना आने लगता है, पर रात्रि के २ व ४ बजे के बीच रोगीको बहुत ज़ोर का पसीना आना जिससे न केवल रोगी का शरीर किन्तु पलंग की चादर भी भीग जावे, क्षय-रोग का एक विशिष्ट लक्षण समझा जाता है। जब पसीना कम आता है तो केवल मस्तक, गर्दन और सीने पर होता है, और कभी कभी शरीर के एक ही ओर होता है। क्षय-रोग के विकास में ज्वर और पसीना साथ २ चलते हैं, अर्थात् जब ज्वर अधिक होता है तो पसीना भी अधिक होता है और जब ज्वर कम होता है तो पसीना भी घट जाता है। रात्रि स्वेद का कम होना इस बात का चिन्ह है कि रोगी की दशा सुधर रही है; पर हर क्षय-रोगी को रात्रि स्वेद नहीं होता। कुथी को प्रारम्भिक क्षय में ३७ प्रतिशत और सम्प्राप्त क्षय में ६१.५ प्रतिशत रोगियों में रात्रि स्वेद मिला था।

शरीर की और ओढ़ने बिछाने के कपड़ों की सफाई से रात्रि स्वेद की कमी हो सकती है।

पाठ १२

पाचक संस्थान, त्वचा तथा संधियों सम्बन्धी लक्षण

पाचन संस्थान

कुछ लोगों का विचार है कि जिन लोगों को पाचन विकार होते हैं उनमें क्षय-रोग अधिक होता है। डा० ...

कहना है कि सब क्षय-रोगियों को रोग होने से पहिले, रोग होने के समय, या आगे चलकर कभी न कभी मन्दाग्नि अवश्य हो जाती है। प्रत्यक्ष व्यवहार में ऐसे बहुत से रोगी देखने में आते हैं जिन के वास्तविक रोग का पत्ता लगाने से पूर्व दीर्घकाल तक मन्दाग्नि का इलाज होता रहता है। डा. विल्सन फिलिपने इस बात की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था कि बहुत से क्षय-रोगियों में रोग होने से कुछ समय पूर्व से मन्दाग्नि होती है। आजकल के कुछ डाक्टर इस सिद्धान्त को नहीं मानते। पर जब हम देखते हैं कि हचिंसन को अपने रोगियों में से ९२ प्रतिशत में, डा० लैविसन को ७४.६ प्रतिशत में और डा० मोलर तथा फक को १००० रोगियों में ६५० में मन्दाग्नि, डा० कैन्विक को ७० प्रतिशत में पाचन विकार मिले तो इस सिद्धान्त की सत्यता में संशय नहीं रहता। मन्दाग्नि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक मिलती है। क्षय-रोग की अरुचि की एक विशिष्टता यह होती है कि अन्य रोगों की भांति यह ज्वर पर निर्भर नहीं होती। बहुत से रोगियों में, जिन में केवल थोड़ी सी हरारत होती है भोजन के प्रति लगभग पूर्ण अरुचि होती है। दूसरी ओर अन्य रोगियों में जिन में ज्वर होता है, भूख बहुत अच्छी बनी रहती है। एक चिकित्सक का कथन है कि जिन रोगियों में ज्वर होते हुए भी भूख खूब लगे और भोजन भली प्रकार पच जाय, उन सब को क्षय-रोगी समझना चाहिये। उग्र फुफ्फुस प्रदाहवत क्षय-रोग में, जिसकी साधारण फुफ्फुस प्रदाह से पहिचान करना बड़ा कठिन होता है। यह लक्षण बहुत विश्वस्त होता है। फुफ्फुस प्रदाह में सदैव पूर्ण अरुचि होती है। उग्र क्षय-रोग में थोड़ी बहुत भूख बनी रहती है और १०३-१०४ डिगरी ज्वर में भी रोगी को भोजन की इच्छा रहती है।

प्रारम्भिक क्षयरोग में भोजनेच्छा प्रायः बहुत चपल होती है। एक दिन एक वस्तु अच्छी लगती है तो वही वस्तु

दूसरे दिन बुरी लगने लगती है। कुछ रोगियों में विशेषकर स्त्रियों में ऊट-पटांग चीज खाने की इच्छा रहती है। कुछ रोगियों में किसी विशेष चीज से अरुचि होती है। कुछ चिकित्सक रोगी में बल लाने के लिये दूध, अंडा इत्यादि खाने की भरमार कराके उसकी रुचि और पाचन शक्ति दोनों बिगाड़ देते हैं। चिकनी चीज खाने में क्षय-रोगी की बहुधा अरुचि होती है। डा० हचिंसन को अपने क्षय-रोगियों में से ७१ प्रतिशत में वसामय पदार्थों के प्रति अरुचि मिली थी। २३ प्रतिशत रोगी थोड़ी मात्रा में इन चीजों को खा सकते थे और केवल ५ प्रतिशत रोगी ऐसे थे जिनको वसामय पदार्थों रुचिकर थे। डा० फैनविक को ६४ प्रतिशत रोगियों में वसामय पदार्थ के प्रति अरुचि मिली थी जिनमें बहुत रोगियों में क्षय-रोग आरम्भ होने से महीनों पहिले से इस प्रकार की अरुचि प्रगट हो गई थी। उनको पता लगा कि जिन परिवारों में क्षय-रोग की प्रवण शीलता अधिक होती है उनमें अनेक व्यक्तियों में वसा के प्रति अरुचि पाई जाती है और थोड़ा सा वसामय पदार्थ के भोजन से भी पाचन विकार हो जाता है। कुछ रोगी ऐसे भी देखने में आते हैं जिन को विशेषकर मीठे पदार्थ अच्छे नहीं लगते। मिठाई खाने से कुपच होता है। बहुत से रोगियों में फेफड़े की दशा सुधरने पर भूख बढ़ने लगती है, परन्तु कुछ ऐसे भी देखने में आते हैं जिनमें रोग के धीरे धीरे बढ़ने पर भी भूख बढ़ने लगती है। जिससे यह प्रतीत होता है कि शरीर में क्षयी विषों के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है। अनेक रोगियों के हृदय में जलन, भोजन के पश्चात् पेट में पीड़ा, उबकाई, डकार, मुंह में पानी भर आना इत्यादि लक्षण होते हैं। फिर भी आमाशय की जांच करने पर उसमें कोई विकार नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय-रोग में अरुचि विष व्यापन से उत्पन्न होती है। क्षय-रोग के प्रारम्भ में जांच करने से आमाशय की रचना तथा कार्य

कोई स्थिर परिवर्तन नहीं मिलते हैं। कुछ रोगियों में उज्जहरिक (Acid Hydro chloric) कम और कुछ में अधिक मिलती है और कुछ में ठीक मात्रा में मिलती है। कुछ लोगों का मत है कि प्रारम्भिक क्षय में पाचन सम्बन्धी जो विकार मिलते हैं उनका कारण व्यापक रक्ताभाव होता है। रक्त की कमी से पाचक रस कम बनता है। अनैच्छिक मांसपेशियां दुर्बल हो जाती हैं और आमाशय की बात नाड़ी के सिरे कुपित हो जाते हैं।

सम्वृद्ध क्षय में पाचन सम्बन्धी लक्षण—

क्षय-रोग के प्रारम्भ में अरुचि इत्यादि पाचन विकार रोगी की दशा सुधरने और रोग के घटने पर शान्त हो जाते हैं और रोगी अच्छा हो जाता है। परन्तु उन रोगियों में जिनमें रोग प्रगति शीघ्र होता है और विशेषकर उनमें, जिनके फेफड़ों में रंध्र बन जाते हैं; मन्दाग्नि के लक्षण बने रहते हैं। जांच करने पर ज्ञात हुआ है कि लगभग दो तिहाई रोगियों में आमाशय के फूल जाने के चिन्ह मिलते हैं। आमाशय के फूलने की मात्रा का फेफड़ों के विकार के विस्तार और पुरातना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह ठीक है कि आमाशय का फूलना क्षय-रोग से पहिले का भी हो सकता है और यह पहिले बताया भी जा चुका है कि निर्बल शरीर वाले लोगों में अपेक्षाकृत क्षय-रोग अधिक होता है, परन्तु क्षयी विषों के व्याप्त होने से भी पेट फूल सकता है। क्योंकि इन विषों से मांसपेशियां निर्बल हो जाती हैं। आमाशय का पुरातन प्रदाह प्रायः मिलता है, परन्तु उसमें क्षयी व्रण बहुत कम पाये जाते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि आमाशय में लसिका तन्तु बहुत कम होता है और उसके पाचक रस क्षय-कीटाणुओं की वृद्धि के लिये अहितकर होते हैं। ब्रोम्पटन अस्पताल के २००६ रोगियों के मृत शरीरों की परीक्षा करने पर केवल दो में क्षयी व्रण मिले थे। अधिकांश सम्वृद्ध क्षय-

रोगियों में भूख कम हो जाती है और जो रोगी कुछ खाने की
चेष्टा करते हैं.उनको कुछ चीजें अच्छी लगती हैं और कुछ बुरी।
क्षय–रोगियों को खिलाने में कठिनाई का यह भी एक कारण है।
कुछ रोगियों को भूख अन्त तक अच्छी रहती है। भोजन के
बाद उदर में पीड़ा, उबकाई, डकार इत्यादि कष्ट होते हैं और
कभी कभी वमन भी हो जाता है। सम्वृद्ध रोगियों में कभी कभी
वमनकारक खांसी मिलती है, परन्तु साधारणतः इस अवस्था
में वमन खांसी के कारण नहीं होता। आमाशय के विकार होने
से होता है। इस प्रकार के वमन से पूर्व साधारणतः उबकाई
आती है और खांसी नहीं होती, जैसा कि वमनकारक खांसी
में होता है। वमन के पश्चात् उबकाई घंटों तक जारी रहती है।
(कुछ रोगियों में वमन के कारण भोजन रुकता ही नहीं। ऐसे
रोगियों का भविष्य बुरा होता है।)

विषम ताप वाले रोगियों में आमाशय का प्रदाह प्रायः
बहुत कष्टप्रद होता है और रात्रिस्वेद, खांसी, अतिसार इत्यादि
के साथ वमन क्षय-रोग का एक अन्तिम लक्षण होता है।
अनेक रोगियों में फेफड़े सम्बन्धी लक्षण इतने प्रधान होते हैं कि
उनसे पाचक लक्षण भी छिप जाते हैं परन्तु प्रायः पाचक लक्षण
भी इतने प्रमुख होते हैं कि उनकी देखभाल करना और उनपर
ध्यान देना आवश्यक होता है। यकृति के सिक्थात्मक अपकर्ष
के कारण पाचन विकार और भी बढ़ जाते हैं। ऐसा प्रतीत
होता है कि सम्वृद्ध क्षय-रोग में साधारणतः बदहजमी का संबंध
रंध्र निर्माण से होता है और उसका मुख्य कारण शरीर में
विषों का फैलना होता है कफ के निगलने से भी आमाशय में
विकार हो जाता है। कफ से केवल अन्न प्रणाली की श्लैष्मिक
कला ही प्रकुपित नहीं होती बल्कि कफ के शोषण से विष व्याप्ति
भी होता है।

आंतों के लक्षण—

क्षय-रोग के प्रारम्भ में कब्ज को छोड़ आंतों में कोई विकार नहीं होता। कब्ज का कारण खांसी की शमन कारक औषधियों का प्रयोग भी हो सकता है। कभी कभी क्षय-रोग के आरम्भ में अतिसार भी होता है जो प्रायः बालकों या वृद्धों में होता है। बालकों में कभी कभी क्षय-रोग का केवल यही एक लक्षण होता है। उनकी वक्षस्थल की परीक्षा करने पर कोई निश्चयात्मक चिन्ह नहीं मिलते, न श्वास प्रणालियों की ग्रन्थि वृद्धि के ही चिन्ह मिलते हैं। वृद्ध रोगियों में लगातार पुरातन अतिसार मिलने पर वक्षस्थल की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिये। जांच करने पर फेफड़ों में पुराने क्षयी विकार मिल जाते हैं और कफ की जांच करने में उसमें क्षय-कीटाणु भी मिल सकते हैं।

कुछ रोगियों में रोग की अवधि भर आंतों की क्रिया ठीक ठीक बनी रहती है परन्तु ऐसा कम होता है। अधिकांश रोगियों में रोग के बढ़ने पर अतिसार हो जाता है। अनेक रोगियों में इसका कारण अतड़ियों में क्षयी व्रण होते हैं, परन्तु अन्यान्य रोगियों में इस का कारण कुपथ्य से उत्पन्न अतड़ियों का प्रदाह होता है। अनेक रोगियों में दूध, अंडा तथा वसामय पदार्थों के अत्यधिक सेवन से अतिसार हो जाता है। जो इन पदार्थोंकेकम कर देने से अच्छा हो जाता है। जिन क्षय-रोगियों में अतड़ियों का विकार पहिले से होता है। उनमें अतिसार अधिक होता है। रोग की साध्यसाध्यता अतिसार के कारण पर निर्भर होती है। जब आंतों में सिक्थात्मक अपकर्ष या क्षयी व्रण होने के कारण अतिसार होता है तो वह बड़ा भयंकर होता है।

कृशता—

काय क्षीणता क्षय-रोग का एक प्रधान लक्षण होता है।

क्षय-रोग में सब धातु क्षीण हो जाती हैं इसलिये इसका नाम क्षय-रोग पड़ा है। उग्र धावमान तथा उग्र व्यापक क्षय-रोग में काय-क्षीणता बढ़ती जाती है और इतनी अधिक हो जाती है जितनी फुफ्फुस प्रदाह, मोतीझरा इत्यादि अन्य किसी रोग में नहीं होती। इन रोगों से उग्र क्षय की पहिचान करने में यह एक महत्वपूर्ण बात होती है। बच्चों में यदि खसरा या कुकर खांसी के बाद शरीर क्षीण होता जाय और उसके साथ श्वांस-कष्ट, शीघ्रगामी नाड़ी इत्यादि लक्षण व्यक्त हों, तो उग्र-क्षय का सन्देह करना चाहिये।

क्षय-रोग में लगभग सब अवस्थाओं में कुछ न कुछ पाचन-विकार होते हैं। इन विकारों से शरीर की क्षीणता उत्पन्न होती है और बढ़ जाती है, परन्तु जिन लोगों में पाचन शक्ति ठीक बनी रहती है उनमें भी काय क्षीणता होती है।

केवल त्वचा के नीचे का वसामय तन्तु ही क्षीण नहीं होता, बल्कि मांसपेशिया भी बड़ी शीघ्रता से क्षीण हो जाती हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सबसे पहिले उरच्छदा (Pectoralis) अंसच्छदा (Deltoid) अन्तर्पाशविक (Inter Costal) इत्यादि वक्षस्थल की मांसपेशियां क्षीण होती हैं। अनेक रोगियों में वक्ष की क्षीण मांस पेशियो और हाथ पैरों की सुदृढ़ मांसपेशियों का अन्तर स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है। वक्ष की रोग की मांस पेशियां तथा वसामय तन्तु दूसरी ओर की अपेक्षा शीघ्र और अधिक क्षीण हो जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अक्षकास्थि और प्रेस प्राचीरक (Spine of Scapula)के ऊपर केगड्ढे रोग की ओर अधिक गहरे हो जाते हैं। रोग की पहिचान में मांसपेशियों की क्षीणता की इस विशिष्टता की उपयोगिता डाक्टरों को हाल में ही ज्ञात हुई है। रोग के आरम्भ में रोगी में निर्बलता, थकावट, शक्ति का ह्रास इत्यादि जो लक्षण होते हैं, उनका कारण मांसपेशियों की क्षीणता है।

है। रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्कृष्ट चिन्ह मांस पेशियों की शक्ति का लौटना होता है। काय क्षीणता और रोग की गति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। फेफड़े में रोग की प्रत्येक वृद्धि और प्रत्येक रक्त स्राव के साथ रोगी का वजन कम हो जाता है। रोगी की दशा सुधरने पर वजन बढ़ने लगता है और शांत रोग में वजन स्थिर रहता है। यह कहा जा सकता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर रोगी के वजन का लेखा क्षय-रोग के विकास का अच्छा द्योतक होता है और यदि शारीरिक ताप के साथ साथ उस पर विचार किया जाय तो रोगी की दशा का साध्यसाध्यता की दृष्टि से भली प्रकार पता लगाया जा सकता है। परन्तु इसमें कुछ अपवाद होते हैं। जिन रोगियों में रोग की प्रगति रुक जाती हैं अर्थात जिनमें रोग शान्त होकर सुलगता रहता है उनका अनिश्चित काल तक वजन कम रहता है। वे अच्छे बने रहते हैं और काम काज करने के योग्य बने रहते हैं। जब रोगियों का वजन लगातार कम होता जाय तो उनको बतलाना उचित नहीं होता। क्योंकि इससे निरुत्स'हित होकर उनकी दशा और भी बिगड़ने लगती है। इसके विपरीत यह प्रायः देखा जाता है कि चिकित्सक या स्वास्थ्य शाला के परिवर्तन से रोगी का वजन बढ़ने लगता है और उनको यह झूठी धारणा हो जाती है कि हम अच्छे हो रहे हैं, परन्तु नये वातावरण की नवीनता का प्रभाव दूर होते ही लाभ होना रुक जाता है और कभी कभी वजन फिर घटने लगता है यहां तक कि अंत में भर्ती होने के समय की तौल से भी कम हो जाता है। वजन की वृद्धि शुभ चिन्ह तभी समझी जा सकती है जब वह लगातार कई महिनों तक होती रहे। कुछ क्षय-रोगियों में काय-क्षीणता शीघ्र और अत्यधिक होती है। कुछ महिनों में रोगी का शरीर केवल अस्थि पञ्जर शेष रह जाता है। इन रोगियों में रोग उग्र और वर्द्धमान होता है। कभी कभी कुछ रोगी ऐसे देखने में

आते हैं जिनमें रोग पुरातन होता है और वर्षों तक रहता है फिर भी कृशता बहुत होती है। पसलियां चमकने लगती हैं और उरवीक्षक यंत्र (Stethoscope) ठीक ठीक नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार का क्षीणता-कारक रोग बहुधा वृद्धों में पाया जाता है और चूंकि इन लोगों में ज्वर और खांसी बहुत कम होती है। इसलिये इनको कैन्सर रोगी समझ लिया जाता है।

काय-क्षीणत का साध्यासाध्य विचार में महत्व—

स्वास्थ्य शालाएं साधारणतः अपनी उपयोगिता का विज्ञापन प्रकाशित करती हैं और यह दिखलाती हैं कि उनमें इतने दिनों तक रहने पर रोगियों का औसत वज़न इतना पौंड बढ़ा है। रोगी भी साधारणतः अपनी उन्नति का अनुमान तौल ही से करते हैं। अधिकांश रोगियों में यह ठीक होता है जो रोगी उन्नति करते जाते हैं, उनका वज़न बढ़ता है। वज़न का लगातार घटना अरिष्ट का चिन्ह होता है, परन्तु इसमें कुछ अपवाद होते हैं। किसी संस्था में रहकर या घर पर बहुत दिनों तक आराम करने से तथा पौष्टिक भोजन खाने से रोगियों का जो वज़न बढ़ता है वह अच्छा तो अवश्य होता है परन्तु रोगी को रोग निवृत्त समझने के लिये यह आवश्यक है कि वहां से निकलने पर और पुनः अपना व्यवसाय आरम्भ करने पर वजन की बढ़ती स्थिर रहे। इस सम्बन्ध में पेटर्सन की क्रमिक श्रम चिकित्सा जैसी पद्धति संस्थाओं के अन्य चिकित्साओं के अपेक्षा अच्छी होती है। क्रमिक श्रम की पद्धति से जो लाभ होता है, वह अन्य संस्थाओं के, जिनमें रोगी सुस्त पड़े रहते हैं लाभों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इसी प्रकार जो रोगी घर पर रहकर अपना इलाज करते हैं और इलाज के समय कुछ कामकाज भी करते रहते हैं। उनमें जो लाभ होता है वह उन संस्थाओं के लाभ से अधिक स्थायी होता है जिनमें रोगी चारपाई पर पड़े रहते हैं। वज़न का मूल्य निर्धारित करने में बड़ी सावधानी

काम लेना चाहिये। कभी कभी यह देखा जाता है कि रोग बढ़ रहाहै परन्तु साथही साथ वज़नभी बढ़ रहा है। यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है परन्तु सावधानी से जांच करने पर विदित होता है कि पैरों पर सूजन आ रही है जो वज़न बढ़ाने का कारण है। कभी कभी ऐसे रोगी देखने में आते हैं जिन में रोग फेफड़े में तो अच्छा होता रहता है और भूख भी अच्छी लगती है फिर भी वज़न घटता जाता है। साधारणतः इस का कारण अंतड़ियों में क्षय होता है जिस में विशिष्ट लक्षण अतिसार नहीं होता। यह एक स्मरण रखने योग्य बात है, क्योंकि यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि अंतड़ियों में रोग हुआ है या नहीं। रोगीका भविष्य अंतड़ियों कीदशा पर बहुत कुछ निर्भर होता है। भारतवर्ष में मैदानों में रोगी का वज़न जाड़ों में प्रायः बढ़ता है और गर्मी में कम होता है। पहाड़ इत्यादि पर प्रथक प्रभाव होता है।

मोटे लोगों में क्षय— कुछ लोग देखने में हृष्ट पुष्ट प्रतीत होते हैं। परन्तु उनको खांसी आती है, कफ निकलता है, जिसमें क्षय-कीटाणु भी होते हैं। कुछ हरारत भी होती है और कभी कभी रात्रि स्वेद भी होता है। जब ऐसे रोगी परीक्षा के लिये आते हैं तो वक्षस्थल में एक या दोनों फेफड़ों में क्षय-रोग के चिन्ह मिलने पर भी उनको क्षय-रोगी बतलाने में चिकित्सक को संकोच होता है। ऐसे रोगियों में रोग की गति धीमी होती है और वे वर्षों तक चलते हैं। कुछ रोगियों एवं चिकित्सकोंको केवल कफ मेंक्षय-कीटाणु मिलने पर ही विश्वास होता हैकि क्षय रोग है। स्त्री क्षय-रोगियों में वसा वृद्धि बहुधा रजोनिवृत्ति के समय याउसके पश्चात् मिलती है। कभी कभी यह पुरुषों में भी पाई जाती है। विशेषकर उनमें जो मदिरा पान करते हैं और जिनको पहिले उपदंश हो चुका हो। ऐसे रोगियों को

बहुधा बहुत भूख लगतीहै और जब उनसे जब खूब खानेके लिये

कहा जाता है तो खूब खाने लगते हैं। आराम करने के साथ अधिक भोजन से जागृत रोग के होते हुए भी रोगी मोटा हो जाता है। वायुष्मान रोग में क्षय-रोग होने पर और सुत्रोल्व क्षय में, रोगियों का वजन प्रायः औसत से अधिक हो जाता है।

वसामय क्षय-रोग बच्चों में भी मिलता है, विशेषकर क्षयी माता पिता की सन्तान में देखने में वे हृष्ट पुष्ट और मोटे प्रतीत होते हैं। परन्तु जब उनकी मांस पेशियों की जांच की जाती है तो वे पिलपिली और मुलायम मिलती हैं। इन ढीले शरीर वाले मोटे बच्चों में संक्रमण के रोकने शक्ति नहीं होती। किसी भी उग्र रोग से शान्त क्षय-रोग जाग्रत होकर उनकी मृत्यु का कारण बन जाता है। त्वचा मांसपेशियां और वसा के क्षीण होने के अतिरिक्त क्षय-रोग में त्वचा भी शीघ्र क्षीण होने लगती है। निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि रोगस्थल के ऊपर की त्वचा पतली हो जातीहै और अधोगत तंतु क्षीण हो जाते हैं। पोटेंजुर के मतानुसार यह त्वचा की क्षीणता व्यापक क्षीणता का एक अंश होता है और रोग के कुछ दिनों के चलने के बाद होता है। यद्यपि यह क्षय-रोग में अपेक्षाकृत जल्दीभी मिलता है तथापि इससे रोग की पुरातनता ही सूचित होती है न कि नूतनता। ऐसे रोगियों में यह माना जा सकता है कि पुराना शान्त रोग फिर से जाग्रत हो गया है।

रोगी का वर्ण साधारणतः पीला होता है, यद्यपि कभी ऐसे रोगीभी देखने में आते हैं जिनमें रोग बढ़ने पर भी चेहरे का रङ्ग अच्छा बना रहता है। कुछ रोगियों के चेहरे पर विशेष प्रदीप्त (Hectis Flush) दिखाई पड़ती है। यह प्रायः उस समय होता है जब ज्वर बढ़ता है। यह प्रदीप्त फेफड़े के रोग की दिशा वाले केवल एक कपोल पर होती है। सूत्रोल्व क्षय तथा वायुष्मान वाले रोगियों में जिनमें हृदय का दाहिना कोष्ठ फूल जाता है चेहरे पर श्यामता आ जाती जाती है।

श्यामता उग्र व्यापक वजरीले क्षय का एक प्रधान लक्षण होती है। अनेक रोगियों में जिनमें विस्तृत रंध्र होते हैं, श्यामता बहुत कम होती है। जांच करने पर अधिक से अधिक होठों पर कुछ नीलापन मिलता है। परन्तु सूत्रोल्वण क्षय में श्यामता प्रायः अधिक होती है। मेजर सोलिस कोहिन का मत है कि २५ से ३३ प्रतिशत क्षय-रोगियों में तमक, जलन, स्वेद, पित्ती इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

रंगीन धब्बे—

क्षय-रोग में कभी कभी चेहरे के ऊपरी भाग तथा मस्तक पर चिकने और चमकीले धब्बे दिखाई देते हैं। वे बहुधा अलग अलग होते हैं परन्तु कभी कभी उनके मिलने से बड़े बड़े चकत्ते बन जाते हैं। जिनसे स्त्री रोगियों को बड़ी घबराहट होती है। ये चकत्ते बहुधा उन रोगियों में होते हैं जिनकी लसिका ग्रन्थियां बढ़ी हुई होती हैं और ऐसे रोगियों में रक्तनिष्ठीवन बहुत कम होता है। जिन रोगियों को पसीना अधिक आता है उनके वक्ष-स्थल और उदर पर छोटे छोटे दाने निकल आते हैं।

सेहुआ, बनरफ या छीप—

त्वचा का यह रोग क्षय-रोग में बहुत मिलता है इसके चकत्ते वक्षस्थल पर आगे और पीछे बहुत होते हैं और त्वचा से कुछ उभरे हुए होते हैं। आकार में गोल या अण्डाकार होते हैं उनको खुरचने से बहुत छोटी छोटी पपड़ियां निकलने लगती हैं। इन चकत्तों का रंग गेहुआं होता है। जो रोगी अपने शरीर को साफ नहीं रखते, उनमें इन दानों के निकलने से बड़े बड़े चकत्ते बन जाते हैं, जिनको खुजलाने से पपड़ियां झड़ने लगती हैं। यह चर्म उन क्षय-रोगियों में अधिक मिलता है जिनको रात में पसीना अधिक आता है और जिनकी त्वचा में पपड़ी पड़ने की प्रवृत्ति होती है। जब वक्ष पर होता है तो सेहुआ क्षय-रोग का

द्योतक होता है। यद्यपि यह और भी क्षीणताकारक रोगों में भी होता है।

क्षयी विस्फोटक—

क्षय सक्रमण तथा क्षय-रोग के संम्बन्ध में जो दाने त्वचा पर निकलते हैं उनको क्षयी विस्फोटक (Tubercwlides) कहते हैं। उनमें दो प्रकार के मुख्य होते हैं :—

१—मुहासे के सदृश दाने-ये दाने तरुण रोगियों में बहुधा पाये जाते हैं और प्रधानता रोगी के चेहरे पर होते हैं। ये छोटी छोटी लाल या काली फुंसियां होती हैं। प्रत्येक फुंसी लगभग एक मास रहती हैं इसके पश्चात् वह सूख या पक जाती हैं। पककर फूटने पर एक छोटा सा क्षत-चिन्ह शेष रह जाता है। इन फुंसियों की फसल एक के बाद दूसरी निकलती रहती है। इसलिए एक ही रोगी में चेहरे या पीठ पर अथवा पुट्ठों के बीच में बिखरी हुई फुन्सियां विभिन्न अवस्थाओं में मिल जाती हैं। मुहांसों की भांति इनमें कील या चिकनाहट नहीं होती।

२—दूसरे प्रकार के दाने भी तरुण रोगियों में पाये जाते हैं। इन दानों की भी एक के बाद दूसरी फसल लगातार हाथ, प्रकोष्ठ, उंगली, कोहनी, घुटने, पैर और कानों तथा कभी कभी चेहरे पर निकला करती हैं। प्रत्येक पिडिका गहरे लाल रंग की होती है। जिसका शिखर एक सप्ताह में पक जाता है। पके हुए दाने सूखकर उनपर पपड़ी पड़ जाती है, जो कई सप्ताह तक निकला करती है। पपड़ियों के छूटने पर कुछ दबे हुए क्षत-चिन्ह शेष रह जाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दोनों का सम्बन्ध क्षय-संक्रमण से होता है, परन्तु प्रधानतः ये ग्रन्थि, अस्थिकला तथा त्वचा के क्षय में अधिक पाये जाते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य

है कि ये दाने प्रधानतः उन रोगियों में होते हैं जिनमें उपरोक्त प्रकार के क्षय-रोग सुप्त या शान्त अवस्था में होते हैं-फुफ्फुस क्षय के जिन रोगियों में ये विस्फोटक होते हैं, उनमें रोग बहुधा निश्चेष्ट होता है। यद्यपि उनमें क्षय-कीटाणु बहुत थोड़े पाये जाते हैं, फिर भी साधारण मत यह है कि वे क्षय-कीटाणुओं के त्वचा में स्थित होने से उत्पन्न होते हैं। त्वचा और फेफड़ों के क्षयी विकारों में परस्पर विरोध होता है। त्वचा के इन क्षयी विस्फोटकों से इस बात का समर्थन होता है। सभी लेखकों का कहना है कि इन दानों के अवधिकाल में न ज्वर होता है न कोई अन्य लक्षण और अधिकांश रोगियों में या तो गुप्त क्षय के लक्षण होते हैं या उनके परिवार में क्षय-रोग का होना पाया जाता है। इसलिये रोगी को यह आश्वासन देना चाहिये कि रूप के विचार से यह रोग अवश्य बुरा है, परन्तु इसमें फेफड़ों में क्षय-रोग होने का भय नहीं होता। जिन लोगों में क्षय-रोग हो, उन में इन दोनों का निकलना शुभ का लक्षण होता है।

बाल—

कुछ लोगों का कथन है कि अन्य रोगियों की अपेक्षा क्षय रोगियोंमें गंजापन अधिक होता है,पर अन्य डाक्टर इसको ठीक नहीं मानते। यह तो सत्य ही है कि क्षय-रोग में बालों की चिकनाहट कम हो जाती है और वे झड़ने लगते हैं।

गदाकार उंगलियां—

क्षय-रोग में दोनों हाथों की उंगलियां साधारणतः गदाकार हो जाती हैं और उनके नख लम्बाई और चौड़ाई दोनों दिशाओं में अधिक टेढ़ेहो जाते हैं। जांच करने पर ज्ञात हुआ है कि राजयक्ष्मा वाले रोगियों में से ७५ से ९५ प्रतिशत में नखों में परिवर्तन हो जाते हैं। एक्सरे परीक्षा से यह विदित होता है कि हड्डियों तथा संधियों में कोई परिवर्तन नहीं होता और न त्वचा

में कोई विकार होता है। केवल त्वचा के नीचे के तन्तु अति पुष्ट हो जाते हैं। निश्चेष्ट रोग की अपेक्षा जाग्रत रोग में नखों और उंगलियों के परिवर्तन अधिक मिलते हैं। अधिकांश रोगियों में यह परिवर्तन अज्ञात रूप से होते हैं और रोगी को उस समय तक उनकापता नहीं चलता जबतक चिकित्सक उनकी ओर उसका ध्यान अकर्षित नहीं करते। परन्तु कुछ रोगियों में परिवर्तन बहुत शीघ्र हो जाते हैं और कुछ सप्ताहों में ही उंगलियां गदाकार हो जाती हैं। गदाकार उंगलियां सब पुरातन क्षय-रोगियोंमें नहीं मिलती,अनेक क्षय-रोगियों की उंगलियां ठीक बनी रहती हैं और कुछ की लम्बी अंडाकार हो जाती हैं। सूत्रोल्वण क्षय में तथा वायुध्मान वाले क्षय-रोगियों में और उन रोगियों में जिनके पार्श्वकला में बन्धन बन जाते हैं, गदाकार उंगलियां सदैव मिलती हैं।

अस्थियों और संधियों में परिवर्तन—

कुछ सम्वृद्ध क्षय-रोगियों में हाथ और पैर मोटे हो जाते हैं। उंगलियां बड़ी हो जाती हैं और नख तोते की चोंच की भांति बड़े और टेढ़े हो जाते हैं। अधिकांश रोगियों में कलाई मोटी और विकृत हो जाती है। कुछ रोगियों में पृष्ट वंश टेढ़ा हो जाता है और पैरों में कलाई और हाथों के समान परिवर्तन हो जाता है।

क्षय-रोग में अस्थियों और संधियों के इन परिवर्तनों पर अभी तक आधुनिक विज्ञान में कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि हाथों और पैरों के ये परिवर्तन साधारणतः अति पुरातन क्षय-रोग में, विशेषकर सूत्रोल्वण क्षय-रोग में पाये जाते हैं।

पाठ १३

रक्त तथा मूत्रसंस्थान सम्बन्धी लक्षण

हृदय और नाड़ी संस्थान

हृदय की धड़कन—

क्षय-रोग में हृदय तथा नाड़ियों के विकारों में से सबसे प्रधान लक्षण धड़कन, नाड़ी की द्रुत-गति और रक्त भार में कमी होती है।

क्षय-रोग के आरम्भ में हृदय की धड़कन प्रधानतः तरुण रोगियों में होती है, विशेषकर उन युवतियों में जिनमें रक्त की कमी होती है। थोड़े से परिश्रम या चित्तोद्वेग से और कभी कभी अकारण ही धड़कन होने लगती है। कभी कभी यह बड़े जोर की होती है और अकेले इसी कारण के लिये रोगी चिकित्सक के पास जाते हैं। कभी कभी धड़कन के साथ हृदय प्रदेश में शूल या कष्ट पांडुता, चेहरे की प्रदीप्ति, स्वेद इत्यादि रक्त–नाड़ी नियन्त्रण-सम्बन्धी अन्य लक्षण भी होते हैं।

कुछ रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें क्षय–आरम्भ के लक्षणों और चिन्हों के प्रगट होने से पहिले ही धड़कन होती है इसलिये उनका हृदय रोग का इलाज होने लगता है। कुछ में चुल्लिका ग्रन्थि की तेजी (Hyperthyroidism) के लक्षणों से प्रायः क्षय-रोग का भ्रम हो जाता है और कभी इससे उलटा होता है। अर्थात नाड़ी की द्रुत-गति, स्वेद की प्रवृत्ति, चेहरे की प्रदीप्ति, कृशता इत्यादि लक्षणों का कारण चुल्लिका ग्रन्थि की तेजी समझली जाती है और उसी का इलाज किया जाता है, परन्तु वक्ष की सावधानी से परीक्षा करने पर क्षयी–विकारों का पता लग जाता है। कुछ क्षय–रोगियों में विशेषकर युवक या युवतियोंमें और रजोनिवृत्ति काल में, स्त्रियोंमें हृदयकी

दुर्बलता के लक्षण पाये जाते हैं। ऐसे रोगियों के चेहरे पर रक्त-
मता, हाथ पैर ठंडे और श्यामवर्ण नाड़ी कुछ निर्बल, रक्त-
नाड़ियों का चाप कम और उदरेन्द्रियों की शिराओं में रक्तावरोध
होता है। इस प्रकार के क्षय-रोगियों का इलाज बहुधा स्नायविक
दुर्बलता, चुल्लिका ग्रन्थि की तेजी इत्यादि विकार समझकर होता
रहता है। दूसरी ओर अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि जब ये
लक्षण प्रबल होते हैं तो फेफड़े में रोग हल्का होता है और
उसकी अच्छा होने की प्रवृत्ति होती है।

इस अवस्था में हृदय की धड़कन के क्या कारण होते
हैं, इसका विशद ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। कुछ लोगों का
विचार है कि इसका कारण हृदय के दाहिने कोष्ठ का फूलना
होता है, परन्तु धड़कन उन लोगों में भी पाई जाती है जिनका हृदय
ठीक होता है। अन्य लोगों का विश्वास है कि धड़कन रक्त की
कमी के कारण या पिङ्गल नाड़ी के विकारों के कारण होती है।
अनेक रोगियों में धड़कन का यह पिछला कारण स्पष्ट दिखाई
पड़ता है। क्योंकि यह बहुधा अधीर रोगियों में, युवतियों में
और रजो निवृत्ति काल में स्त्रियों में मिलती है। हृदय की चालक
दसवीं नाड़ी पर बढ़ी हुई लसिका ग्रन्थियों का दबाव होने से भी
धड़कन हो सकती है। क्षय-रोग के विषों का हृदय पर अवश्य
प्रभाव पड़ता है। जिससे हृदय में द्रुत-गति और धड़कन उत्पन्न
हो जाती है। समवृद्ध परन्तु उपशान्त क्षय-रोगियों में भी हृदय
उत्तेजित होता है। रोगी के अच्छा होने की दशा में भी जब ज्वर,
खांसी या कृशता इत्यादि कोई भी लक्षण नहीं होता, थोड़े से
परिश्रम या चित्तोद्वेग से हृदय उत्तेजित हो जाता है और रोगी
को कष्ट तथा हृदय शूल तक भी हो जाता है। इन रोगियों में
धड़कन हृदय के स्थानच्युत होने से होती है और बाईं ओर के
रोग में अधिक होती है। बायें फेफड़े में विस्तृत रंध्र बन जाने
से ऊतकों के सुकड़ने पर मध्य वक्ष बाईं ओर को और वक्ष-

मध्यस्थ पेशी ऊपर की ओर खिंच जाती है। इसलिये हृदय ऊपर और बाईं ओर को हट जाता है। हृदय के दाहिने ओर हटने में इतनी अधिक धड़कन नहीं होती। सिवाय समवृद्ध अवस्था के, जब कि धड़कन हृदय के स्थानच्युत होने से होती है। क्षय-रोग की गति पर धड़कन का कोई प्रभाव नहीं होता। अधीर स्वभाव वाले रोगियों में रोग की प्रारम्भिक अवस्था में धड़कन उन रोगियों में भी मिलती है जो लगातार अच्छे होते जाते हैं, परन्तु रोग निरूपण की दृष्टि से यह एक बड़ा मूल्यवान लक्षण होता है। हिर्ज का कहना है कि जब कोई रोगी धड़कन की शिकायत करे तो उसके फेफड़ों की परीक्षा करनी चाहिए। यद्यपि यह बात हरएक रोगी पर लागू नहीं होती तथापि यह स्मरण रखने योग्य है। कुछ क्षय-रोगियों में रक्तनिष्ठीवन के होने से एक दो दिन पूर्व से धड़-कन होने लगती है।

हृदय की द्रुत-गति—

हृदय की द्रुत-गति बहुधा क्षय-रोग की सब अवस्थाओं में मिलती है। धड़कन से यह इस बात में भिन्न होती है कि इस का केवल चिकित्सक को ही पता चलता है। रोगी को इसका ज्ञान नहीं होता। इसके प्रतिकूल धड़कन केवल एक आत्मगत लक्षण होती है। लगभग ६० प्रतिशत प्रारम्भिक क्षय में हृदय की द्रुत-गति पाई जाती है। क्षय-रोग का यह एक ऐसा लक्षण है जिसको लोग प्रायः उतना महत्व नहीं देते, जितना देना चाहिये। रोग के सन्देह के निर्णय में इससे प्रायः बड़ी सहायता मिलती है। हृदय की द्रुतगति रोग के विषों से उत्पन्न हो सकती है। अन्य ज्वरों की की भाँति क्षय-रोग में भी शारीरिक ताप के बढ़ने के साथ साथ नाड़ी की गति बढ़ जाती है, परन्तु यह प्रायः उन रोगियों में भी स्पष्टतः पाई जाती है जिनमें ज्वर नहीं होता तथा जिनका शारीरिक ताप आरोग्य ताप से भी कम होता

है। वास्तव में क्षय-रोग में ज्वर की तुलना में नाड़ी की गति कहीं अधिक तेज होती है। अन्य रोगों में एक डिगरी शारीरिक ताप बढ़ने से नाड़ी की गति साधारणतः प्रति मिनिट आठ बढ़ती है परन्तु क्षय-रोग में १०० डिगरी से ताप परिमाण पर नाड़ी की गति बहुधा १२० या इससे भी अधिक मिलती है। वास्तव में अधिकांश ज्वर रहित रोगियों में नाड़ी की गति प्रति मिनिट ९० से ऊपर होती है और प्रातःकाल जब शारीरिक ताप बहुत कम हो जाता है द्रुत-गामी नाड़ी का मिलना असाधारण नहीं होता। अस्तु नाड़ी की द्रुत-गति क्षय-रोग का एक प्रारम्भिक लक्षण होती है और कुछ विशेषज्ञ इसको क्षय-रोग का एक पूर्व लक्षण मानते हैं।

हृदय की स्थायी द्रुत-गति—

अधिकांश क्षय-रोगियों में हृदय की द्रुतगति स्थायी होती है और उसके साथ साथ धड़कन क्लान्ति, निर्बलता, श्वास कष्ट इत्यादि लक्षण होते हैं। अन्यान्य रोगियों में यह केवल विषयात्मक (Objective) होती है और रोगी को इसके अस्तित्व का पता नहीं होता। ऐसे अनेक रोगी मिलते हैं जिनमें रोग के रुकने या निवारण होने पर भी नाड़ी की द्रुत-गति बनी रहती है। कभी कभी रोगी की कार्य शक्ति में इससे बाधा पड़ती है।

क्षय-रोग की नाड़ी की दूसरी विशेषता उसकी अस्थिरता और चंचलता होती है। आराम करते समय गति ठीक रहती है; परन्तु खांसी, चित्तोद्वेग, भर पेट भोजन, करवट बदलना इत्यादि बहुत थोड़े परिश्रम से ही नाड़ी की गति ११० से १२० तक हो जाती है। एक लेखक का कथन है कि क्षय-रोग के समान अन्य किसी रोग में नाड़ी इतनी चंचल नहीं होती। कतिपय रोगियों में नाड़ी की द्रुत-गति के दौरे होते हैं। रोगी अच्छा प्रतीत

होता है, परन्तु अकारण अकस्मात हृदयमें धड़कन होने और श्वांस फूलने लगती है और चेहरे तथा नखों पर कुछ शयामता आ जाती है। नाड़ी की गति १५० से २०० प्रति मिनिट तक हो जाती है और यह निर्बल तथा प्रायः अनियमित हो जाती है। दौरे कभी कई घंटे रहते हैं और कभी एक या दो दिन तक। कई दौरों के बाद हृदय के फूलने के चिह्न मिलने लगते हैं। हृदय के फूलने से हाथ पैरों पर सूजन, यकृति की वृद्धि इत्यादि लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है और अन्त में हृदय का आकुंचन रुक कर रोगी की मृत्यु हो जाती है। नाड़ी की द्रुत-गति के दौरे बहुत भयानक और अशुभ सूचक होते हैं और वे बार बार होने लगते हैं तो किसी एक दौरे में रोगी की मृत्यु हो जाती है, उसका यही कारण होता है। नाड़ी की द्रुत-गति के कारणों पर अभी तक ठीक ठीक प्रकाश नहीं पड़ा है। क्षय-रोग में नाड़ी की स्थायी प्रगति से रोग अधिक असाध्य हो जाता है। ऐसे रोगियों को पहाड़ों पर नहीं भेजना चाहिए। इसके कारण बड़े जटिल और प्रत्येक रोगी में भिन्न भिन्न होते हैं। जिन रोगियों में रोग के विषों के कारण नाड़ी की द्रुत-गति होती है उनमें ज्वर कम होने पर नाड़ी की गति कम हो जाती है।

नाड़ी की मन्दगति—

क्षय-रोग में धीमी नाड़ी बहुत बिरल होती है। परन्तु जिनको बहुत से क्षय-रोगी देखने का अवसर प्राप्त होता है, उन को कभी कभी एकाध रोगी ऐसा मिल जाता है जिसकी नाड़ी की गति मन्द होती है। इसका कारण हृदय रोग अथवा हृदय की चालक नाड़ी का प्रकोप होता है। जिन क्षय-रोगियों में नाड़ी की गति धीमी होती है, उनमें रोग अधिक साध्य होता है। रोग की अन्तिम अवस्था में प्रायः नाड़ी की गति धीमी परन्तु निर्बल मिलती है, क्योंकि कुछ धड़कनें घट जाती हैं। ऐसी नाड़ी हृदय की कार्य शक्ति की कमी की सूचक होती है। मस्तिष्कावरण के उपद्रव

रूप प्रदाह में नाड़ी की गति कम हो जाती है।

रक्तचाप की कमी—

अधिकांश क्षय-रोगियों में रक्तचाप कम हो जाता है। इस का कारण निस्संदेह क्षय-कीटाणुओं के विषों का प्रभाव है क्योंकि यक्ष्मिन की पिचकारी लगाने पर रक्तचाप कम हो जाता है। सर डगलस पावल का कहना है कि पहिले जब त्वचा तथा अन्य स्थानों के क्षय-रोग के यक्ष्मिनोपचार (Tuber culin treatment) में यक्ष्मिन का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता था उस से भी कभी रक्तपात हो जाता था। क्षय-रोग के प्रारंभ में रक्तचाप की कमी विशिष्ट स्थायी लक्षण होती है और जब यह बिना किसी ज्ञात कारण के किसी प्रौढ़ मनुष्य में मिले तो क्षय-रोग का सन्देह करना चाहिये। जिन रोगियों में क्षय-रोग के लक्षण और चिन्ह स्पष्ट हों, यदि उनमें रक्तचाप कम मिले तो क्षय-रोग का निश्चय समझना चाहिये। इस के विपरीत जिन रोगियों में रक्तचाप अधिक हो, उनको क्षय-रोगी समझने में शङ्का होनी चाहिये। रक्तचाप की यह कमी रोग के प्रारंभ में सुस्पष्ट होती है और रोग की प्रगति की दशा में और भी बढ़ जाती है। जिन क्षय-रोगियों में रक्तचाप प्रकृतिस्थ या अधिक हो उन को अधिक साध्य समझना चाहिये। जब रक्तचाप के बढ़ाने वाले रोगों से पीड़ित व्यक्तियों में क्षय रोग होता है तो वह अधिक साध्य होता है। यदि पहिले रक्तचाप कम हो और वह धीरे धीरे बढ़ने लगे तो उसको रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्कृष्ट चिन्ह समझना चाहिये। इसके विपरीत प्रकृतिस्थ अथवा अधिक रक्त-चाप वाले क्षय-रोगियों का चाप यदि कम होने लगे तो समझना चाहिये कि रोग बढ़ रहा है और रोगी की दशा बिगड़ रही है।

रक्त विकार

लाल रुधिर कण—

बहुत से क्षय-रोगियों में प्रायः रक्तकी कमी प्रतीत होती है। परन्तु इस रोग में रक्त कणों की संख्या में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। वास्तव में यह स्मरण रखने योग्य है कि बहुत से क्षय-रोगियों के, जिनके चेहरे पीले होते है रक्त में कोई विकार नहीं मिलता। केवल रोग की सम्वृद्ध अवस्था में रक्तराग (Hæmoglobin) कुछ कम हो जाता है। कभी कभी लाल रुधिर कणों की संख्या बढ़ जाती है। परन्तु रक्तराग नहीं बढ़ता अधिक रक्त-निष्ठीवन के बाद रक्त कम हो जाता है परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि रक्त की दशा रक्तपात बन्द होने के बाद बहुत शीघ्र ठीक हो जाती है। कभी कभी रोग के प्रारम्भ में रक्तराग की प्रतिशत मात्रा कम हो जाती है, परन्तु रोगी का ठीक ठीक इलाज होते ही और उसको यथोचित भोजन मिलने पर रक्तराग की कमी पूरी होने लगती है। खोज से यह ज्ञात हुआ है कि रोग के बढ़ने और फेफड़ों में रंध्रों के बनने पर भी रक्त के रूप में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं होता, रोग की इस अवस्था में रोगी के शरीर पर जो पीलापन दिखाई पड़ता है, उसका कारण रक्त कणों की संख्या का कोई विकार नहीं होता, बल्कि इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि शरीर के कुल रक्त की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि पसीने, कफ और दस्तों में शरीर से पानी अधिक निकल जाता है। जिससे रक्त सघन हो जाता है और इसकी मात्रा कम हो जाती है।

श्वेत रक्तकण—

क्षय-रोग के प्रारम्भ में श्वेत रक्तकणों की संख्या और रूपभेदों में कोई परिवर्तन नहीं होता। कुछ विशेषज्ञों को श्वेत कणों की संख्या में बढ़ती मिली है जो रोग के बढ़ने पर और

भी बढ़ जाती है। चूंकि यह वृद्धि थोड़ी होती है। इसलिये रोग की पहिचान में इससे कोई सहायता नहीं मिलती। बहुमत इस पक्ष में हैं कि स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा क्षय-रोगियों में श्वेत कणों की संख्या कुछ अधिक होती है। रोग के प्रारम्भ में श्वेत कणों की निरपेक्ष वृद्धि मिलती है, परन्तु श्वेतकणों की सापेक्षिक वृद्धि केवल रोग की सम्प्राप्त अवस्था में मिलती है और यह फेफड़ों के रोग की गंभीरता के साथ साथ चलती है। कुछ लोगों का मत है कि क्षय-रोग में रक्त कणिकाओं (Blood Platolets) की संख्या बढ़ जाती है। उनका विश्वास है कि रक्त-कणिकाओं में रक्तकणों के त्रिघत्सावर्द्धन पदार्थ (Opsonius) होते हैं। रक्त कणिकाओं की संख्या ६००० फीट की ऊंचाई पर बढ़ जाती है और वेव के मतानुसार क्षय-रोगियों पर उन्नताश के लाभदायक प्रभाव का यह एक कारण है।

रोग के बढ़ने पर श्वेतकणों की संख्या कभी कभी बढ़ जाती है यह बढ़ती साधारण अस्थायी और कभी कभी स्थायी होती है। यह क्षयी प्रक्रिया की क्रिया शीलता, ज्वर की तीव्रता और उपद्रवों की उपस्थिति इत्यादि अनेक बातों पर निर्भर होती है।

रक्त संचालन में क्षय-कीटाणु—

क्षय-रोग का विष रक्त में मिलता है। इसे कुछ डाक्टर मानते आये हैं। सन् १८८४ ई० में वीशेल्नबाम को उग्रव्यापक बजरीले क्षय से पीड़ित रोगियों के रक्त में क्षय-कीटाणु मिले थे। हाल में कुछ लोगों को पुरातन तथा शान्त क्षय से पीड़ित रोगियों के रक्त में भी क्षय-कीटाणु मिले हैं। लीवर मीस्टर को मरणासन्न रोगियों में से ७५ प्रतिशत के प्रारम्भिक क्षय के कुछ रोगियों के रक्त में क्षय-कीटाणु मिले हैं। पर कुछ डाक्टरों की सम्मति में क्षय-रोग की पहिचान और साध्यासाध्यता विचार में इसका कुछ मूल्य नहीं है।

मूत्र संस्थान

कुछ लेखकों का कहना है कि प्रारम्भिक तथा गुप्त क्षय में भी मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है और उसमें फास्फेट तथा अंडों की सफ़ेदी आने लगती है। पर हमारे अनुभव में ऐसा उन ही को होता है जिन्हें मधु मेह का रोग होता है। बार्वियर का कहना है कि क्षय-रोग में अन्य लक्षणों के प्रादुर्भाव के बहुत पहिले से मूत्र में अंडे की सफेदी सी आने लगती है और इस को चिकित्सक बहुधा भूल से नहीं समझ पाते। रोबिन ने मूत्र की अधिकता को क्षय-रोग का पूर्व लक्षण लिखा है। उनका कहना है कि क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था में मूत्र की मात्रा अधिक होती है। मध्यावस्था में प्रकृतिस्थ होती है और सम्वृद्ध अवस्था में कम हो जाती है। परन्तु कुछ लोगों में मूत्र की अधिकता आद्योपान्त बनी रहती है। सम्वृद्ध अवस्था में मूत्र की कमी का ज्वर, रात्रिस्वेद तथा अन्तिम अतीसार से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। रोबन का मत है कि प्रारम्भिक क्षय में मूत्र की केवल अधिकता ही होती है, उसके रासायनिक संघटन में कोई विकार नहीं होता। परन्तु उपरोक्त विकार इतनी स्थिरता से नहीं मिलते कि उनको प्रारम्भिक क्षय का निश्चयात्मक या विशिष्ठ लक्षण समझा जाय।

सम्वृद्ध रोगियों के मूत्र में अंडे की सफ़ेदी (Albúmin)—

रोग की सम्वृद्ध अवस्था में रोगी के मूत्र में अंडे की सफ़ेदी बहुधा आने लगती है। अधिकांश रोगियों में सफेदी की मात्रा लेशमात्र होती है और जब इसकी मात्रा अधिक होती है तो उसके साथ साथ सांचे (Casts) रक्त तथा पीव आता है। कुछ लोगों के जांच करने पर ३० से ४० प्रतिशत रोगियों के मूत्र में सफेदी मिलती है। जिन रोगियों के अंतडियों में व्रण हो जाते हैं उनके मूत्र में अन्य लोगों की अपेक्षा सफेदी अधिक

मिलती है। मोंटगोमरी अपने अध्ययन से इस आशय पर पहुँचे हैं कि क्षय-रोगियों के मूत्र में साचों की अधिक संख्या रोग की असाध्यता की सूचक होती है और कमी शुभ।

क्षय–रोग में वृक्कप्रदाह—

क्षय–रोग में वृक्कों का उग्र प्रदाह बहुत विरल होता है परन्तु पुरातन प्रदाह कभी कभी पाया जाता है। विभिन्न लेखकों के मतानुसार १५ से २० प्रतिशत क्षय–रोगियों में वृक्कों का प्रदाह पाया जाता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्क प्रदाह के लक्षण साधारणतः प्रकट नहीं होते, यद्यपि मूत्र में एल्बुमेन और सांचे आते रहते हैं। वस्तुतः अन्य पुरातन रोगों की अपेक्षा क्षय–रोग में वृक्क प्रदाह कम होता है।

वृक्कों का सिक्थात्मक अपकर्ष—

क्षय-रोग अति सम्वृद्ध अवस्था में, जब फेफड़ों के रंध्रों में पीव पड़ जाता है, वृक्कों में बहुधा सिक्यात्मक अपकर्ष हो जाता है। इसके साथ साधारणतः यकृति, प्लीहा तथा अंतड़ियों में भी सिक्यात्मक विकार होते हैं। परन्तु यह अपकर्ष इतना नहीं होता जितना कि होना चाहिए। विभिन्न लोगों के मतानुसार ६ से ९ प्रतिशत क्षय–रोगियों में यह अपकर्ष मिलता है।

अन्तिम शोथ—

अधिकांश सम्वृद्ध क्षय-रोगियों में शोथ होता है। पैर और घुटनों पर अन्तिम अवस्था में विशेष शोथ होता है यह सदैव वृक्कों की दशा पर अवलंम्बित नहीं होता। मांटगोमरी को शोथ का मूत्र में एल्बुमेन और सांचे आने से कोई सम्बन्ध नहीं मिला था। रोग की सम्वृद्ध अवस्था में हृदय के कोष्ठ फूल जाते हैं और इससे भी शोथ हो जाता है। जो अशुभ चिन्ह है।

मूत्र माद (Uroemia) —

क्षय-रोग में मूत्र विष व्याप्ति के लक्षण बहुत कम मिलते हैं। रोग की अन्तिम अवस्था में कभी कभी मूत्र विष व्याप्ति के निश्चयात्मक लक्षण मिलते हैं। जिनको बहुधा भूल से मस्तिष्कावरण के प्रदाह का लक्षण समझ लिया जाता है। ज्वर के अभाव में यदि अकस्मात श्वास में कष्ट होता है उन रोगियों को मूत्र विषव्याप्ति की सम्भावना समझनी चाहिये जिनके मूत्र में एल्बुमेन और सांचे आते हैं। अन्तिम अवस्था में प्रायः अतिसार और कभी कभी फुफ्फुस शोथ मूत्र विषव्याप्ति के कारण होते हैं।

पाठ १४

वात संस्थान

कुछ रोगियों में सक्रिय क्षय प्रारम्भ होने से पूर्व वात-संस्थान सम्बन्धी लक्षण व्यक्त होते हैं। कुछ में बीच में, अधिकांश सम्प्राप्त क्षय-रोगियों की अपनी विलक्षण मनोवृत्ति होती है और उनमें मानसिक विकार के जो लक्षण होते हैं उनपर चिकित्सक का ध्यान अवश्य जाता है। प्रारम्भ में कुछ लक्षण स्नायविक दुर्बलता (Neurasthenia) के लक्षणों से मिलते जुलते हैं। अधिकांश उपक्रान्त और सम्प्राप्त रोगियों को चक्कर शिर तथा रीढ़ में शूल, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, निद्रानाश, वक्ष में पीड़ा, नाड़ी की द्रुत-गति और प्रायः धड़कन इत्यादि की शिकायत होती है। इसके अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की क्लान्ति और निरन्तर थकावट होती है जो सोने पर भी नहीं जाती। बल्कि अनेक रोगी यह कहते हैं कि जब प्रातःकाल वे सोकर उठते हैं तो उनको क्लान्ति और थकावट प्रतीत होती है जो मध्याह्नोपरान्त या सन्ध्या समय कम हो जाती है। डा० पैपिलन का तो यहां तक कहना है कि उनको स्नायविक दुर्बलता के

प्रत्येक रोगी में गुप्त क्षय का सन्देह होता है। ईड का विश्वास है कि स्नायविक दुर्बलता के अधिकांश रोगियों में गुप्त क्षय होता है जिसका साधारण परीक्षा विधियों से पता नहीं चलता। इस बात पर विचार करते हुए कि स्नायविक दुर्बलता बहुधा शरीर में विषैले पदार्थों के व्याप्त होने से उत्पन्न होती है। यह स्पष्ट है कि इसका कारण क्षयी विष भी हो सकते हैं। यदि स्नायविक दुर्बलता के सब रोगियों के वक्ष की सावधानी से परीक्षा की जाय तो बहुत से क्षय-रोगियों का जिनका आजकल रोग के बढ़ जाने पर पता लगता है, रोग के प्रारम्भ में ही पता लग जाया करे।

प्रत्यावर्तक वात संस्थान सम्बन्धी लक्षण
Raflex nerveus Symptoms—

पिंगल नाड़ी मंडल (Sympathetic System) के विकार क्षय-रोग में कम नहीं होते। इनमें चेहरे की केवल एक ओर की दीप्ति, गर्मी प्रतीत होना, पसीना आना इत्यादि लक्षण उल्लेखनीय हैं। कुछ रोगियों में यह देखा गया है कि वक्ष के एक ओर की त्वचा अधिक गरम होती है। यह लक्षण साधारणतः वक्ष की उस ओर मिलता है जिस ओर वक्ष में रोग होता है। जब रोग दोनों ओर होता है तो यह लक्षण उस ओर मिलता है जिस ओर रोग अधिक सक्रिय होता है। कुछ रोगियों में जिनके फेफड़ों में विस्तृत रंध्र होते हैं। रोग की ओर का नथुना फूल जाता है। क्षय रोग का एक महत्व पूर्ण लक्षण आंख की पुतली का फूलना होता है। अधिकतर केवल एक आंख की पुतली का फूलना पाया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि एक पुतली का चौड़ापन लगभग आधे रोगियों में मिलता है और कभी कभी यह लक्षण अन्य लक्षणों और रोग चिन्हों से पहिले प्रकट होता है। यह लक्षण प्रधानता उन रोगियों में मिलता है जिनके उत्फुल्ल शिखर की पार्श्वकला रोगाक्रान्त हो जाती है। ऐसे

रोगियों में से अधिकांश में अक्षकास्थि के ऊपर की गिल्टियां फूली होती हैं। इन लक्षणों का कारण फुप्फुस विकार और उस की आच्छादक पार्श्वकला में रोग होने से ग्रीवा की पिंगल नाड़ी का प्रकोप होता है। रोग अच्छा होने पर पुतलियों की असमानता कम या दूर हो जाती है।

शूल—बहुत से क्षय-रोगियों में आदि से अन्त तक कोई शूल नहीं होता, परन्तु अनेक रोगियों में विभिन्न प्रकार के न्यूनाधिक शूल होते हैं। शूल शरीर के किसी भाग में हो सकते हैं परन्तु सबसे अधिक व क्षणिक शूल वक्ष और ऊर्द्ध शाखा में होते हैं। कुथी को ६५० रोगियों में से ६० प्रतिशत में वक्ष शूल मिले थे और इनमें से ८५ प्रतिशत में शूल रोग अन्त या दोनों में से अधिकाक्रान्त पार्श्व में थे।

अनेक रोगियों में रोग की प्रथम सूचना अक्षकास्थि से नीचे और इससे भी अधिक अंस प्राचीरक से ऊपर दोनों अंसफलकों के बीच में शूल होने से मिलती है। यह शूल साधारणतः मन्द होता है। इसपर गति, श्वास तथा खांसने का कोई प्रभाव नहीं होता और यह रात में अधिक होता है। आक्रान्त भाग के ऊपर की त्वचा में सुकुमारता बहुत कम होती है, परन्तु ज़ोर से दबाने पर शूल बढ़ जाता है। इस प्रदेश में ठोकने से कभी कभी खांसी आ जाती है। अधिक सम्वृद्ध रोग में कभी कभी कन्धे में बड़ा तीव्र शूल होता है, जो रात में अधिक तथा कठिनता से शान्त होता है और जिससे रोगी को नींद नहीं आती। जब प्रारम्भिक अवस्था में शूल होता है तो इतना तीव्र नहीं होता, परन्तु यह कभी कभी भुजा तक फैल जाता है। थोड़ी सी सर्दी लग जाने पर शूल होने लगता है और उससे रोगी यह समझने लगता है कि उसको वात रोग (Rheumatism) हो गया है। वस्तुतः कंधे के वात रोग अनेक रोगियों में जांच करने पर क्षय-निकलता है।

वक्ष-उदर मध्यस्थ पेशी में शूल प्रायः होता है। यह शूल पसली

भोंकनेके सदृश यंत्रणादायक होता है और गहरी श्वास लेने, खांसने तथा छींकनेसे बढ़ जाता है। यह पार्श्वकलाके बंधनोंके कारण होताहै।

यदि उपद्रव रूप पार्श्वकला का प्रदाह न हो, तो क्षय-रोग में त्वचा की अति साम्वेदनिकता बहुत कम होती है। फेफड़े के रोगा-क्रान्त भागों के ऊपर की मांसपेशियों को दबाने से साधारणतः पीड़ा होती है। जब फुफ्फुस शिखर में रोग होता है तो कर्ण मूलिकाक्षक और चतुरस्रा पेशियों में, शूल होता है और जब रोग अधिक विस्तृत होता है तो ग्रीवा की अन्य पेशियों में उदरच्छदा तथा अन्तर्पार्शविक पेशियों में दबाने से शूल होता है। पार्श्वकला के प्रदाह में. त्वचा में अति साम्वेदनिकता और अति सुकुमारता होती है। खांसी से वह शूल नहीं होते। क्योंकि वे केवल एक पार्श्व में होते हैं और शूल के साथ साथ प्रादेशिक मांसपेशियां संकुचित होकर कड़ी हो जाती हैं।

ऐसाप्रतीत होता है कि सक्रिय क्षय-रोग में जो सुकुमारता मिलती है, वह मांसपेशियों की धड़कन का परिणाम होती है। भीतर के रुग्न भाग की रक्षा करने के लिये मांसपेशियां कड़ी हो जाती हैं और बाद को क्षीण हो जाती हैं।

रोगी के अन्तिम दिनों में सब प्रत्यावर्तक क्रियायें शिथिल हो जातीहैं, फलतः सब प्रकार के शूल बन्द हो जाते हैं। वस्तुतः शूल के अभाव से रोगीकी दशा कभी कभी बहुत आशाजनक हो जाती है पर मालूम यह होता है कि हमारी आत्मा जो शरीर को स्वस्थ बनाने के प्रयत्न में रोग से लड़ती थी जब निराश होकर लड़ाई बंद करके शरीर से विदा होने को उद्यत होती है तब खेंचातानी बन्द होने से रोगी को आराम सा मालूम पड़ता है।

मानसिक भाव—

क्षय-रोगियों में जो मानसिक विकार मिलते हैं उनको प्रधानता संयोग मात्र समझना चाहिये। यह ठीक है कि पागलों की एक बहुत बड़ी संख्या की मृत्यु क्षय-रोग से होती है। परन्तु
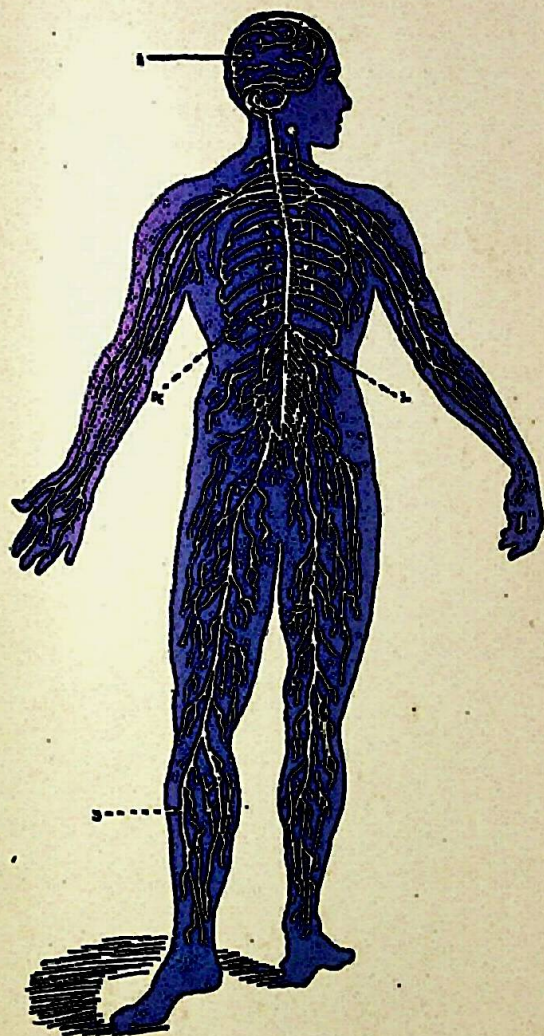
नाड़ी संस्थान अर्थात् स्नायु मंडल का सारे शरीर में जाल बिछा है।

इसका कारण उनका अनियमित जीवन तथा बन्द रहना है। क्षय-रोग की अन्तिम अवस्था में प्रायः प्रलाप होता है जो अन्य रोगों के प्रलाप से भिन्न नहीं होता। परन्तु इन आकस्मिक मनोविकारों के अतिरिक्त जिनका क्षय-रोगियों में मिलना स्वभाविक है, राजयक्ष्मा में कुछ अन्य मानसिक विलक्षणताऐं देखी गई हैं। अनेक लेखकों ने क्षय-रोगी की एक विशिष्ट मनोवृत्ति का उल्लेख किया है।

इस प्रकार की मनोवृत्ति शिशुओं में भी देखी गई है, बहुत से लोग इस बात से सहमत हैं कि क्षयी विषों का प्रभाव शिशुओं के वात-संस्थान पर वैसा ही पड़ता है, जैसा कि बड़े बच्चों पर और उनसे शिशुओं के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। शिशु प्रसन्न वदन नहीं रहता, न कभी हँसता है और अकारण रोने लगता है। नींद कम आने लगती है, रात को बीच बीच में आंख खुल जाती है, परन्तु प्रातःकाल उसको उठाना कठिन होता है। स्वभाव में यह परिवर्तन अधिकतर उन बच्चों में होता है जिनमें मस्तिष्कावरण का क्षय होता है, परन्तु अन्य प्रकार के क्षय-रोगों में भी यह पाया जाता है।

बहुत से क्षय-रोगियों के स्वभाव और मनोवृत्ति में बड़ा परिवर्तन हो जाता है और उनकी पुरानी आदतें, आचार विचार तथा भाव में परिवर्तन हो जाता है। कुछ रोगियों में यह परिवर्तन रोग के प्रादुर्भाव से पहिले ही होने लगता है और बहुतों में रोग के साथ साथ व्यक्त होता है। रोग की दशा सुधरने पर रोगी की मानसिक दशा भी सुधर जाती है और रोग बढ़ने पर बिगड़ जाती है। रोगी के स्वभाव में यह परिवर्तन कई प्रकार व्यक्त होता है। उदार व्यक्ति सूम तथा अनुदार और धीर भीरु हो जाते हैं। एञ्जिल का कहना है कि मौलिक आन्तरिक स्वभाव पुरातन क्षय-रोगमें अधिक प्रमुख हो जाता है। निराशा-

वादी की निराशा बढ़ जाती है और आशावादी अत्यन्त आशा-पूर्ण हो जाते हैं। रोगी का मानसिक संगठन बहुत कुछ उसकी शारीरिक दशा पर अवलम्बित होता है, जिसमें क्षय-रोग में बड़े बड़े परिवर्तन होते रहते हैं। रोगी की दशा अचानक कभी सुधर जाती है और कभी बिगड़ जाती है। मनोवृत्तियां स्वयं तो नहीं बदलती, परन्तु तरुणावस्था के जो विशिष्ठ मानसिक भाव होते हैं और आगे चलकर शिक्षा और जीवन की ऊंच नीच से दब जाते हैं वे फिर से जागृत हो जाते हैं और उनपर लोक लज्जा का कोई प्रभाव नहीं रहता।

क्षय-रोग की एक चित्तवृत्ति जिसका अधिकांश लेखकों ने उल्लेख किया है, यह होती है कि वह स्वार्थी हो जाता है। यह अपनी ही बातचीत करता है और अपना ही ध्यान रखता है। उसको केवल अपने ही हित की चिन्ता रहती है और दूसरों की, जो उसपर पहिले आश्रित थे, कुछ भी परवाह नहीं रहती, वह स्वयं अच्छा कीमती भोजन चाहता है चाहे उसके बच्चे भूखों मरें। मित्रों और सम्बन्धियों की सहायता पर उसकी अनुचित मांग होती है और उनके लिये वह कृतज्ञ नहीं होता। कुछ लोगों का कहना है कि क्षय-रोगी वहमी हो जाते हैं, अपने उत्तर दायित्व का कुछ भी विचार नहीं करते, और संक्रमण के फैलाने में प्रायः उनको कोई हिचकिचाहट नहीं होती। बहुतों का स्व-भाव बच्चों का सा स्वार्थी, चिड़चिड़ा, शीघ्र कोपी, भोजन का लालची और यथा इच्छा अनियमित रूप से खाने वाला होता है। बच्चों की भांति इनको दूसरों का ख्याल नहीं रहता और ये सदैव असन्तुष्ट तथा अकृतज्ञ होते हैं।

आशावाद—

रोग के बढ़ने से शरीर क्षीण होने पर भी रोगी बहुधा आशापूर्ण होता है। केवल अधिक रक्तनिष्ठीवन या स्वाभाविक

वायु वक्ष होने से साधारण रोगी कुछ भयभीत होता है अन्यथा और सब लक्षणों को वह तुच्छ समझता है। वात संस्थान के कुछ कार्यात्मक विकारों (Functional neuroses) को छोड़कर अन्य योई रोग ऐसा नहीं है जिसमें सुझाने (Suggestion) का रोग की गति और लक्षणों पर इतना प्रभाव पड़ता हो जितना कि क्षय रोग में पड़ता है। यूरोप के अनेक स्वास्थ्य शालाओं में देखा गया है कि ९० प्रतिशत रोगियों में केवल पानी की पिचकारी लगाने से प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है और इससे नींद इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि जब किसी विस्तृत रंध्र या तेज बुखार वाले क्षय-रोगी को यह विश्वास होने लगता है कि उसकी दशा सुधर गई है और उस को न दर्द है न खांसी तो यह समझना चाहिए कि मृत्यु निकट है। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय-कीटाणु नष्ट भ्रष्ट फुप्फुस तन्तुओं से उत्पन्न विषों के शोषण से क्षय-रोगी की मानसिक अवस्था वैसी ही हो जाती है, जैसी शराब के हल्के नशे की दशा में। क्षय-रोगी की बाह्य आकृति से भी उसकी मादक अवस्था झलकती है उसकी चौड़ी पुतली वाली चमकती हुई आंखें, तमतमाए हुए गाल और तीव्र बुद्धि उस आदमी की सी होती है जिसपर शराब या किसी मादक द्रव्य का हल्का नशा होता है। जो रोग से पहिले मंद बुद्धि होते हैं उनमें बुद्धि प्रायः तीव्र हो जाती है। यह भी देखा गया है कि बीच बीच में सप्ताह या मास के लिए उनमें अत्यधिक प्रतिभा का विकास होता है। यह बात विशेषकर उन लोगों में देखने में आती है जिनमें कला की प्रवृत्ति या काव्य लिखने की कल्पना शक्ति होती है उनमें निरन्तर चित्तोद्वेग रहता है, परन्तु शारीरिक कष्ट होने पर भी वे काम करते रहते हैं और सर्वोत्तम कृतियां रोग की दशा में उत्पन्न करते हैं। क्षय-रोग का बुद्धि पर प्रभाव होता है। क्षयी विषों की मानसिक उत्तेजना से बुद्धि तीव्र हो जाती है उनकी स्मरण

शक्ति, शीघ्र निर्णय करने की शक्ति तथा तर्क शक्ति बढ़ जाती है। बहुत से बड़े बड़े लेखक और कलाविदों के क्षयी होने से यह विदित होता है कि ऐसे गुणी व्यक्तियों में भी क्षय-रोग कम नहीं होता और इस रोग से कम होने की अपेक्षा उनकी प्रतिभा और भी बढ़ जाती है।

निद्रानाश—

क्षय-रोग के आरम्भ में रोगीकी चिन्ता और बेचैनी से कभी कभी निद्रानाश हो जाता है जो रोगी को सान्त्वना देने से बहुधा दूर हो जाता है। वास्तव में थोड़े दिनों में विशिष्ठ आशावाद उत्पन्न हो जाता है और उस के बाद फिर रोगी की नींद में कमी नहीं होती।

अन्य रोगियों में खांसी या रात्रिस्वेद अधिक होने से नींद नहीं आती कुछ रोगियोंमें साधारण मात्रा में नींद लानेवाली औषधियों (जो वास्तवमें रोगी केलिए हानिप्रद होती है, पर पाश्चात विज्ञान अभी उन्नति की इस सीमा पर नहीं पहुँच सका है जो उनकी हानि को समझे अतः उसी ज्ञान की शिक्षा प्राप्त चिकित्सक दिया करते हैं) के देने से कोई लाभ नहीं होता। नींद की कमी विशेषकर उन रोगियों में होती है जिनमें खांसी के दौरे होते हैं। प्रत्येक दौरे में रोगी की आंख खुल जाती है और वह घंटे दो घंटे तक जागता रहता है। ऐसे रोगियों को खांसी शान्त करने वाले उपायों से नींद भी आ जाती है। अधिक रात्रिस्वेद का भी नींद पर प्रभाव होता है। पसीने से भींगकर जागने के बाद फिर रोगी को नींद नहीं आती।

रोग की सम्वृद्ध अवस्था में बहुत से रोगियों को नींद आना कठिन हो जाता है, क्योंकि फेफड़ों में रंध्रों में स्राव भर जाता है जो थोड़ी सी नींद के बाद श्वास प्रणालियों में वह आता है उसके निकालने के लिये रोगी को उठना पड़ता है। जिन रोगियों में एक और रोग होता है उनको किसी एक कारण

से नींद आ जाती है और उसी करवट सोने की उनकी आदत पड़ जाती है। परन्तु अन्य रोगियों को जिनके दोनों फेफड़ों में रंध्र होते हैं, चित्त लेटने से तुरन्त खांसी आ जाती है। कुछ रोगियों को खांसी से बचने के लिये सिर झुकाकर और कुछ को हलवां लेटकर सोना पड़ता है। कुछ रोगियों को श्वास फूलने से नींद नहीं आती, रोग के प्रारम्भिक अवस्था में कभी कभी ज्वर के कारण भी नींद नहीं आती। परन्तु समवृद्ध अवस्था में ऐसा बहुत कम होता है, क्योंकि समवृद्ध रोगी साधारणतः ज्वर का आदी हो जाता है और फिर उसको इतना कष्ट नहीं होता। रोग की अन्तिम अवस्था में प्रायः क्षय-रोगियों में असाधारण तन्द्रा आ जाती है। कई दिनों तक रोगी तन्द्रा की अवस्था में पड़ा रहता है। उसको अपने शरीर की कुछ खबर नहीं रहती औरजब कभी कुछ खाने के लिये जाग उठता है। यदि इसका कारण कोई शमनकारी औषधि न हो तो उपद्रव रूप मस्तिष्कावरण का विकार समझना चाहिए। परन्तु ऐसे रोगी देखने में आते हैं जिनमें मृत्यु से पूर्व कई दिनों तक असाधारण तन्द्रा रहती है, और शवच्छेद करने पर मस्तिष्कावरण का कोई विकार नहीं मिलता।

क्षय-रोग का जननेन्द्रियों पर प्रभाव—

क्षय-रोग का जननेन्द्रियों और उनके कार्यों पर बड़ा प्रभाव होता है। स्त्रियों में क्षय-रोग में मासिक धर्म के विकार साधारणतः होते हैं और कभी यह विकार रोग के लक्षणों के व्यक्त होने से पूर्व ही होने लगते हैं। नव युवतियों में रजो दर्शन से रोग की प्रगति कुछ रुक जाती है। सम्भवतः यही कारण है कि प्राचीन चिकित्सक मासिक धर्म के अभाव को क्षय-रोग का कारण समझते थे। पर यह कारण नहीं; प्रत्युत फल होता है। क्षय-रोग में मासिक धर्म बहुधा बन्द हो जाता है और कई अन्य विकार भी होते हैं। परन्तु कुछ क्षयी स्त्रियां ऐसी देखने में आती

हैं जिनमें मासिक धर्म ठीक बना रहता है ऋतुकाल में और कभी कभी उससे कुछ दिन पूर्व रोग कुछ बढ़ जाता है। ज्वर और खांसी बढ़ जाती है। कफ बढ़ जाते हैं और जहां वह पहिले सुनाई नहीं देते थे वहां सुनाई देने लगते हैं और फुफ्फुस तन्तु के नए भाग रोग क्रान्त हो जाते हैं। इसकाल में रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है और कभी कभी मासिक धर्म का स्थान ले लेता है। क्षय-रोग की हर अवस्था में गर्भ रह सकता है और गर्भावस्था का काल प्रायः निर्विघ्न पूरा हो जाता है। बच्चा भी मोटा होता है पर जीवनी शक्ति कम होती है। गर्भ समय में यदि स्त्री की ठीक चिकित्सा हो जावे तब दूसरी बात है, अन्यथा प्रसव के पश्चात् स्त्री को रोग बढ़ता है जो उसके प्राण ले लेता है। कुछ स्त्रियों में कई बालकों के पश्चात् ऐसा होता है अतः अच्छा यही है कि क्षयी स्त्री में गर्भाधान क्रिया उस समय तक न की जावे जब तक वह प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा करके पूर्ण स्वस्थ न हो जावे।

पाठ १५

रोग निदान के निर्णायक लक्षण

क्षय-रोग का आरम्भ में निदान करना बड़ा कठिन होता है केवल अनुभवी चिकित्सक की आंख में कुछ दैवी शक्ति होती है जो रोगी की आकृति देखते ही यह निर्णय करा देती है कि इसे क्षय-रोग है या नहीं। पर ऐसे अनुभवी डाक्टर का मिलना साधारण बात नहीं है। अतः यहां निदान के लिये कुछ और ऐसे लक्षण लिखे जाते हैं जिनके द्वारा निदान में सहायता मिल सकती है पर ठीक जांच अनुभव चाहता हैं। क्षय-रोग के आरंभ में प्रायः जुकाम रहता है। धीरे धीरे रोगी का शरीर और चेहरा निर्बल तथा कान्ति हीन होता जाता है। अच्छी चीजों को बुरा और बुरी को अच्छा समझता है। भोजन ठीक प्रकार नहीं

पचता, पौष्टिक भोजन करने पर भी मांस और मेद कम हो जाता है। स्त्री प्रसंग की बार बार भारी इच्छा पुरुषों में होती है। किसी को मांस मदिरा की इच्छा उत्पन्न हो जाती है चाहे पहिले वह इन चीजों से घृणा करता रहा हो। मनुष्यों के पास बैठना अच्छा नहीं लगता, एकान्त चाहता है। बाल और नख बहुत बढ़ते हैं। स्वप्न में डरता है। वैसे प्रथक प्रथक यह लक्षण और रोगों में भी मिलते हैं अतः किसी एक दो लक्षण से क्षय-रोग न समझ लेना चाहिये। क्षय-रोग में नाड़ी कड़ी, निर्बल, लगातार चले और एक दशा पर रहे। धीमा ज्वर हर समय रहता हो। रोगी को विशेष ज्वर का ज्ञान न हो, जब रोगी के शरीर पर हाथ रक्खें तो गर्म प्रतीत न हो। पर थोड़ी देर रक्खे रहने के पश्चात् धीरे धीरे गर्म प्रतीत हो। क्योंकि इसमें भीतरी ज्वर होता है अतः थोड़ी देर हाथ रक्खा रहने पर गर्म प्रतीत होता है मूत्र में चिकनाहट तथा छोटे छोटे तंतु ध्यान पूर्वक देखने के पश्चात प्रतीत होते हों, नाड़ी बलवान हो जाय। यद्यपि दूसरे ज्वरों में भोजन करने के उपरान्त फुरेरी ज्वर की अधिकता, शरीर का टूटना, अंगों में भारीपन, हाथ पांवों का भारीपन, ढंढापन, नाड़ी में विरुद्धता अधिक होती है। किन्तु क्षय में इस बात के अतिरिक्त कि ज्वर प्रगट हो जाय कुछ नहीं होता।

निम्नलिखित ११ लक्षण क्षय-रोग के रोगी में न्यून अधिक प्रगट होते हैं। (१) जुकाम, (२) खांसी, (३) आवाज का बैठ जाना, (४) कंधों और छातीका खिचांव, (५) दर्द (६) ज्वर (७) हाथ पांव की जलन (८) बदहज़मी (९) छाती से खून व राध का आना (१०) सर का भारीपन (११) भोजन से अरुची। किन्तु यह लक्षण सब रोगियों में एक ही समय नहीं पाये जाते किन्हीं में तो केवल अन्तिम अवस्था में यह सब लक्षण हो जाते हैं और आरम्भ में कुछ थोड़े लक्षण होते हैं और किन्हीं में निम्नलिखित ६ लक्षण अधिक होते हैं :— (१) खांसी (२) मंदाग्नि

(३) स्वर भंग (४) भोजन से अरुची (५) ज्वर (६) छाती और कंधों में दर्द।

निम्नलिखित तीन लक्षण क्षय-रोगी में अवश्य पाये जाते हैं:—

(१) ज्वर का सर्वदा बना रहना (२) हाथ पांव का जलना (३) पसली, कंधों और छाती में दर्द। यद्यपि क्षय-रोग में अन्य उपसर्गों के साथ इन तीन लक्षणों का होना आवश्यक है पर इस से यह न समझ लेना चाहिए कि जिन रोगियों में यह तीन लक्षण हों उनको क्षय-रोग ही है। क्योंकि यह लक्षण वायु और पित्त के साधारण ज्वर में भी हो जाते हैं। अतः और सब बातों पर जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है, ध्यान रखकर रोग लक्षणों का समय देखकर क्षय-रोग का निदान करना चाहिये। क्योंकि क्षय-रोगी में अधिक समय तक यह लक्षण रहते हैं और अधिक समय तक यह लक्षण रहने से रोगी का भार कम होने लगता है। थोड़े काम से थकान मालूम होती है। रात को नींद नहीं पड़ती। पसीना आने लगता है। कफ के साथ कभी कभी खून की धारें और खून का वमन भी हो जाता है। रोगी धीरे धीरे निर्बल होकर पलंग पर लेट जाता है। प्रायः मरते समय तक उसको होश बना रहता है, कभी अन्त समय में तन्द्रा भी आ जाती है। फेफड़ों के भीतर रक्त की नाड़ियां फटकर क्षत बन जाते हैं। शीघ्र उन्नति करने वाली क्षय (Galloping Phthesis) में तो रोगी कई सप्ताह में ही मर जाता है पर धीरे धीरे बढ़ने वाली (Chronic Phthesis) में महीनों और वर्षों रोग रहता है जैसा कि इस पुस्तक में पहिले वर्णन किया जा चुका है। क्षय-रोग के निदान में आयुर्वेद ने कुछ पूर्व रूप लिखे हैं वह बड़े काम की चीज है। साधारण डाक्टर लोग तो रोग का निदान उसी समय पूर्ण रूप से कर सकते हैं जब एक्सरे अथवा रक्त व कफ की जांच रोग को प्रमाणित करे और उस अवस्था

को प्राप्त रोगी कठिनता से ही आरोग्य हो सकते हैं। विशेषतया वह जो विषैली औषधि और इञ्जेकशन के भ्रम जाल में पड़ जाते हैं। पर पूर्व रूप से रोग का निदान रोग के आक्रमण से पूर्व ही हो जाता है और वह ऐसा समय होता है कि यदि थोड़ी सी समझ से भी काम लिया जावे तो रोग अंकुर फूटने और वृक्ष बनने के पूर्व ही रोग का बीज नष्ट हो जावे। न रहे बांस न बजे बांसरी वाली कहावत चरितार्थ हो जावे। वह पूर्व रूप इस प्रकार है:- जुकाम हो जाता है और निर्बलता आ जाती है। बिना दोष वाली चीजों में दोष मालूम पड़ता है। शरीर में मालूम होता है कि घृणित चीजे लग गई हैं और चीजों से घृणा लगती है। खाने पर भी बल और मांस क्षीण होता जाता है। स्त्री संभोग की इच्छा अधिक होती है और मांस आदि निषिद्ध वस्तुओं के खाने की इच्छा होती है। एकान्त प्रिय होता है। भोजन के समय बाल, मक्खी इत्यादि थाली में निकल आती है उसका मन भी विकार युक्त हो जाता है। अतः सपने में देखता है कि बाल, हड्डी अथवा राख के ढेर के ऊपर चढ़ा है। जलाशय सूखे दिखाते हैं, गिरते हुए तारे दिखाई पड़ते हैं। तोता, कौआ, नीलकंठ, गिद्ध, बन्दर, गिरगिट इत्यादि पर अपने को बैठा पाता है। जंगल में धुआँ व आग देखता है। ऐसे मनुष्य की अग्नि मान्द्य हो जाती है, भूख कम हो जाती है सुस्ती रहती है। मुंह में पानी भर आता है। बार बार थूकता है। दोनों नेत्र सफ़ेद पड़ जाते हैं। मनुष्य अपने हाथोंकी मुटाई नापा करता है इत्यादि। अब साधारण ज्वर का क्षय ज्वर से साधारण अन्तर दिखाने और असाध्य लक्षण के पश्चात् निदान खंड समाप्त किया जावेगा और पुस्तक के दूसरे भाग में चिकित्सा विधि लिखी जावेगी जिसे न जानने के कारण ही संसार में और विशेष रूप से हमारे देश में इतनी अधिक मृत्युसंख्या क्षय-रोग से बढ़ गई है।

साधारण ज्वर तथा क्षय ज्वर में अन्तर

साधारण ज्वर	क्षय ज्वर
१—भोजन के पश्चात् जब ज्वर बढ़ता है तो रोगी को स्वयं अनुभव होता है।	१—भोजन के पश्चात् ज्वर बढ़ना रोगी को नहीं मालूम होता।
२—पसीना सारे शरीर पर आता है।	२—पसीना प्रायः केवल छाती पर आता है।
३—पसीना आने से शरीर हलका हो जाता है।	३—पसीना आने से शरीर हलका नहीं होता किन्तु और निर्बलता मालूम होती है।
४—ज्वर में शरीर पर हाथ रखने से गर्मी मालूम होती है।	४—हाथ रखते ही गर्मी नहीं मालूम होती थोड़ी देर हाथ रखा रहने पर शरीर गर्म प्रतीत होता है।
५—मियादी बुखार को छोड़कर ज्वर किसी न किसी समय उतर जाता है।	५—किसी समय भी नही उतरता प्रातः ३ बजे पसीना बहुत आता है फिर भी ज्वर हलका नहीं होता।
६—कुनैन से कुछ लोगों का ज्वर रुक जाता है।	६—कुनैन से ज्वर किसी का भी नहीं रुकता।
७—ज्वर के साथ खांसी में पीप नहीं आती और कफ में कोई गन्ध नहीं होती।	७—पीव और खून होता है, दुर्गन्ध होती है। यदि आग पर डाला जावे तो हड्डी जलने की सी गन्ध या पीप की सी बुरी गन्ध आती है।
८—आवश्यक नहीं कि सोने के वक्त मुंह खुला रहे।	८—सोने पर मुंह खुला रहता है।

नोट—क्षय-रोग में आरम्भ में रोगी की जीभ श्वेत होती है फिर लाल और फिर रंग बदलती रहती है।

पाठ १६

असाध्य क्षय-रोगी के लक्षण

१—यदि रोगी का बल और मांस क्षीण हो गया हो पर यक्ष्मा के ११ रूप प्रकट न हुए हों। तथा खांसी, अतिसार, पसली का दर्द, स्वर भंग, गला बैठना, अरुचि और ज्वर यह ६ लक्षण हों अथवा श्वास, खांसी और खून थूकना यह तीन लक्षण हों तो रोगी को असाध्य समझो।

२—यदि रोगी में जुकाम प्रभृति लक्षण तो कम हों, पर रोगी रोग और औषधि के बल को न सह सकता हो, तो वैद्यों के मतानुसार असाध्य है। पर प्राकृतिक यज्ञ चिकित्सा में ऐसा रोगी असाध्य नहीं है। यदि वह चिकित्सा के नियम पालन में कटिबद्ध हो जावे।

३—ज्वर, खांसी और अधिक खून थूकने वाले को भी वैद्य लोग असाध्य कहते हैं पर प्राकृतिक यज्ञ चिकित्सा में ऐसे रोगी भी अच्छे हो सकते हैं।

४—जो क्षय-रोगी खूब खाने पीनेपर सूखता जाता हो वह असाध्यहै।

५—जिस रोगीको अतिसार हो, पतले या आम मरोड़ी वगैरा के दस्त बहुत लगते हों। वह भी असाध्य हैं।

६—जिस क्षय-रोगी की आंखें सफेद हो गई हों अन्न में अरुचि हो खाने को मन न चाहता हो और अर्ध श्वास चलता हो वह असाध्य है।

७—जिस रोगी का बहुत सा वीर्य कष्ट के साथ गिरता हो वह क्षय-रोगी नहीं बचेगा।

८—जिस क्षय-रोगी को अतिसार हो तथा साथ ही पैर, मुंह और फोतों पर सूजन हो तो वह मर जायगा।

६—जिस क्षय-रोगी को सफेद मूत्र आता हो और रात्रि को बहुत अधिक पसीना आता हो और प्राकृतिक यक्ष्म चिकित्सा से भी २ सप्ताह में इन लक्षणों में कोई परिवर्तन न हो वह असाध्य है।

प्रथम भाग अर्थात् निदान खंड समाप्त।
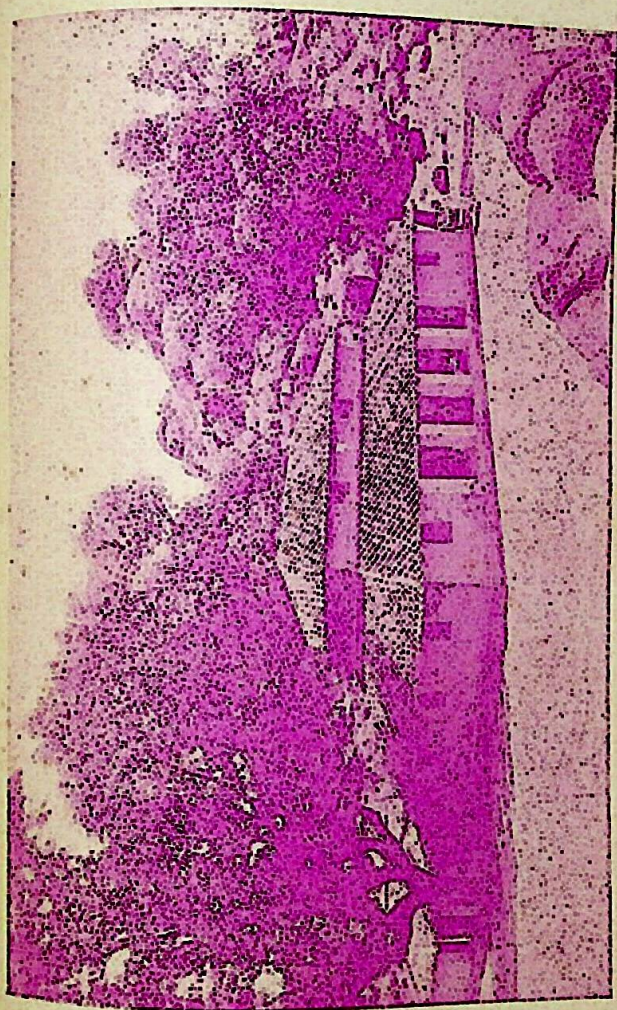
सेठ रतनसी हीरजी यज्ञ-चिकित्सा सेनेटोरियम, देवताल, जबलपुर किराये के बंगले में (सन् १९५९ ई०)

क्षय-रोग की प्राकृतिक यज्ञ चिकित्सा

भाग २

चिकित्सा खंड

अनुभूमिका

प्रकृति ने अथवा भगवान् ने मनुष्य को इन्द्रियां दीं तो उनकी सहायता के लिये एक पदार्थ जगत में और बना दिया है। जिसके द्वारा ही वे इन्द्रियां काम कर सकतीं हैं उसके बिना कुछ नहीं कर सकतीं। जैसे आंख बनाई तो उसकी सहायता को सूर्य, कान बनाया तो उसकी सहायता को आकाश, सूर्य न हो तो आंख और आकाश न हो तो कान कुछ कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार मनुष्य की बुद्धि बनाई तो उसकी सहायता को भगवान् ने आदि सृष्टि में वेद का ज्ञान दिया। वही ज्ञान सारे संसारमें फैला। मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा उस ज्ञान का विकास तो कर सकता है पर मूल सिद्धान्त सर्वदा वेद से ही लिया जाता है। इस समय तक कोई विद्वान ऐसा कोई अविष्कार नहीं कर सका जो सत्य हो और उसका मूल सिद्धान्त वेद में न हो। चिकित्सा सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त है। जितनी सफल चिकित्सा विधियां इस समय प्रचलित हैं। जैसे औषधि चिकित्सा, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा इत्यादि इन सबका वर्णन वेद में मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि इनमें से किसी एक विधि के पोषक उसी विधि को चिकित्सा का सर्वांग मान कर दूसरी पद्धतियों का विरोध करते हैं। पर वेद का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि यह अनेकों विधियां चिकित्सा का अंग हैं और जहां जिस रोग में जिसकी उपयोगता है वहां उससे कार्य लिया जावे। इस समय लोगों ने वेद का स्वाध्याय बन्द कर दिया है और उसके फैले हुए ज्ञान तथा अपनी बुद्धि से काम लेना ही पर्याप्त समझा है। अतः हमारा ज्ञान त्रुटि रहित नहीं रहा। साथ ही जो वेद का सिद्धान्त संसार में प्रसिद्ध नहीं उस की खोज में हम हजारों ठोकरें खाते हैं फिर भी उस स्थान पर नहीं पहुँच पाते जहां हम वेद की सहायता से बड़ी सुगमता से

पहुँच सकते थे। क्षय-रोग किस तीव्रता से बढ़ रहा है और उसकी सफल चिकित्सा की खोज के लिये पाश्चात् देशों में किस प्रकार प्रयत्न हो रहे हैं यह पिछले पृष्ठों के पढ़ने से सुगमता से समझ में आ जावेगा। यह सब कुछ होते हुए आधुनिक विज्ञान इसकी चिकित्सा में कितना असमर्थ है इस विषय में प्रमाणिक डाक्टरों की सम्मति आगे वर्णन की जावेगी। ऐसी अवस्था में हर समझदार व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि क्षय-रोग की सफल चिकित्सा की खोज के लिये ज्ञान के आदि स्रोत्र वेद के पृष्ठ उलटें। पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वेद ने जो चिकित्सा विधि इस रोग की बताई है वह परीक्षणों द्वारा सोलह आने सत्य सिद्ध हो चुकी है। अतः यदि अब भी हम इस प्राकृतिक विधि की उपेक्षा कर उनही विधियों पर अपना समय और धन व्यय करें जिनके द्वारा हजारों नहीं लाखों रोगी यमपुर सिधार चुके हैं तो हम से बढ़कर मूर्ख कौन होगा। भगवान् हमें बुद्धि दें कि हम अपना तथा अपने देश का हित अहित समझ सकें और वैदिक विधि को आधुनिक विज्ञान की सहायता से ऐसा उन्नत करें कि संसार व्यापी क्षय-रोग घटकर ऐसा ही रह जावे जैसा प्राचीन समय में कभी दुर्भाग्य से ही देखने सुनने में आ जाता था।

क्षय-रोग (चिकित्सा)

भाग २

पाठ १

ऐलोपैथी और क्षय-रोग

अब से कुछ दिन पूर्व बहुत समय से हमारे देश में विदेशी राज्य था। विदेशी सरकार ने जहां अनेकों साधन हमें सर्वदा गुलाम बनाए रखने के अपनी राज नीतिमें बर्ते वहां एक साधन ऐलोपैथी का प्रचार भी था। वह इस जोर शोर से किया गया है कि आज स्वतंत्र होने पर भी बहुसंख्यक लोगों का यही विचार है कि चिकित्सा जगत में ऐलोपैथी के सिद्धान्त सर्व मान्य हैं और अन्य विधियां उसकी समानता की योग्यता नहीं रखतीं यह धारणा यदि ऐलोपैथी के गुणों के कारण बनी होती तो हम भी इस धारणा को दृढ़ बनाने में सहायक होते। पर यह कूट राजनीति के आधार पर बनाई गई है हमें याद है कि एक बार अपने कुछ मित्रों के आग्रह पर बरेली के सिविलसर्जन से इस अभिप्राय से मिले थे कि वह हमारी चिकित्सा में आए हुए क्षय-रोगियों का निरीक्षण चिकित्सा के आदि और अन्त में करके उन आश्चर्यजनक परिणामों को प्रमाणित करें जो यक्ष्म चिकित्सा से प्राप्त होते हैं। कुछ वाद विवाद के पश्चात उन्होंने

यज्ञ चिकित्सा के सिद्धान्त को तो वैज्ञानिक बताया इस सत्य को भी स्वीकार किया कि ऐलोपैथी में इसकी कोई अचूक चिकित्सा नहीं है। पर हमारी प्रार्थना मानने में अपनी असमर्थता इसलिये प्रगट की, कि बतौर सिविलसार्जन के सरकारी आदेश है कि वे सिवाय एलोपैथी के किसी अन्य चिकित्सा विधि को प्रमाणित नहीं कर सकते।

इसी प्रकार जब लेडी लिनलिथगो ने भारत से क्षयी निवारण के लिए लगभग पछत्तर लाख रुपया चन्दा किया तो हमने प्रार्थना की कि एक सेनीटोरियम में अपने डाक्टरों द्वारा यज्ञ चिकित्सा के परीक्षण कराके देखें तो उनका उद्देश पूरा हो सकेगा पर वहां से भी उत्तर इनकार में ही आया। यद्यपि प्रशंसित लेडी महोदया ने रेडियो पर डाक्टरों से अपील भी की थी कि जो डाक्टर इस क्षय-रोग की अचूक चिकित्सा का आविष्कार करेगा वह जनता का बड़ा हित करेगा। यह आविष्कार एलोपैथी द्वारा ही हो यह कहने का कदाचित उन्हें इसलिये ध्यान न रहा होगा क्योंकि वह समझती थी कि डाक्टर कहते ही उसे हैं जो एलोपैथिक चिकित्सा का दास हो। सी० पी० की स्वदेशी सरकार ने जब यज्ञ चिचित्सा के परीक्षण कराने का विचार किया उस समय भी एक अंग्रेज अफसर था और उसे इस बात का भी ज्ञान था कि कुछ दिनों में अंग्रेज भारत से विदा हो रहे हैं। फिर भी वह अपने विरोध से न चूका। कहने का मतलब यह है कि हमारी इस समय जो एलोपैथी पर श्रद्धा और भक्ति है वह उसके गुणों के कारण नहीं किन्तु उस कूट नीति के प्रचार के कारण है जो अंग्रेजों ने सैकड़ों वर्ष से अपने प्राणपन से किया है अन्यथा उसके ज्ञाता डाक्टर ही जिन्होंने इसे बहुत निकट से देखा है उसके सम्बन्ध में जो सम्मति रखते हैं इसकी वास्तविकता प्रगट होती है उनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है।

१—जर्मनी के प्रसिद्ध डाक्टर हैनीमन एम-डी को जो पहिले एलोपैथी के प्रसिद्ध चिकित्सक थे जब ऐलोपैथिक औषधियों की असारता और कुप्रभाव का ज्ञान हुआ तो उन्होंने डाक्टरी की प्रैक्टिस ही छोड़ दी और लाख कष्ट उठाने पर फिर इस विधि की प्रैक्टिस॰ को हाथ नहीं लगाया। प्रशंसित डाक्टर साहब लिखते हैं:— आश्चर्य की बात है कि इतनी अधिक मात्रा में विषैली औषधियां मनुष्य के शरीर में किस प्रकार भरते हैं। फिर आरगैनन की धार ३७ में वर्णन करते हैं कि ऐलोपैथिक चिकित्सा के अनुसार किसी पुराने और कठिन रोग की चिकित्सा करना असम्भव है चाहे चिकित्सा वर्षों तक जारी रक्खी जावे। फिर धारा ७५ में वर्णन करते हैं कि सारे पुराने रोगों में से वह रोग जो ऐलोपैथिक चिकित्सा से उत्पन्न होते हैं सबसे अधिक हानिकारक तथा असाध्य हैं और जब वह किसी बड़ी सीमा तक पहुँच जाते हैं तो उनकी उचित चिकित्सा कर सकना बिलकुल असम्भव है।

२—इंगलैंड के ऐलोपैथी के एक सुविख्यात डाक्टर सर विलियम ओस्लर (Sir William Osler) का कहना है "We put drugs of which we know little into bodies of which we know less" अर्थात् हम लोग औषधि जिसके बारे में हम कम ज्ञान रखते हैं, शरीर में, जिसके बारे में हम और भी कम ज्ञान रखते हैं घुसेड़ते हैं।

३—अमेरिका के डाक्टर होमस (Homes) का कहना है कि यदि सब ऐलोपैथिक औषधियां समुद्र में फेंक दी जावें तो मनुष्य जाति का बड़ा उपकार होता।

४—डाक्टर क्लार्क (Clark) का कहना है चिकित्सकों ने रोगियों को लाभ पहुँचाने के प्रयत्न में इसके विपरीत बहुत हानि

पहुँचाई है। उन्होंने सहस्रों ऐसे रोगियों के प्राण लिये जो यदि प्रकृति के भरोसे छोड़ दिये जाते तो अवश्य आरोग्य हो जाते।

५—डाक्टर अबरानकी (Oberanki) का कहना है कि चिकित्सकों की संख्या बढ़ने के साथ ही साथ रोगों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

६—अमेरिका के डाक्टर हेनरी लिन्डल्हार एम० डी० (Dr. Henry Lendlhar M. D.) जो बड़े विख्यात ऐलोपैथिक डाक्टर थे, अन्त को प्राकृतिक चिकित्सक बन गए कहते हैं :- "यदि नवीन रोग औषधि अथवा इंजेक्शन आदि से शरीर में दवा दिया गया तो विकार शरीर से नहीं निकलता और वही जीर्ण रोग के रूप में प्रगट होता है (क्षयी भी जीर्ण रोग है। लेखक)

७—जर्मनी के प्रिंसविसमार्क के चिकित्सक डाक्टर श्वेनिर ने दी डाक्टर नामी पुस्तक में बहुत कड़े शब्दों में आजकल की विषैली और प्राण-घातक औषधियों की आलोचना की है।

८—डा० लक्ष्मीनारायण जी चौधरी रिटायर्ड सिविलसर्जन जबलपुर लिखते हैं:- मैं मामूली दवाओं से लेकर कीमती दवाओं तक को अपने जीवन में आजमा चुका हूं और मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि वह बेकार ही नहीं बल्कि हानिकारक भी हैं। वह यह भी लिखते हैं कि तन्दुरुस्ती का मसला बहुत आसान है, किन्तु शोक है कि इन दिनों लोगों ने उसे बहुत कठिन बना लिया है। स्वास्थ्य रहना ही शरीर की साधारण क़ुदरती हालत है किंतु मनुष्य ने प्रकृति के मार्ग में बहुतसी अड़चनें डाल रक्खी हैं। इसी से इन बीमारियों की भरमार है। इलाज करने वालों ने इस

उलझन को बढ़ाकर तनदुरुस्ती के मामले को और भी पेचीदा कर दिया है इत्यादि।

६—कर्नल शार्ट ने कहा है कि रोगों की वृद्धि इंजेक्शन और टीका से नहीं रोकी जा सकती बल्कि व्यक्तिगत रूप से स्वास्थ्य के प्राकृतिक नियमों का अक्षरसः अभ्यास करने से ही ऐसा होना सम्भव है। जीवन शक्ति भी इंजेक्शन से नहीं स्वाथ्य के नियमों से बढ़ाई जा सकती है।

लेखक ने स्वयं भी अपनी प्रैक्टिस के आदिकाल में हजारों रोगियों पर इन विषैली औषधियों का और अन्य अप्राकृतिक साधनों का प्रयोग किया है जिनके लिये अब पश्चाताप होता है। यह हम मानते हैं कि ऐलोपैथी द्वारा विज्ञान की बहुत कुछ खोज हुई है और यदि हमारी सरकार निष्पक्ष विद्वानों द्वारा अपने देश के लिये उपयोगी चिकित्सा विधि का निर्माण करावे तो उसमें से बहुत कुछ उपयोगी बातें प्राप्त की जा सकतीं हैं। पर इस सत्य में रत्ती भर सन्देह नहीं है कि यदि एलोपैथी का वर्तमान रूप उसकी प्रधानता के साथ चालू रक्खा गया तो न केवल देश को करोड़ों रुपये की हानि ही उठाना पड़ेगी किन्तु जनता का स्वास्थ्य दिन प्रति दिन गिरता जावेगा और क्षय इत्यादि भयानक रोगों की बराबर उन्नति होती रहेगी। जिस प्रकार डा० चौधरी ने कहा है कि स्वास्थ्य का मसला बहुत आसान है इसी प्रकार हमारा अपना अनुभव है कि चिकित्सा का मसला भी बड़ा आसान है यदि रोग प्राकृतिक हो और ऐलोपैथिक या अताई हकीमों की तेज औषधियां देकर उसको पेचीदा न बना दिया गया हो। हमने देखा है कि क्षयी के जितने रोगी भी बिना किसी अन्य चिकित्सा के हमारे पास आए वह सब के सब बड़ी शीघ्रता से प्राकृतिक यज्ञ चिकित्सा से आरोग्य हो गए इस में एक भी अपवाद नहीं है। जिनपर डाक्टरी औषधियों का थोड़ा

प्रयोग हुआ था वह भी कुछ कठिनता से आरोग्य हो गए। आरोग्य न होने वालों में सब के सब वह रोगी थे जो एलोपैथिक या अताई हकीमों का बहुत समय तक इलाज कराते रहे थे उनमें भी हमने सबसे बुरा प्रभाव इञ्जेकशनों का देखा है। हमने ऊपर एलोपैथिक चिकित्सा के विषय में विद्वान डाक्टरों की सम्मतियों का उल्लेख किया है। इससे हमारा अभिप्राय एलोपैथी की बुराई करना नहीं है किन्तु उसके द्वारा जो कुछ विज्ञान हमने प्राप्त किया है उसके आभारी हैं पर केवल इस कारण अनेकों में से थोड़े से डाक्टरों का उल्लेख किया है कि पाठकों का यह भ्रम दूर हो जावे कि ऐलोपैथिक चिकित्सा ही सर्व प्रधान है। अन्य रोगों को छोड़ अब हम यह दिखाते हैं कि क्षय-रोग की चिकित्सा के विषय में एलोपैथी के प्रामाणिक डाक्टरों की क्या सम्मति है।

१—क्षय निवारक समिति जार्ज मेडीकल कालेज लखनऊ से एक पुस्तक सं० १९४० में "राजयक्ष्मा की चिकित्सा तथा उससे बचने के उपाय" प्रकाशित हुई है उसमें हम निम्नलिखित वाक्य पाते हैं:—

(क) राजयक्ष्मा यदि एक बार हो जाय तो जान लेकर ही पीछा छोड़ता है।

(ख) जिस समय यह रोग बढ़ जाता है उस समय इसका रोकना कठिन हो जाता है और धनवन्तरि वैद्य भी रोगी को काल के मुख से बचाने की सामर्थ नहीं रखते

(ग) जिस प्रकार कुनैन से मलेरिया अच्छा हो जाता है उस तरह की राजयक्ष्मा के लिये कोई दवा नहीं है कि जिससे वह दूर हो सके।

२—डाक्टर मोलर साहब कमिश्नर आल इंडिया ऐन्टी टियूबर क्योलेसिस एसोसियेशन दिल्ली अपनी पटना की स्पीच में कहते हैं:—

जब रोग शरीर में घर कर लेता है तो कोई भी चिकित्सा विधि अच्छा करने में कठिनता से ही लाभप्रद होती है। वास्तव में अभागे रोगी के जीवन के कुछ दिन बढ़ाए जा सकते हैं पर पूर्ण आरोग्य होने का उसे बहुत कम अवसर होता है।

फिर १४–८–४० को आल इंडिया रेडियो दिल्ली से बोलते हुए कहा है :—

अभी तक ऐसी किसी औषधि का अविष्कार नहीं हुआ है जो कि शरीर के अन्दर यक्ष्मा कीटाणुओं को, शरीर को बिना हानि पहुँचाये मार सके।

३—डाक्टर शंकरलाल गुप्ता सुपरेन्टेन्डेन्ट यू० पी० जेल सेनी-टोरियम अपनी पुस्तक क्षय-रोग में लिखते हैं :—

ऐसे अनेक रासायनिक पदार्थ हैं जो शरीर के बाहर क्षय-कीटाणुओं को क्षण भर में नष्ट कर सकते हैं। परन्तु अभी तक ऐसा कोई भी रस नहीं निकला है, जो शरीर के अन्दर उन कीटाणुओं को मार सके और साथ ही शरीर पर उसका हानिकारक प्रभाव न हो। (पृष्ठ १०)

४—डाक्टर यज्ञेश्वर गोपाल श्रीखंडे बी० एस० सी०, एम० बी० बी० एस०, टी० डी० डी० (वेल्स) मेडीकल सुपरेन्टेन्डेन्ट भुवाली सेनीटोरियम अपने एक लेख में जो माधुरी जून सन् ४३ में छपा है लिखते हैं :—

क्षयी-रोग की अचूक दवा करने वाला तो अभी पैदा होना है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि क्षयी-रोग को अच्छा करने का कोई भी उपाय अभी तक नहीं निकाला गया है। अन्त को यहां तक लिखते हैं कि आधुनिक वि-ज्ञान से रोगी का पूर्ण रूप से आरोग्य होना असम्भव है।

ऐसे प्रमाणिक डाक्टरों के ऐसा कहने पर भी जो क्षय

रोगी एलोपैथिक चिकित्सा कराके अपनी जान बचाना चाहते हैं उनकी बुद्धि पर तरस आता है और यही कहना पड़ता है।

जाको प्रभु दारुण दुख देहीं।
ताकी मत पहिले हर लेहीं॥

एलोपैथी से निराश होकर एक जिज्ञासु अनेक चिकित्सा विधियों की खोज तथा परीक्षण करता है। क्षय-रोग की अचूक चिकित्सा की खोज में संसार के साहित्य की छानबीन करता है प्राचीन साहित्य से लेकर अर्वाचीन साहित्यमें अनेकों स्थान पर इस रोग का विस्तार से वर्णन मिलता है। पर चिकित्सा में सबही हिम्मत हारते देख पड़ते हैं। सब साहित्य में केवल एक ग्रन्थ वेद है जो बड़े बलपूर्वक इसकी चिकित्सा का दावा करता है और ऐसे रोगियों तक की चिकित्सा का दावा करता है जो मृत्यु के निकट पहुंच चुके हैं। अतः इस संबन्ध में विस्तार से अगले पाठ में वर्णन किया जावेगा।

पाठ २

क्षय-रोग की अचूक चिकित्सा
अर्थात्
(प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा)

आधुनिक विज्ञान जिस रोग के लिये अपनी विवशता प्रगट करता है उसके लिये संसार के पुस्तकालय की सबसे प्राचीन पुस्तक ज्ञान का भंडार वेद का वचन है :—

१—मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम ज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहि जग्राहि यद्यतेदेनं तस्या इन्द्राग्नि प्रमुमुक्त मेनम्॥

अथर्व का ३ सू. ११ मं. १

अर्थ—हे व्याधि ग्रस्त ! तुझको सुख के साथ चिरकाल तक जीने के लिये गुप्त यक्ष्मा रोग और सम्पूर्ण प्रकट राज-यक्ष्मा रोग से आहुति द्वारा छुड़ाता हूं। जो इस समय में इस प्राणी को पीड़ा ने या पुराने रोग ने ग्रहण किया है उससे वायु तथा अग्नि देवता इसको अवश्य छुड़ावें।

इससे अगला मंत्र इस प्रकार है :—

१—यदि क्षिक्षितायुर्यदि वपरेतो मृत्योरन्तिकं नीतएव।
तमा हरामि निर्ऋते रूपस्थादस्पार्ष मेनं शत शारदाय॥
मं २

अर्थ—यदि रोग के कारण न्यून आयु वाला हो, अथवा इस संसार के सुखों से दूर हो गया हो, चाहे मृत्यु के निकट आ चुका हो, ऐसे रोगी को भी महारोग के पाश से छुड़ाता हूँ। इस रोगी को सौ शरदऋतुओं तक जीने के लिये प्रबल किया है।

३—यः कीकसःप्रशृणाति तलीद्यम व तिष्ठति।
निरास्तं सर्व जायान्यं यः वश्च ककुदि क्षितः॥
अथर्व का ७ सू. ७६ मं. ३

अर्थ—जो रोग पसलियों को तोड़ डालता है और समीप के फेफड़ों में जा बैठता है और जो रोग गर्दन के नीचे कंधों और पीठ के बीच में भी जम जाता है। उस स्त्री द्वारा प्राप्त होने वाले राज-यक्ष्मा के रोग को शरीर से प्राण के बल निकाल दो।

इस मंत्र में क्षय-रोग का विशेष स्थान फेफड़ा बताकर उसको प्राण के बल से भगाने का आदेश दिया है।

४—पक्षी जायान्यःपतति स आ विशति पूरूषम।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च॥
अथर्व ७ स. ७६ मं. ४

अर्थ—स्त्रियों के अति भोग से प्राप्त होने वाला क्षय, शोष आदि रोग पक्षी के समान एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार कर जाता है, वही भोग के समय पुरुष के शरीर में पहिले थोड़ी मात्रा में ही या शनैः शनैः प्रवेश कर जाता है। उसके निम्नलिखित उपचार (१) अभी जिसने खूब जड़ पकड़ ली हो २) या चिरकाल से जड़ न पकड़ी हो, दोनों की उत्तम चिकित्सा है। जिसमें छाती से खून न आता हो, दूसरा जिसमें छाती से फट फटकर खून आने लगा हो दोनों की वही चिकित्सा है।

इस मंत्र में रोग का कारण स्त्रियों से अति भोग तथा रोग के प्रकार बताए हैं तथा उसके संक्रामिक होने पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला है, अगले मंत्र में चिकित्सा का इस प्रकार वर्णन है।

५—विद्म वैते जान्यान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथंह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥ मं० ५

अर्थ—हे क्षय-रोग तेरे उत्पन्न होने के विषय में हम निश्चय से जानते हैं कि तु जहां से उत्पन्न होता है तू वहां किस प्रकार हानि कर सकता है। जिसके घरमें हम विद्वान नाना औषधियों से या रोगनाशक हवि, या चरू को बनाकर उस से अग्निहोत्र करते हैं। अर्थात् रोगनाशक हवि, चरू या अन्न द्वारा इस क्षय-रोग को निकाल डालने पर सब प्रकार से क्षय-रोग दूर हो जाता है।

६—न तं यक्ष्मा अा रून्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगाद्रश्वा इवेरते॥

अथर्व का १९ स. ३८ मं० १

अर्थ—जिसके शरीर को रोगनाशक गूगल का उत्तम गन्ध

व्यापता है उसको राज-यक्ष्मा के रोग पीड़ा नहीं देते। दूसरे का शपथ भी नहीं लगता। उससे सब प्रकार के यक्ष्मा-रोग शीघ्रगामी हरिणों के समान कांपते हैं, डर कर भागते हैं।

जो सज्जन वेद की सत्यता पर कोई शंका नहीं रखते उन के लिये तो उपरोक्त प्रमाण पर्याप्त हैं और किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं। पर आज विदेशी शिक्षा के कारण हमारी श्रद्धा और विश्वास में बहुत अन्तर आ गया है अतः हम यज्ञ-चिकित्सा को प्रथम युक्ति और प्रमाणों से सत्य सिद्ध करने के पश्चात् विधि का वर्णन करेंगे सबसे प्रथम हमें यह बताना है कि वेद के इस सत्य नियम के परीक्षण प्राचीन और अर्वाचीन दोनों समय में हुए और परिणाम बहुत ही सन्तोषजनक निकले हैं। प्राचीन काल के परीक्षणों की पुष्टी में हम यहां आयुर्वेद के प्रमाणिक ग्रन्थ चरक का प्रमाण उपस्थित करते हैं जो इस प्रकार है :—

प्रयुक्तया यथा चेष्टया राजयक्ष्मा पुराजितः।
तां वेद विहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत ॥

चरक० चि० अ० ८ श्लो० १२२

अर्थ—जिस यज्ञ के प्रयोग से प्रचीन काल में राज-यक्ष्मा रोग नष्ट किया जाता था आरोग्य चाहने वाले मनुष्य को उसी वेद विहित यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। चरक ऋषि ने जहां क्षय-रोग की चिकित्सा का वर्णन किया है वहां पहिले अनेक अन्य उपाय लिखे हैं जिनमें औषधि प्रयोग के अतिरिक्त जल-चिकित्सा के स्नानों का उल्लेख भी है। पर अन्त को यज्ञ-चिकित्सा का विधान बता-कर चिकित्सा समाप्त कर दी है। |वेद और आयुर्वेद तो यज्ञ-चिकित्सा को क्षय-रोग की सर्वोत्तम चिकित्सा

बताते हैं अब देखना यह है कि यह सिद्धान्त बुद्धि और वर्तमान विज्ञान की कसौटी पर कहां तक सत्य सिद्ध होता है।

१—सब विद्वान जानते हैं कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक शक्तिशाली है तथा सूक्ष्म स्थूल में प्रवेश कर सकता है पर स्थूल सूक्ष्म में नहीं। आटे में मिली हुई शक्कर के सूक्ष्म परमाणु प्रथक करने को मनुष्य की स्थूल उंगलियां असमर्थ हैं। पर चींटी का सूक्ष्म मुंह उसे सुगमता से प्रथक कर सकता है सोने का एक छोटा टुकड़ा मनुष्य खाले तो उसपर कोई प्रभाव न होगा। पर उसी टुकड़े को सूक्ष्म करके वर्क बना कर खावें तो कुछ शक्ति आवेगी और यदि बहुत सूक्ष्म कर के अर्थात् भस्म बनाकर खावें तो पहिले ही दिन से उसकी गर्मी अनुभव होगी और कुछ समय में चेहरे पर सुर्खी और शरीर में शक्ति का संचार हो जावेगा।

होम्योपैथिक चिकित्सा विधि में इसी नियम के आधार पर औषधियों की पोटेन्सी (Potency) तैयार की जाती हैं और औषधि का भाग जितना सूक्ष्म होता जाता है उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। यहां तक कि जो औषधि स्थूल रूप में दिन में बार बार खाने से थोड़े समय का रोग दूर कर सकता है वही औषधि सूक्ष्म रूप में मास २ मास में केवल एक मात्रा खाने से वर्षों का पुराना रोग दूर कर देती है।

अब विचार कीजिये कि क्षय-कीटाणु की लम्बाई $\frac{१}{१५०००}$ इंच और चौड़ाई $\frac{१}{१५०००००}$ इंच होती है। इतनी सूक्ष्म चीज पर बड़े कण वाली औषधियों की पहुंच ही दुस्तर है। कीड़ों को मार कर उनपर विजय प्राप्त करना तो दूर की बात है। इसी नियम पर ध्यान न देने के कारण लोग क्षय को असाध्य समझते हैं। पर औषधियों का यह सूक्ष्म भाग जो यज्ञ अग्नि द्वारा छिन्न

भिन्न हुआ है। कीड़ों को सुगमता से मारकर रोग दूर कर सकता है। क्योंकि किसी वस्तु को सूक्ष्म करने का सबसे बड़ा साधन अग्नि है। परीक्षा करना हो तो एक लाल मिर्च को लो, इसे उसमें स्थूल रूप में एक आदमी सुगमता पूर्वक खा सकता है। पर जब उसे खरल में घोंट कर सूक्ष्म करो तो पास बैठे हुए कई आदमी उसके प्रभाव को न सह सकेंगे किन्तु यदि उसे आग में जलादें तो दूर दूर बैठे लोग भी खांसने लगेंगे। अर्थात् अग्नि द्वारा सूक्ष्म करने से औषधि की शक्ति सबसे अधिक बढ़ जाती है। अतः हवन यज्ञ से ही सूक्ष्म कीड़ों वाला क्षय-रोग आरोग्य हो सकता है। जो लोग यह समझते हैं कि अग्नि में जलाने से पदार्थ का नाश हो जाता है उनको जानना चाहिये:—

२—पदार्थ विद्या से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि किसी वस्तु का नाश नहीं होता, किन्तु रूप बदल जाता है। जो औषधि मुंह से खाई जाती है। वह रस-रक्त बनने के पश्चात क्षय-रोगी के फेफड़ों तक पहुँचती है।पर अग्निमें जलाई हुई औषधि श्वास द्वारा सीधी फेफड़ों पर पहुँचकर तत्काल प्रभाव करेगी और बहुत सूक्ष्म होने के कारण स्थायी प्रभाव करेगी। एक गूगल को ही लीजिये जिसके सम्बन्ध में वेद मंत्र तो ऊपर दिया जा चुका है, आयुर्वेद में इसे अन्य गुणों के साथ रसायन, बलकारक, टूटे को जोड़ने वाला और कृमिनाशक बतलाया है। यज्ञ से इसके सूक्ष्म परमाणु श्वास द्वारा सीधे रन्ध्र वाले फेफड़ों पर पहुचेंगे और अपने गुण के अनुसार उनको भरेंगे तथा पुष्टि देवेंगे। जिससे धीरे धीरे रोग दूरहो जावेगा। घृत और कपूर को क्षत भरने वाले गुणों के कारण अनेक मरहमों में उनका उपयोग हम रोज देखते हैं। घी कृमिनाशक भी है। इसके अतिरिक्त यह सब ऐसे विषयुक्त पदार्थ नहीं हैं जो शरीर के बाहर तो कृमियों का नाश करते हों और भीतर बिना शरीर को हानि पहुँचाये

कृमियों को न मार सकते हों। जैसा कि ऐलोपैथिक की सब कृमिनाशक औषधियों के सम्बन्ध में डाक्टरों का मत है कि वह बिना शरीर को हानि पहुँचाये कृमि का नाश नहीं कर सकती। अतः क्षय-रोग की सबसे उत्तम चिकित्सा यज्ञ द्वारा ही हो सकती है।

३—यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के पहिले मंत्र में संसार को "जगत्यां-जगत" बताकर इस सिद्धान्त का ज्ञान भगवान ने दिया है कि जगत का हरएक परमाणु गतिशील है। आज के वैज्ञानिक भी इस सिद्धान्त की सत्यता को स्वीकार करते हैं। उनका का कहना है कि जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं उनका प्रत्येक परमाणु गतिशील है और यह गति भी ऊट पटांग नहीं किन्तु नियमपूर्वक है। प्रत्येक परमाणु की गति एक सी नहीं होती किन्हीं की गति समान होती है और किन्हीं की एक दूसरे के प्रतिकूल। दो समान वस्तुएं एक दूसरे को अपनी ओर खींचती हैं और विरुद्ध वस्तुऐं एक दूसरे को भगाती हैं। अतः जिन दो वस्तुओं के परमाणु एकसी गति करते हैं उनमें परस्पर आकर्षण होता है और विरुद्ध गति वाले परस्पर एक दूसरे को दूर भगाते हैं। आपने देखा होगा कि एक श्रेणी में एक साथ पढ़ने वाले कई विद्यार्थियों में से किन्हीं दो में विशेष मित्रता हो जाती है। शेष में वैसी नहीं जब कि बैठते सब एक ही साथ हैं। रेल में सैकड़ों यात्री साथ साथ यात्रा करते हैं पर उनमें से किन्हीं दो में ऐसी घनिष्ठता हो जाती है कि सम्बन्धियों का सा व्यवहार होने लगता है। विवाह सबका होता है पर किन्हीं पति पत्नियों में ऐसा गहरा प्रेम होता है कि वे एक दूसरे पर प्राण न्यो-छावर करने को तैयार रहते हैं। एक ने पति की चिकित्सा के लिये अपने शरीर का मांस कटवा दिया था। एक आँखें निकलवाने को उद्यत हो गई थी। पर कोई कोई एक दूसरे

को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह सब कुछ भी इसी प्राकृतिक नियम के आधार पर होता है। जिनके स्वभाव इत्यादि के परमाणु एक सी गति करते हैं उनमें परस्पर आकर्षण तथा प्रेम हो जाता है। और विपरीत गति वालों में विरोध। इसी प्रकार जिस मनुष्य के शरीर के परमाणु जैसी गति करते हैं उसी गति वाले रोग या स्वास्थ्य के परमाणुओं का उसकी ओर खिचाव हो जाता है और जो उसके विपरीत होते हैं वे दूर भागते हैं। अतः क्षय के कीटाणु भी उसी मनुष्य के भीतर प्रवेश करेंगे जिसके भीतर रोग ग्रहण करने वाली शक्ति विद्यमान है। वैज्ञानिक अब इस निश्चय पर पहुँच चुके हैं कि क्षय-रोग होने के लिये क्षय कृमि कुछ नहीं कर सकता यदि मनुष्य ने अपने शरीर को उसकी भूमि न बनाया हो। क्षय कृमि सील इत्यादि में पनपते हैं। गर्मी से नष्ट होते हैं। जो आदमी नित्यप्रति गूगल, लौंग, घी, शक्कर इत्यादि से यज्ञ करता है। उसके शरीर में अग्नि तथा उपरोक्त पदार्थों के सूक्ष्म परमाणु नित्य प्रति प्रवेश करेंगे जो क्षय-कृमि के विरुद्ध गति रखते हैं। अतः जब भी क्षय-कीटाणु ऐसे मनुष्य की ओर आवेंगे तो इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार भगा दिए जावेंगे और यदि शरीर में पूर्व से प्रवेश कर चुके हैं तो विपरीत शक्ति उत्पन्न होने से नष्ट भ्रष्ट हो जावेंगे। विज्ञान से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जायफल, गूगल, घी, शक्कर इत्यादि पदार्थ जलाने से कृमि नाशक गैस उत्पन्न होती है और अग्नि तो कृमि-नाशक है ही।

४–किसी भी रोग के कीटाणु जब मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं तो हमारे शरीरकी रोग निवारक शक्ति (जिसे हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि तो सदा से जानते थे और प्राणायाम तथा ब्रह्मचर्य द्वारा नित्य बढ़ाया करते थे पर अब इस संबंध

में वर्तमान विज्ञान में भी कुछ समय से खोज होने लगी है। डाक्टरी भाषा में इस रोग निवारक शक्ति को एम्युनिटी (Immunity) कहते हैं) एक प्रकार का उफान खाया हुआ रस तथा रक्त के श्वेत कणों की सेना जिसे डाक्टरी में (Phygocytosis) कहते हैं भेजता है। उन रोग कीटाणुओं से इनका युद्ध होता है। यदि यह लड़ाई में सफल हो जाते हैं तो रोग कीटाणु वहीं समाप्त हो जाते हैं और हमें ज्ञात भी नहीं होता कि हम पर किसी रोग का आक्रमण हुआ था। पर इनके निर्बल सिद्ध होने पर रोग हमारे शरीर पर अधिकार जमा लेता है। यह (Immunity) रोग निवारक शक्ति कुछ तो जन्मकाल से साथ आती है और कुछ मनुष्यों को उत्तम भोजन, शुद्ध सुगन्धित वायु के मिलने से उत्पन्न होती है। हवन यज्ञ से सुगन्धित वायु का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष अनुभव होता है और गर्मी से उफान भी शीघ्र उत्पन्न होता है अतः (Phygocytosis) भी अधिक बनेगा। Immunity और Phygocytosis दोनों अधिक बनने से कृमि आक्रमण ही न कर पावेंगे और कर चुके हैं तो इन शक्तियों के बढ़ने से शीघ्र नष्ट हो जावेंगे।

५—पाठ २ में बताया जा चुका है कि क्षय-कीटाणु में स्वास्थ्य त्वचा को वेधने की शक्ति नहीं है और जिस प्रकार हमारे शरीर के ऊपर खाल का खोल चढ़ा हैं उसी प्रकार शरीर के भीतर एक मुलायम खाल का अस्तर भी लगा है जो गले से लेकर कोलन अर्थात् आंत के निचले भाग तक विशेष रूपसे तर रहता है। जिस मनुष्य की यह खाल और अस्तर बिलकुल ठीक हैं और भंग नहीं हैं वह स्वस्थ मनुष्य है और उस पर क्षय क्या किसी भी संक्रामक रोग का आक्रमण नहीं हो सकता। इस वैज्ञानिक नियम को समझने वाले बुद्धिमान अनुभवी चिकित्सक सर्वदा अधिक रेचक औषधि का उप-

योग नहीं कराते, क्योंकि इससे आंतों के अस्तर में चटखन उत्पन्न होती है। जब रोग कृमि शरीर में प्रवेश करते हैं तो इन्हीं चटखनों द्वारा रक्त में इस प्रकार फैल जाते हैं जिस प्रकार प्रवेश (Inject) की हुई औषधि। अब यदि किसी असुविधा से हमारी इस खाल या अस्तर में कोई चटखन हो गई है तो बाहर की खाल की चिकित्सा तो अन्य उपायों से भी सम्भव है पर भीतर की कठिन है। विशेषकर उन विषैली औषधियों से तो लगभग असम्भव ही है जो एक रोग को दबाकर अनेक नवीन रोग उत्पन्न करती हैं। हां जो नित्य प्रति यज्ञ करते हैं उनके भीतर जब घी, कपूर और गूगल इत्यादि के सूक्ष्म परमाणु पहुँचेंगे तो उस चटखन को किस शीघ्रता से भर देवेंगे इसका समझना कुछ कठिन नहीं है, जब कि इन्हीं वस्तुओं से बाहर की चटखन को भरने का अनुभव प्रत्येक मनुष्य करके देख सकता है।

६—क्षय के सब विशेषज्ञ डाक्टर क्षय-रोगी के लिये बहुत मात्रा में शुद्ध वायु प्राप्त करने पर बल देते हैं और जब औषधियों का कोई प्रभाव नहीं देखते तो लाचार होकर पहाड़ पर रोगी को ले जाने का परामर्श देते हैं और बहुत से रोगी वहां जाकर प्राकृतिक जीवन बिताने के कारण अच्छे भी होजाते हैं। इसका मुख्य कारण यह होताहै कि वहांकी वायुमें ओषजन का सूक्ष्म भाग ओज़ोन पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होता है। ओज़ोन इतनी तीव्र गैस होती है कि वायु के पचीस सहस्र अंश में केवल एक अंश भी इसका हो तो उस की मंद सुगन्धि ज्ञात हो जावेगी। उसका एक विशेष गुण यह है कि रंध्र वाले फुप्फुसों के रंध्रों को सुखाता है। परीक्षण से यह सिद्ध हो चुका है कि हवन गैस में वही ओज़ोन का भाग और रंध्र सुखाने का गुण पर्याप्त मात्रा में होता है। ऐसा एक परीक्षण आगे इसी पुस्तक में लिखा जवेगा। अतः

जो लोग इस वायु को लेने पहाड़ पर नहीं जा सकते वह घर बैठे उसी वायु का लाभ प्राप्त कर सकते हैं और जो पहाड़ पर जाकर यज्ञ चिकित्सा करते हैं वह डबल लाभ उठाकर और भी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करते हैं। यह लाभ हवन चिकित्सा के अतिरिक्त किसी और चिकित्सा से प्राप्त नहीं हो सकता। स्वस्थ्य अवस्था में जो लोग नित्य प्रति यज्ञ करते हैं वह कुछ देर के लिये रोज पहाड़ की वायु का सेवन कर लेते हैं।

७—क्षयी का अर्थ है क्षीण करने वाला रोग वास्तव में इसका रोगी क्षीण होता भी जाता है। बहुत से चिकित्सक भीरोगी के शरीरके भारसे ही रोगके घटने बढ़नेका अनुमान करते हैं। हम लोग फुफ्फुस देखने का यत्र जब किसी स्वस्थ मनुष्य की छाती पर लगाते है तो भीतर जाने वाली श्वांस की लम्बाई बाहर निकलने वाली श्वांस को अपेक्षा तीन गुना अधिक सुनाई देती है। जिसका मतलब यह है कि आय अधिक और व्यय न्यून होने से शरीर अधिक दिनों तक क़ायम रहेगा। किन्तु क्षयी-रोगी के श्वांस की लम्बाई इस के विपरीत होती है अर्थात् भीतर जाने वाली की लम्बाई कम और बाहर निकलने वाली की अधिक। जिसका मतलब साफ है कि आय कम और व्यय अधिक होने के कारण शीघ्र प्राणों का दिवाला निकलने वाला है। तब ही तो इसे क्षयी-रोग कहते हैं। अतः क्षय-रोगी के लिये सब डाक्टर अधिक से अधिक भोजन करने का परामर्श देते हैं ताकि रक्त अधिक बने और शरीर का भार बढ़े तथा शक्ति आने से श्वांस के लम्बान में अन्तर पड़े। पर रोगी को खाने की इच्छा ही नहीं होती। जबरदस्ती खा ले तो पचता नहीं, क्योंकि ओषजन कम होने के कारण मन्दाग्नि हो जाती है। कोई पुष्टिकारक पदार्थ हलुवा, मेवा इत्यादि खाया तो

कठिनता सेही पचता है। न पचने पर दस्त आ जाते हैं। जो ऐसे रोगी को मृत्यु की सूचना ही समझो। अनुभवी से अनुभवी चिकित्सक पाचन शक्ति का पूर्णतया ठीक अनुमान लगाने में भूल कर सकता है। सब डाक्टर लाचार हैं। अन्य रोगों में जिनमें अरुचि हो तो उपवास से रोगी को ठीक किया जा सकता है पर क्षय-रोगी को उपवास कराते हैं तो एक मार्ग से मृत्यु के निकट पहुँचता है और पौष्टिक भोजन से दूसरे मार्ग से। डाक्टरों को ऐसा कोई उपाय नहीं दृष्टि पड़ता कि रोगी के पाचन यन्त्रों पर तो बोझ न पड़े और पौष्टिक भोजन शरीर का अंग बन जावे। वर्तमान विज्ञान अभी इस सीमा तक उन्नति नहीं कर पाया पर प्राचीन वैज्ञानिक बताते हैं कि वह उपाय केवल यज्ञ है जिसके द्वारा पौष्टिक से पौष्टिक पदार्थ बादाम, शतावर, खीर, हलुवा, किशमिश, छुआरे इत्यादि अधिक से अधिक मात्रा में रोगीके शरीर में वैज्ञानिक रीति से पहुँचा सकते हैं उन वस्तुओं का सार भाग ही रोगी के भीतर पहुँचेगा जो अग्नि ने पूर्व से ही हलका कर दिया है। अतः वह पाचन शक्ति पर तो किंचित मात्र भी प्रभाव न डालेगा। किन्तु उसको और तीव्र करेगा तथा रक्त को बलवान बनावेगा। ऐसा बलवान बनावेगा कि कोई रोग पास ही न आवे। इस पर भी उत्तमता यह है कि उसकी अधिक मात्रा पहुँच कर अजीर्ण होनेका कोई भय नहीं क्योंकि वह प्राकृतिक ढंग से शरीर में प्रवेश करेगा। आप चाहें 'सारे वायु मंडल को हवन गैस से भरदें। प्रत्येक मनुष्य उसमें से उतनाहि' भाग ग्रहण करेगा जिसकी उसे आवश्यकता है। जैसे उद्यान और पहाड़ तथा समुद्र किनारे की वायु में ओषजन भरा होता है। परिमाण से अधिक ओषजन भी शरीर को भारी हानि पहुँचा सकता है पर क्या कभी किसी मनुष्य को उद्यान में घूमने से ओष-

जन अधिक पहुंच जाने की शिकायत सुनी गई है ? नहीं, कारण यह है कि भगवान ने प्रकृति के भीतर ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि मनुष्य आवश्यकता से अधिक भोजन साधारणतः ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार हवन गैस में से मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार ही उन पदार्थों को ग्रहण करेगा। अतः हवन यज्ञ द्वारा ही हम पौष्टिक भोजन निर्बल से निर्बल रोगी में पहुंचा सकते हैं। दूसरा कोई ऐसा उत्तम उपाय हमारे पास नहीं है।

८—जिन लोगों को होम्योपैथिक चिकित्सा का कुछ ज्ञान है वह भली प्रकार जानते हैं कि होम्योपैथी में एक एक औषधि सैकड़ों रोगों में दी जाती है और हरएक औषधि के सैकड़ों गुण निघंटु (Materia Medica) में लिखे हैं। जो औषधि ज्वर की किसी अवस्था विशेष में काम करेगी। वह ही विशूचका में किसी अवस्था विशेष में काम दे सकती है। और वही निमोनियां में किसी समय काम आ सकती है कारण इसका यह है कि औषधियों में असंख्य गुण हैं जो होम्योपैथी के आविष्कारक ने एक विशेष विधि से औषधि तैयार करके और प्रयोग करके मालूम किये हैं। उस विधि की सबसे बड़ी बात यह है कि औषधि का अधिक से अधिक भाग स्प्रिट में गलाया जाता है उसका कोई अंश नष्ट नहीं किया जाता। इसके विरुद्ध जिन चिकित्सा विधियों में औषधि के किसी भाग का अर्क इत्यादि खींचकर उसका फोकस फेंक देने का विधान है। वहां औषधि के गुण भी थोड़े ही रह जाते हैं और एक एक बीमारी में कई२ औषधि मिलाकर देने से कहीं कुछ प्रभाव हो पाता है। कारण इस का यह है कि औषधि का जो भाग फेंक दिया जाता है उस के गुण भी उसी के साथ चले जाते हैं। चूंकि यज्ञ चिकित्सा में भी औषधि का पूर्ण भाग काम आ जाता है ऐसा पूर्ण

जैसा होम्योपैथी में भी सम्भव नहीं । अतः उसकी औषधियां भी अपने सम्पूर्ण गुणों का प्रकाश करके शरीर के अनेक दोषों को मिटा देती हैं । इसी कारण नित्य प्रति थोड़ा सा भी यज्ञ करने वाले रोग मुक्त रहते हैं और क्षयी-रोगी हवन करने से थोड़ी औषधियों के असंख्य गुणों से लाभ प्राप्त कर लेते हैं और खाने वाली विषैली औषधियों के विष से भी बचे रहते हैं ।

६—यकृत और प्लीहा के कोषों (Cells) में रोग कीटाणु मारने की अधिक शक्ति है ऐसा डाक्टरों का अनुभव है । जिसके यकृत (जिगर–Liver) व प्लीहा (तिल्ली–Spleen) स्वस्थ हैं वह रोग से अधिक मुक्त रहेगा और रोगी होने पर शीघ्र आरोग्य हो सकेगा। ऐसा देखा गया है कि क्षयी–रोगी की विभिन्न इन्द्रियों में साधारणतः एक विचित्र पदार्थ जमा हो जाता है जो देखने में श्वेतसार से मिलता जुलता है । यह विकार वैसे तो किसी भी इन्द्रिय में हो सकता है, परन्तु प्लीहा, यकृत, वृक्क में अधिक होता है । इससे पाया जाता है कि प्लीहा और यकृत पूर्व से निर्वल अवस्था में हो जाते हैं और यह सब ही पढ़े लिखे लोग जानते हैं कि सील वाले स्थान में (Damp Climate) जहां मलेरिया अधिक होता है यकृत व प्लीहा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है और ओषजन–युक्त वायु में वह अच्छे रहते हैं । हवन यज्ञ से सील दूर होना हम प्रत्यक्ष देखते हैं । ओषजन युक्त वायु का प्रभाव इन अंगों पर अच्छा होता ही है जो यज्ञ से अधिक उत्पन्न होती है अतः यकृत और प्लीहा भी स्वस्थ रहकर रोग से अधिक रक्षा करते हैं ।

१०—जैसा कि पिछले पाठ में हमने बताया है क्षय–रोग के लेखक डाक्टर गुप्ता ने स्वीकार किया है कि ऐलोपैथी में ऐसे अनेक

रासायनिक पदार्थ हैं जो शरीर के बाहर क्षय कीटाणुओं को

क्षण भर में नष्ट कर सकते हैं, परन्तु अभी तक ऐसा एक भी रस नहीं निकला है जो शरीर के अन्दर उन कीटाणुओं को बिना शरीर को हानि पहुँचाए मार सके। इसी तथ्य को डा० मोलर साहब ने भी माना है। डाक्टर गुप्ता ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ५ पर दो प्रश्न इन शब्दों में उठाए हैं "यदि क्षय-कीटाणुओं को, जहां मिलें, नष्ट कर दिया जाय और उनको फैलने न दिया जाय, तो क्षय रोग से निस्सन्देह बचत हो सकती है और यदि कोई ऐसी औषधि ज्ञात हो जाय जो क्षय-कीटाणुओं को शरीर में नष्ट करदे, तो क्षय-रोग का शर्तिया इलाज हो सकता है। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर यज्ञ की गैस है। यही ऐसा पदार्थ है जो शरीर को बिना हानि पहुँचाए ही नहीं शरीर को लाभ पहुंचाते हुए क्षय-कीटाणु को शरीर के भीतर गुप्त से गुप्त स्थान में पहुँचकर मार सकती है और वायु मंडल में वहां भी रोग कीटाणु हों मार सकती है। इसी चिकित्सा की यह विशेषता है कि जहां रोगी को लाभ पहुँचाती है वहां वायु मंडल से रोग का नाश करके रोगी की सेवा करने वालों की रोग से रक्षा करती है तथा भविष्य में रोग की वृद्धि को रोकती है। अब तक जितना धन क्षय-निवारण के लिये देश का नष्ट किया गया है यदि इसका दसवां भाग भी यज्ञ पर खर्च किया जाया करे तो न केवल क्षय से किन्तु अनेक संक्रामक रोगों से देश की रक्षा हो जावे और इसका प्रभाव वर्षा को भी नियमित बनावे।

११—डाक्टर गुप्ता अपनी पुस्तक के पृष्ठ ७४ पर लिखते हैं:— राज-यक्ष्मा के इलाज में जलवायु की निम्नलिखित बातें हितकर मानी जाती हैं। वायु भार की कमी, पवनों का चलना, वायु की अक्षमता कोहरा की कमी, वर्षा की कमी, प्रकाश

की अधिकता, तीव्र ताप तथा अधिक क्रियाशील किरण वाला प्रकाश और अधिक विकरण शक्तिवाली शुद्ध वायु। इस बात से साधारणतः यह कहा जा सकता है कि क्षय-रोग का प्रसार भारतवर्ष के उन भागों में कम होता है जहां वर्षा कम होती है, वायु में आर्द्रता कम होती है। वायु स्वच्छ तथा शुष्क होती है और जहां का औसत ताप परिमाण अधिक होता है।

यह सब वैज्ञानिक जानते हैं कि केवल आग जलाने से वायु भार कम होता है और वायु तीव्र गति से चलती है। कहीं पर आग लगने से इसी कारण वायु चलने लगती है। वायु में अक्षमता भी होती है, प्रकाश की अधिकता तथा तीव्र ताप प्रत्यक्ष देख पड़ता है और सुगन्धित वस्तुओं के जलाने से वायु शुद्ध होती ही है और शुष्क भी होती है। अतः जो बातें क्षय-चिकित्सा के लिये आवश्यक मानी जाती हैं उनका अधिकांश डाक्टरों के दृष्टिकोण से हवन यज्ञ से पूरा होता है। अन्य चिकित्सा विधियों में तो ऐसे स्थान पर रोगी को जाने का परामर्श डाक्टर दे सकता है वह जा सकता है या नहीं यह उसकी स्थिति पर निर्भर है पर यज्ञ-चिकित्सा से उपरोक्त बातें रोगी के निवास स्थान पर ही उत्पन्न की जा सकती हैं। अतः क्षय-रोगी के लिये यज्ञ-चिकित्सा से बेहतर अन्य कोई चिकित्सा नहीं हो सकती।

१२—डाक्टर गुप्ताजी ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ २६ पर लिखा है:—
"क्षय-कीटाणु चाहे जहां से प्रविष्ट हों, रक्त द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचते हैं। रक्त समस्त शरीर में भ्रमण करता है और जहां कहीं अनुकूल स्थान होता है, क्षय-कीटाणु वहीं टिक कर रोग उत्पन्न कर देते हैं"।

इसी कारण वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसी औषधियों के इञ्जेक्शन अविष्कृत किये जो रक्त में सीधे पहुंचकर क्षय-कीटाणुओं का नाश करें पर जैसा कि इससे पूर्व बताया जा चुका है कि ऐलोपैथीमें अभीतक ऐसी कोई औषधि नहीं बनाई गई जो क्षय-कीटाणुओं को शरीर के भीतर बिना शरीर को हानि पहुंचाए मार सके। अतः यह निर्विवाद है कि ऐसे सब इञ्जेक्शनों से शरीर को हानि पहुंचती है। निदान में भूल हो, सुई अशुद्ध हो, लगाने वाला अनुभवी न हो इनसे जो हानि हो सकती है वह प्रथक रही। सब बातें ठीक होने पर भी कोई भी ऐलोपैथिक औषधि शरीर को बिना हानि पहुंचाए शरीर के भीतर क्षय-कृमि नहीं मार सकती। ऐसा वैज्ञानिक स्वयं स्वीकार करते हैं। पर हवन यज्ञ में जो औषधि जलाई जाती हैं उसके परमाणु स्वांश द्वारा फुफ्फुसों में पहुंचकर सीधे रक्तमें जाते हैं। और उसकी शुद्धि भी करते हैं। रक्तमें कोई भी दोषहो क्षय-कृमि हों अथवा अन्य अप्राकृतिक पदार्थ हो सब ही को नष्ट करती है। किस रोगका कृमि किस औषधि से नाश होता है यह ज्ञान चिकित्सक को होना आवश्यक है, पर यदि इसमें कुछ भूल भी हो जावे तो इञ्जेक्शन की सी हानि का खटका नहीं रोग निवृत्ति में केवल समय कुछ अधिक लगेगा। कुछ लोगों के मन में शंका उठेगी कि यज्ञ में डाली औषधि तो अग्नि में भस्म हो गई उसका क्या प्रभाव होगा पर यह केवल भ्रम मात्र है, ऐसा होता तो हवन की सुगन्धि नाक में कैसे अनुभव होती। नाक में जिस वस्तु ने सुगन्धि पहुंचाई वह उस औषधि के सूक्ष्म परमाणु ही तो हैं जो अग्नि द्वारा छिन्न भिन्न होकर सूक्ष्म रूप में हो गये। जिनका बिना इस रूप में हुए स्थूल रूप में इस प्रकार रक्त में पहुँचना असम्भव था। यदि वही औषधि खिलाई जाती तो पाचन होने के

पश्चात् जब रक्त बन जाती तब रक्त पर प्रभाव कर सकती थी पर हवन यज्ञ से सीधी रक्त में पहुंच कर कृमियों को मारती है।

१३—पदार्थ विद्या से सिद्ध हो चुका है कि जो कृमि हमारे शरीर को रोग ग्रस्त करने की शक्ति रखते हैं, उन्हें धुआं नाश कर देता है। इस बात को देखकर कि सब सजातियों में रोगों को दूर करने का मोटा तरीका लकड़ी जलाना है, उसमें साइंस द्वारा सत्य देखने का निश्चय डाक्टर त्रिले ने किया और परीक्षण से मालूम किया कि लकड़ी जलाने से फामिक आलडीहाइड नामी एक गैस निकलती है, जिसका गुण सब प्रकार के कृमियों (Germs) को मार डालना है। यह वस्तु रसायन में बहुत प्रसिद्ध है जल के सौ परिमाणों में ४० परिमाण इस वायु के मिलाकर फार्मेलिन नामी औषधि बाजार में बिकती है। चूंकि यह कृमि नाशक, रोग नाशक, विकार बाधक है इस कारण उसका बहुत प्रयोग होता है। जैसे फ़िनायल वर्ता जाता है, वैसे ही मकान शुद्ध करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। पर इसमें उपरोक्त गुण होने पर भी एक बड़ा दोष यह है कि बड़ी बदबूदार होती है। हवन करने से भी धुआं होता है अतः उस में भी यह गैस होती है पर सुगन्धित पदार्थ जलाने से उस का यह दोष दूर हो जाता है और ऐसी औषधि जलाने से जो स्वयं कृमिनाशक और पुष्टकारक हैं उसमें अन्य गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं और कृमिनाशक गुण खूब बढ़ जाता है। अतः शरीर के भीतर क्षय-कृमि नाश करने की सर्वोत्तम विधि "यज्ञ-चिकित्सा" है।

१४—डाक्टर गुप्ता अपनी पुस्तक क्षय-रोग के पृष्ट २२ पर लिखते हैं:—"क्षय-कीटाणु के शरीर में प्रवेश करने का श्वास मार्ग

सर्व प्रधान मार्ग है। प्राचीन काल से लोग श्वांस मार्ग को प्रधान मार्ग मानते आये हैं। डाक्टर काक साहब तथा अन्य वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग सिद्ध प्रमाण एकत्रित किये हैं। जिससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि कफ मिली हुई धूल श्वांस के साथ अन्दर जाने से क्षय-रोग उत्पन्न हो जाता है। इस बात से विदित होता है कि जिन घरों में असावधान क्षय-रोगी रहते हैं, उनमें रहने वाले लोगों को सूखे हुए कफ से कितना डर रहता है। फिर पृष्ठ ११० पर लिखते हैं कि मनुष्यों में जितना क्षय-रोग होता है उसका ६० प्रतिशत केवल फेफड़े में होता है"। इन बातों से यज्ञ-चिकित्सा की उपयोगता और भी बढ़ जाती है क्योंकि उस धूल के कृमि केवल हवन द्वारा ही वायु मंडल से नाश किये जा सकते हैं और घर में रहने वालों को उस डर से मुक्त किया जा सकता है। क्षय के ६० प्रतिशत रोगियों को सीधा फेफड़े पर प्रभाव करने वाली केवल यज्ञ-चिकित्सा ही है। कोई भी औषधि, इञ्जेकशन इत्यादि ऐसा सीधा प्रभाव फेफड़े पर नहीं कर सकती जैसा यज्ञ-चिकित्सा।

१५—क्षय-रोग की चिकित्सा कठिन होने का एक प्रधान कारण यह है कि इसमें शरीर के भीतर फेफड़ों इत्यादि में क्षत हो-कर राध पड़ जाती है। किसी और रोग में भी जब किसी भीतरी अंग में राध पड़ जाती है तो चिकित्सा कठिन हो जाती है, जैसे स्त्रियों के गर्भाशय में फोड़ा हो जाता है तो उसकी चिकित्सा में भी कठिनता पड़ती है। ऐसी अवस्था में एक उत्तम चिकित्सा रेडीयम द्वारा की जाती है। रेडीयम एक बहुमूल्य मणि है जो यहां तक गर्म होती है कि फोड़े के स्थान पर शरीर के ऊपर बांधने से न केवल ऊपरी भाग पर आग से जलने का सा चिन्ह बन जाता है, किन्तु उसकी गर्मी से भीतर का फोड़ा भी सूख जाता है। इस काम के

लिये रेडीयम ही क्यों खोजा गया गर्मी तो अग्नि द्वारा भी पहुंचाई जा सकती है। कारण यह है कि रेडीयम के भीतर एक विशेष परिमाण में गर्मी होती है, जो परिमाण मनुष्य अग्नि से नहीं बना सके। क्षय-रोगकी चिकित्सा में भी डाक्टर लोग जो अधिक से अधिक शुद्ध वायु में रहने का आदेश देते हैं उसका मतलब यही होता है कि ओषजन युक्त वायु अपनी अग्नि से उस क्षत को सुखावे जो फेफड़े के भीतर है और जहां पर रेडीयम भी काम नहीं कर सकता न बिजली काम देती है। हवन यज्ञ से चूंकि शुद्ध ओषजन युक्त वायु अधिक मात्रा में मिलती है और उस वायु में प्रकृति ने रेडीयम का सा परिमाण बना दिया है कि क्षत को सुखा सके तो यज्ञ-चिकित्सा द्वारा हम हर समय वह वायु उत्पन्न कर सकते हैं जिससे क्षत सुखते हैं। इस सम्बन्ध में जो परीक्षण हुए हैं वह आगे वर्णन किये जावेंगे।

१६—अन्वेषण द्वारा निश्चय किया गया है कि साधारण रूप में एक युवा मनुष्य के फेफड़ों में २३० वर्ग इंच वायु रहती है, जिसमें से केवल २० से लेकर ३० वर्ग इंच श्वांस छोड़ने पर बाहर निकलती है और ३०० वर्ग इंच जमा रहती है। पर यदि जोर से गहरी श्वांस ली जावे तो १३०वर्ग इंच तक वायु बाहर निकाल सकते हैं। जितनी अशुद्ध वायु बाहर निकलती है उतनी ही शुद्ध वायु तुरन्त श्वांस द्वारा भीतर जाती है। जितनी अधिक शुद्ध वायु भीतर पहुंचती है उसी अनुताप से रक्त शुद्ध होता है और अग्नि तीव्र होकर पाचन शक्ति बढ़ती है तथा भोजन पचकर रक्त तथा बल की वृद्धि होती है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि जिस स्थान पर सुगन्ध आती है वहां गहरी श्वांस लेता है और बार बार लम्बी गहरी श्वांस लेता रहता है। किसी उद्यान में जहां हारसिंगार अथवा केवड़े के फूल खिल रहे हों खड़े

होकर हमारी इस बात का अनुभव हर मनुष्य कर सकता है जिस स्थान पर हवन यज्ञ होता है वहां इससे भी बढ़िया मंद सुगन्धि फैलती है अतः स्वाभावता गहरी श्वांस ली जाती है। जितनी देर रोगी यज्ञ के स्थान पर रहता है, बार बार गहरी श्वांस लेकर वाटिका से भी अधिक ओष-जन युक्त वायु से अपने फेफड़ों को भरता है जिससे फेफड़ों के क्षत इतनी शीघ्रता से सूखते हैं जितने किसी अन्य विधि से सम्भव नहीं साथही वायु प्राकृतिक ढंगपर पहुंचकर आरो-ग्यता प्रदान करती है अतः उसका प्रभाव स्थाई होता है। इसीलिये यह देखा जाता है कि जो रोगी यज्ञ-चिकित्सा से एक बार आरोग्य होता है वह सर्वदा आरोग्य रहता है।

१७—डाक्टर लोग कृमियों के मारने पर बल देतेहैं और अभी तक बिना शरीर को हानि पहुँचाये कृमि मारने वाला रस व ईजाद कर सकने की ऐलोपैथी की न्यूनता को स्वीकार करते हैं। साथ ही कैविटी भरने से आरोग्यता का अनुमान करते हैं। आयुर्वेद का कहना है कि रस रक्त बहाने वाली नसों के बन्द होने से रोग होता और उन नसों को पुनः खोलने से ही आरोग्यता मिल सकती है। शुद्ध ओषजन युक्त वायु, लघु और पौष्टिकारक भोजन पर दोनों ही पद्ध-तियों में बल दिया गया है। गम्भीरता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यज्ञ ही एक ऐसा साधन है जो कृमियों को मार सकता है, कैविटी को भर सकता है, ओषजन युक्त वायु दे सकता है। पुष्टिकारक भोजन पाचन क्रिया पर बिना भार डाले शरीर में पहुंचा सकता है और जीवन शक्ति को तथा रक्त सञ्चार को बढ़ाकर रस,रक्त बहाने वाली नसों को खोल सकता है। साथ ही यज्ञ सम्बन्धी मंत्रों पर विचार करने से मन की शक्ति भी आरोग्यता की ओर अग्रसर होगी अतः यही सर्व प्रधान चिकित्सा है।

पाठ ३

परीक्षण और साक्षी

१.—कांच की १२ शीशियां ली गईं और वैज्ञानिक रीति से उनको नितान्त शुद्ध कर लिया गया तथा उनके कृमि इत्यादि सब निकाल दिये गये। उसके पश्चात् दो दो शीशियों में दूध, मांस इत्यादि ६ वस्तुएं भरी गईं। अब ६ शीशियों को एक ओर और ६ को दूसरी ओर रख दिया गया। उनमें से एक ओर वाली शीशियों में हवन गैस पहुंचाई गई और दूसरी ओर की शीशियों में उद्यान की शुद्ध वायु भर दी गई। शीशियां बन्द करके रखदीं और नित्यप्रति उनका निरीक्षण करते रहे परिणाम यह निकला कि जिन शीशियों में उद्यान की वायु थी उनमें सड़ाव शीघ्र आरम्भ हुआ और शीघ्रता पूर्वक बढ़ रहा था। इसके विपरीत जिन शीशियों में हवन गैस पहुंचाई गई थी उनमें सड़ाव देर में आरम्भ हुआ और शनैः शनैः बढ़ रहा था। जिसका मतलब साफ है कि हवन गैस शुद्ध ओषजन युक्त उद्यान की वायु से भी अधिक सड़ाव को रोकती है। यह परीक्षण साधारण हवन सामग्री से किया गया था। जब क्षय-नाशक विशेष सामग्री बनाई जावे तो उसका प्रभाव उन सड़े हुए फेफड़ों पर और भी अच्छा होगा जो क्षयी-कीटाणुओं के कारण सड़ने लगते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि जो लोग नित्य प्रति हवन करते हैं उनके शरीर में इस प्रकार के रोग उत्पन्न ही नहीं हो सकते जिनमें किसी भीतरी स्थान में राध उत्पन्न हो औरयदि कहीं उत्पन्नभी होने लगे तो नित्यप्रति हवन गैस पहुंचाने से मवाद तुरन्त सूख जावेगा और क्षत अच्छा हो जावेगा।

२.—हवन गैस को पानी में मिलाकर बाहर के सड़े गले क्षत धोये गये तो यह परिणाम निकला कि पहिले किसी किसी क्षत से राध अधिक निकली और फिर बहुत शीघ्र क्षत भर कर सूख

गये। पहिले अधिक राध आने का कारण यह था कि भीतर गहराई तक का राध ऊपर आ गया और फिर शीघ्र क्षत भर गया जिससे सिद्ध है कि क्षत शीघ्र भरने का गुण होने से फेफड़े की (Cavity) शीघ्र भरेगी।

३.—एलोपैथिक चिकित्सा में क्षय-रोगी को क्रियोजूट (Kreosote) और Eucalyptus oil इत्यादि का Inhalation बना कर सुंघाते हैं और पानी को आग पर रख कर किन्हीं औषधियों को डालकर उसकी भाप कमरे में उत्पन्न करते हैं। इन बातों का फल तत्काल खांसी इत्यादि पर पड़ता है वैसे वही (Kreosote) खिलाया भी जाता है पर वह इतनी शीघ्र प्रभाव नहीं करता। ऐसा क्यों होता है? केवल इसीलिये कि सूंघी हुई दवा के सूक्ष्म परमाणु सीधे फेफड़े में पहुंचकर अपना प्रभाव करते हैं पर उनमें वह शक्ति नहीं कि स्थायी प्रभाव रख सकें। जैसा कि अग्नि से छिन्न भिन्न हुई औषधि के परमाणु रख सकते हैं। पर उपरोक्त बात से यह सिद्ध है कि एलोपैथी भी सिद्धान्त रूप में दवा सुंघानें से लाभ के नियम को मानती है।

४.—होम्योपैथिक चिकित्सा के आविष्कार कर्त्ता हैनीमन साहब अधिक निर्बल रोगियों को खिलाने के स्थान में केवल औषधि सुंघाने का परामर्श देते हैं और उसके लिये वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Organon of the medicanes की धारा १६० में लिखते हैं कि मेदे के अतिरिक्त जिह्वा और मुंह में ऐसे भाग हैं जो औषधि के प्रभाव को शीघ्र ग्रहण करते हैं किन्तु नाक का भीतरी भाग भी शीघ्रता से प्रभाव ग्रहण करता है। सब से अधिक प्रभाव औषधि का सुंघने और श्वास लेने से होता है। यदि हैनीमन साहब के समय जर्मनी में यज्ञ का प्रचार होता अथवा वेद में वर्णित यज्ञ की विधि तथा उसके वैज्ञानिक लाभों पर उनकी दृष्टि जाती तो वह हवन यज्ञ को अपनी चिकित्सा का एक मुख्य अंग बनाते फिर भी जहां तक सिद्धान्त

का सम्बन्ध है वह इसके प्रभाव को वैज्ञानिक दृष्टि से स्वीकार करते हैं।

५.—मद्रास के सेनेटरी कमिश्नर डाक्टर कनरल किंग R. M. S. ने कालेज के विद्यार्थियों को उपदेश दिया कि घी, चांवल और केसर मिलाकर जलाने से रोग के कीटाणुओं का नाश होता है।

६.—फ्रान्स के विज्ञान वेत्ता प्रो० टिलवर्ट साहब कहते हैं कि जलती हुई खांड के धुएँ में वायु शुद्ध करने की बड़ी शक्ति है। इससे हैजा, तपेदिक़ (क्षय) चेचक इत्यादि का विष शीघ्र नष्ट हो जाता है।

७,—डाक्टर टाटलिट साहब ने मुनक्का, किशमिश इत्यादि सूखे फलों को जला कर देखा है और मालूम किया है कि इनके धुएँ से टाइफाइड ज्वर के कीटाणु केवल आध घन्टे में और दूसरे रोगों के कीटाणु घन्टे दो घन्टे में समाप्त हो जाते हैं।

८.—फ्रान्स के डाक्टर हेफकिन साहब, जिन्होंने चेचक के टीका का अविष्कार किया है कहते हैं कि घी जलाने से रोग कृमि मर जाते हैं।

९.—कविराज पं० सीताराम जी शास्त्री अपनी पुस्तक में लिखते हैं:—

मैंने अपनी कई वर्षों की चिकित्सा के अनुभव से निश्चय किया है कि जो महारोग औषधि भक्षण करने से दूर नहीं होते वह वेदोक्त यज्ञों के द्वारा (अर्थात् यज्ञ-चिकित्सा से) दूर हो जाते हैं।

१०.—परीक्षण करने के पश्चात् केमिकल्स प्रापरटीज की सम्मति इस विषय में यह है:—

जायफल, जावित्री, बड़ी इलायची,सूखा चन्दन इत्यादि अग्नि में जलाने से उपयोगी भाग ज्यों के त्यों रहते हैं या सूक्ष्म

हो जाते हैं। पहिले पहल इनसे सुगन्धित तेल गैस बनकर निकलते हैं। हवन गैस में यह चीजें अपने असली रूप में मिलती हैं। अग्नि इन चीजों को गैस बना देती है। उड़ने वाले तेलों के परमाणु $\frac{1}{10000}$ से $\frac{1}{1000000000}$ सेंटीमीटर व्यास वाले देखे गये हैं। अतः हवन में इन चीजों के गुण बहुत बढ़ जाते हैं और ये आसानी से कीटाणुओं का नाश करते हैं।

अब तक हमने युक्ति और प्रमाण द्वारा यज्ञ-चिकित्सा की प्रधानता दिखाई है पर कोई भी चिकित्सा विधि उस समय तक पूर्ण उपयोगी नहीं समझी जाती जब तक उसके द्वारा रोगी आरोग्यता प्राप्त न करलें। हमें इस सत्य के प्रगट करने में कोई संकोच नहीं है कि विदेशी सरकार की देशी चिकित्सा विधि को न पनपने देने की नीति के कारण पूर्ण साधन उपलब्ध न हो सकने से यज्ञ-चिकित्सा से क्षय-रोगियों की उतनी संख्या को लाभ प्राप्त नहीं हो सका है जैसा क्षय-रोग की अन्य कोई भी अचूक चिकित्सा के अभाव में होना चाहिये था। हजारों रोगी इच्छा रखते हुए साधनों के अभाव के कारण चिकित्सा न करा सके ऐसे रोगियों के दुख भरे हजारों पत्र अब तक हमारे पास सुरक्षित हैं और उनको पढ़ पढ़कर अनेकों बार हमने देश के दुर्भाग्य और अपनी असमर्थता पर आंसू बहाये हैं और उन पत्रों से प्रभावित होकर अनेकों बार अपनी मान मर्यादा का विचार छोड़ प्रसिद्ध दानियों के दरवाजे खटखटाने का निष्फल प्रयत्न किया है। पर नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता है। फिर भी केवल भगवान् के सहारे अपने बल बूते पर साधन जुटाकर जिन रोगियों ने यज्ञ-चिकित्सा से जीवन दान पाया है उनकी संख्या बहुत कम भी नहीं है उनही में से कुछ रोगियों के पत्र इस स्थान पर दर्ज किये जाते हैं ताकि पाठकों को ज्ञात हो जावे कि यज्ञ-चिकित्सा का विचार केवल काल्पनिक

नहीं है किन्तु कार्यरूप में परिणित हो चुका है और वेद भगवान् का वचन अक्षरसः सत्य सिद्ध हो चुका है। अब यदि जनता की सरकार जनता के हित के लिये स्थान स्थान पर इस चिकित्सा विधि के स्वास्थ्य गृह बनवादे जहां बहुत से रोगी एक साथ रह सकें तब फिर यह चिकित्सा विधि श्रेष्ठा के साथ ही साथ सस्ती भी हो जावे पर यह तब ही होगा जब जनता सरकार को ऐसा करने को विवश कर देगी। यह चिकित्सा कितनी उपयोगी और प्रभावशाली है वह निम्नलिखित पत्रों से प्रगट होती है:—

१.—पं० मन्नूलाल जी राजवैद्य, पुवायां सन् १६३० ई० में आरोग्य होने के पश्चात लिखते हैं:—

मैं लगभग १ वर्ष से जीर्ण ज्वर में फंस गया था, अनेक चिकित्सकों की चिकित्सा कराई पर लाभ न हुआ और चिकित्सकों के विचार मान जीवन से निराश हो गया था; परन्तु श्रीमान् परम पूज्य डा० कुन्दनलाल जी एम० डी० मूड बरेली की सेवा में आकर यज्ञ-चिकित्सा द्वारा तीन सप्ताह में ही ज्वर छूट गया, और कई मास में पूर्ण स्वस्थ हो गया। मैं तपेदिक्र के रोगियों से अनुरोध करता हूँ कि वह किसी भी चक्कर में न पड़कर केवल यज्ञ-चिकित्सा करावें। यदि कोई इस चिकित्सा विधि का सेनीटोरियम बनवादे तो जनता का बड़ा उपकार हो।

२.—ठा० महेशचरणसिंह जिमीदार ज़िला रायबरेली ने आर्यमित्र पत्र में अपना यह पत्र प्रकाशित कराया था:—

तीन वर्ष से मुझे हर समय ज्वर रहता था कभी बहुत बढ़ जाता था और शरीर निर्बल हो गया था, खून बनना बन्द हो गया था मैंने हर प्रकार की चिकित्सा कराई पर कोई लाभ नहीं हुआ, जीवन से निराश हो चुका था। तब मैंने श्रीमान् डा० कुन्दनलाल जी की यज्ञ-चिकित्सा की जिससे अब कोई शिकायत नहीं है। मैं श्रीमान् डाक्टर साहब का अत्यन्त कृतज्ञ

हूँ मैं तपेदिक के रोगियों से प्रार्थना करता हूं कि यज्ञ-चिकित्सा से लाभ उठावें।

३.—पं० वासुदेव शर्मा ओवर सियर, हैड वर्क्स शारदा कैनाल, बनबसा ज़िला नैनीताल ता० २२-५-४२ :—

मेरा स्वास्थ्य अब बिलकुल ठीक हो गया है। मैं तो यही कहूंगा कि आपने मुझे पुनः नवजीवन दिया है। मैं लगभग सवा साल से जीर्ण ज्वर का बीमार चला आता था, सब प्रकार के इलाज कराने के पश्चात जीवन से निराश हो चुका था, आपके इलाज से अब मैं पूर्णतया स्वस्थ हूँ। मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रगट करता हुआ आपको इस नवीन वैदिक-चिकित्सा शैली के लिये बधाई देता हूं।

४—मुहम्मद शफीक मुहल्ला जसौली, बरेली ता० ७-४-४१ को लिखते हैं :—

मेरी बीबी तपेदिक़ से बीमार थी। उसका एलोपैथिक इलाज कई मशहूर डाक्टरों का और यूनानी इलाज भी किया गया लेकिन कोई फ़ायदा नहीं हुआ। आखिरकार ऐसी हालत में जब बहुत दस्त आने लगे थे और मुंह पर व पैरों पर वर्म हो गया था मैं जनाब डाक्टर कुन्दनलाल साहब की खिदमत में आया और इलाज से फायदा हुआ, वह अब अच्छी तरह हैं मैं, डाक्टर साहब का निहायत मशकूर हूं।

5—Mr. Raj Bahadur Varma T. S. office, Barelly writes on 1st June 42, I wish to tender my best thanks to you for the meraculous benefits, I have noticed of your "Yagya- Chikitsa" let me hasten to congratulate you for this wonderful invention (a new method of treating consumption) which seems to be a devine charm.

.........It is a case of 1937 when my father was attacked by T. B. and according to general advice

He was taken to Mussoorie, Ranikhet, Bhowali & lastly to Almora & was kept under the best Allopathic treatment but regret to note that inspite of spending thousands & all efforts, he could not recoup & breathed his last in October, 1940. Second case in my house was of my wife. She was suffering from fever & severe cough (with cavity in right lung) ie. consumption which I expected would prove fatal. Her condition was really reducing inspits of all nourishment etc. One of my relations told me of you & I knocked at your door. I must now confess that after my wife took your treatment only for a few days the sickness with all its cough etc had wonderfully vainshed & she is now her own dearself once more. The surprise was that the cough which troubled her so very much & gave her many sleep less nights has all together disappeared like anything. I have much pleasure in testifying that by the grace of God & by your "Yagya Chikitsa" my wife is once again enjoying her normal health &c &c.

६.—दैनिक पत्र जयहिन्द जबलपुर से उद्धृत।

क्षय (तपेदिक) रोगी की कथा

मैं एक सालसे बीमार था कई इलाज कराने के बाद भूपाल के सरकारी अस्पताल में दाखिल हुआ वहां कुछ दिन चिकित्सा कराने के बाद कहा कि तुमको तपेदिक इस अवस्था मेंहो गया है कि यहां अच्छे नहीं हो सकते। तब मैं जबलपुर आया और विक्टोरिया हास्पिटल तथा डाक्टर [illegible] सा. का इलाज किया। तपेदिक यहां भी बताया पर इलाज से लाभ कुछ न हुआ।

अन्त को क्षय-विशेषज्ञ श्री डा० कुन्दनलालजी (जो टी० बी० सेनीटोरियम के अध्यक्ष हैं तथा मदनमहल स्टेशन के समीप गुलाबबाग पोस्ट गढ़ा जबलपुर में रहते हैं) के पास इस अवस्था में आया कि चल नहीं सकता था। डाक्टर साहब के इलाज से अब मैं तीन माह में बिलकुल अच्छा होकर घर जा रहा हूं अब मैं रोज ३ मील भ्रमण को जाता हूँ।

द: प्रेमनारायण श्रीवास्तव
पासवाड़ा, जिला हुशंगाबाद (सी० पी०)

पाठ ४

यज्ञ-चिकित्सा के सहायक साधन

आजकल शैली ऐसी चल गई है कि चिकित्सा के किसी अंग का जिसका अधिक प्रचार न हो किसी को ज्ञान हुआ तो वह उसका आविष्कारक बनकर उस अंग को चिकित्सा का सर्वांग कहकर अन्य सब चिकित्सा विधियों का खंडन करने लगा और उसके अनुयायी उसी एक हथियार के बलपर सब संसार को परास्त करने के स्वप्न देखने लगते हैं। जैसे जल-चिकित्सा वाले केवल जल-चिकित्सा सब रोगों में बताकर औषधि चिकित्सा इत्यादि का खंडन करते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा वाले सब औषधियों को प्रकृतिकी देन न समझ औषधि के शत्रु होते हैं। सूर्य-चिकित्सा वाले केवल सूर्य चिकित्सा से संसार के सारे ताप मिटाना चाहते हैं। ऐलोपैथिक वाले सब रोगों में विषैली औषधियों और चीरफाड़ पर विश्वास रखकर उपरोक्त सर्व चिकित्सा विधियों की खिल्ली उड़ाते हैं। हमारी सम्मति में ऐसा करना उचित नहीं है वास्तव में वेद में इन सब चिकित्सा विधियों का वर्णन है और यह अपने अपने स्थान पर उस सीमा तक सब ही उपयोगी हैं जहां तक यह वेद के

अनुसार कार्य करती हैं। वेद विरुद्ध जो मनुष्य कृत अज्ञान की बातें इनमें सम्मलित कर ली गई हैं उनसे ही मनुष्यों को हानि पहुँचती है। फिर भी अपने अपने स्थान पर वह सभी उपयोगी हैं इसलिये हम सबका मान करते हैं पर हमारे अनुभव में (वेद अनुयायी होनेके कारण) क्षय-रोगमें केवल यज्ञ-चिकित्सा ही उपयोगी सिद्ध हुई है अतः उसे हम क्षय-रोग की अचूक चिकित्सा कहते हैं। साथ ही यह भी भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि केवल अग्नि में सामग्री जलाने का नाम यज्ञ-चिकित्सा नहीं है। किन्तु अन्य साधन जैसे वस्ती कर्म,स्नान, प्राकृतिक भोजन, धूप, प्रकाश, वायु इत्यादि जितने आवश्यक अंग हैं उन सबको मिला कर ही सब के समूह का नाम यज्ञ-चिकित्सा है। जिस प्रकार पुत्रेष्टि-यज्ञ में रज वीर्य की शुद्धि करने के साथ ही यज्ञ कराने से सुन्दर सन्तानका जन्म होता है उसी प्रकार क्षय-रोग में शरीर की शुद्धि करके और रस रक्त वाहनी नसों के स्रोत खोलकर तथा नाड़ी संस्थान को बलवती बनाकर जीवन शक्ति उत्पन्न करके ही हम यज्ञ द्वारा रोग कृमियों का विनाश करके आरोग्य हो सकते हैं। यदि हम इन सब साधनों की अवहेलना करें और केवल यज्ञ करते रहें तो सफल नहीं हो सकते और सब साधन काम में लावें और यज्ञ न करें तब भी सफल न होवेंगे अतः सब साधन काम में लाना चाहिये। किस रोगी के लिये किस समय कौन २ से साधनों की कितने अंश में आवश्यकता है, इसे ऐसा चिकित्सक तो जिसने यज्ञ-चिकित्सा का अनुभव प्राप्त किया है बता ही सकेगा। पर इस पुस्तक को ध्यान पूर्वक पढ़ने से समझदार रोगी अथवा उसके घर का कोई और व्यक्ति भी चिकित्सा करा सकेगा। इस काम के लिये पुस्तक को कई बार पढ़ना आवश्यक है। कुछ लोग भ्रमवश यह कह दिया करते हैं कि वास्तव में रोगी अन्य साधनों से आरोग्य हुआ

उनसे हमारा यही उत्तर है कि यदि आप किसी अन्य साधन से क्षय-रोगी अच्छा कर सकते हैं तो अच्छा है पर केवल कहने से काम न चलेगा जरा करके दिखा दीजिये, अन्यथा जो हम करके दिखाते हैं उसे चुपचाप मान लीजिये। हमारा अनुभव यह है कि अन्य साधनों में से किसी एक के द्वारा सम्भव है एक दो रोगी अच्छे हो जावें पर उनका अनुताप वह कदापि नहीं हो सकता जो यज्ञ-चिकित्सा का होता है। वैसे उन साधनों को उपयोगी तो हम स्वयं ही मानते हैं तब ही तो उपयोग में लाते हैं। यज्ञ-चिकित्सा के साथ जो अन्य साधन उपयोग में आते हैं उन पर कुछ प्रकाश डालने के पश्चात चिकित्सा विधि लिखी जावेगी।

पाठ ५

वैदिक जल-चिकित्सा

परीक्षण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि यज्ञ-चिकित्सा जिस शीघ्रता से क्षय-रोग के कीटाणुओं का नाश करती है उससे अधिक कोई अन्य चिकित्सा नहीं कर सकती। मृत कृमियों के शव रक्त शुद्धि तथा मल मूत्र के साथ शरीर से बाहर निकल जाते हैं। हवन गैस जब रक्त में पहुँचती है तो हजारों कृमियों को अनेकों स्थान पर मारती है और उनके शव उस समय तक शरीर में ही रहते हैं जब तक वह मल के भंडार कोलन में न पहुँच जावें अतः यदि कोई उपाय ऐसा हो कि हम इन कृमि शवों को बड़ी शीघ्रता से कोलन में पहुँचाकर शरीर से बाहर निकाल सकें तो आरोग्यता और भी शीघ्र प्राप्त करने में सुगमता होगी। इस काम के लिये जल-चिकित्सा के स्नान तथा वस्ति कर्म दोनों बहुत उपयोगी हैं। क्योंकि जल-चिकित्सा की आधार शिला ही इस सिद्धान्त पर रक्खी गई है कि हमारे सारे

शरीर का मल कोलन (बड़ी आंत) में शीघ्रता से एकत्रित होकर पुरीश द्वारा बाहर निकल आता है। अतः क्षय-रोग की चिकित्सा में यज्ञ-चिकित्सा के कार्य में सहायता पहुँचाने के विचार से हम यह काम जल-चिकित्सा से ले सकते हैं पर जल-चिकित्सा का नाम आते ही लोग मिस्टर लोई कोहनी के टपबाथ से मतलब समझ लेते हैं क्योंकि अज्ञानी लोगों का तो कहना ही क्या बहुत से आयुर्वेदाचार्य भी जल-चिकित्सा के नामसे यही मतलब समझते हैं और उसे विदेशी इलाजका स्थान देते हैं। अतः हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जल-चिकित्सा से हमारा अभिप्राय केवल मिस्टर लोई कोहनी की जल-चिकित्सा से नहीं किन्तु वेद में वर्णित जल-चिकित्सा से है। हम तो क्षय-रोगी को ऐसे जल-चिकित्सक से जो अपने आपको लोई कोहनी का अनुयायी मानते हैं परामर्श लेना भी उचित नहीं समझते। इससे आप यह न समझें कि हम मिस्टर लोई कोहनी के शत्रु हैं अथवा उनसे ईर्षा द्वेष रखते हैं ऐसा कदापि नहीं है। किन्तु हमारे हृदय में उनके लिये बड़ा संमान है और हम उनके इस विषय में कृतज्ञ हैं कि उन्होंने ऐसे समय में, जब कि हमारे यहां के वैद्य महानुभावों ने वेद शास्त्रों में बताई जल-चिकित्सा को इस सीमा तक भुला दिया था कि अब इसका इतना प्रचार हो जाने पर भी उसे विदेशी चीज़ ही समझते हैं। जल-चिकित्सा का प्रचार करके बड़े उपकार और जनहित का कार्य किया है, पर हमें क्षमा किया जावे कि हम इस सत्य को प्रगट करने से नहीं रुक सकते कि वेद का पूर्ण ज्ञान न रखने के कारण समस्त रोगों में हर समय केवल जल-चिकित्सा का ही उपयोग बताकर और सब अन्य चिकित्सा विधियों को निरर्थक बताकर तथा अन्य कई बातों में अपनी भूल से जनता को हानि भी पहुँचाई है। उदाहरण रूप मिस्टर लोई कोहनी ने प्रकृति की शरण लेते हुए मांस भक्षण का बड़े ज़ोर से निषेध किया है

और प्राकृतिक भोजन को ही उपयोगी बताया है। पर अपनी भूल से अंडे को भोज्य पदार्थ माना है और उसके सेवन का परामर्श दिया है। क्या वास्तव में प्रकृति हमें अंडा खाने की आज्ञा देती है और क्या हम उसे पहिली बार अन्य प्राकृतिक भोजन आम, संतरा की भांति निसंकोच भाव से खा सकते और पचा सकते हैं। यदि नहीं तो अंडा प्राकृतिक भोजन कैसे हो सकता है। इसी प्रकार उन्होंने अपनी चिकित्सा विधि में हर रोग में भोजन एकसा ही नियत किया है और मांस जैसे हानिकारक पदार्थ के साथ साथ घी, मलाई और मक्खन जैसे उत्तम और पौष्टिक पदार्थों का भी हर अवस्था में निषेध किया है। पर क्षय-रोग चिकित्सा के सब ही विशेषज्ञ जानते हैं कि क्षय-रोगी के लिये इन वस्तुओं का सेवन कितना उपयोगी है। फिर लोई कोहनी साहब हर स्थान पर हर औषधि का निषेध करते हैं तो क्या तुलसी, सोमलता, शतावर और गूगल इत्यादि अमृत सदृश औषधियां प्राकृतिक नहीं हैं और यह भगवान् ने व्यर्थ ही उत्पन्न की हैं। हमारा एक बाहर का क्षय-रोगी हमारी चिकित्सा में जऊ चिकित्सा भी कर रहा था और उन्नति कर रहा था। दुर्भाग्य से वहां एक लोई कोहनी के अनुयायी जल-चिकित्सक पहुंच गए और विज्ञापन द्वारा अच्छी ख्याती प्राप्त करली। रोगी के एक सम्बन्धीने स्नान (बाथ) करते देख उनसे भी परामर्श के लिये आग्रह किया जो किया गया। उन्होंने अपनी शिक्षा के अनुसार हमारे बताये भोजन में परिवर्तन कर के रोगी को कच्ची सब्जी तीन दिन ही खिलाई थी कि रोगी का रोग बहुत ही उग्र रूप धारण कर गया तब तार देकर हमें बुलाया गया पर हानि इतनी पहुंच चुकी थी कि हमने भी चिकित्सा करने से इनकार कर दिया और उस रोगी को उनके अज्ञान वश जान देना पड़ी। अतः हमारा कहना यह है कि आप जल-चिकित्सा के नाम से भ्रम में न पड़ जावें हम यज्ञ-चिकित्सा

के साथ जिस जल-चिकित्सा का परामर्श दे रहे हैं उससे हमारा मतलब वेद में बताई जल-चिकित्सा से है। जिसके कुछ उदाहरण हम यहां लिखते हैं ताकि पाठकों को यह भ्रम न रहे कि जल-चिकित्सा केवल लोई कोह्नी साहब ने ईजाद की है इससे पूर्व इसका प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन नहीं है। वेद में अनेकों मंत्र इस सम्बन्ध में हैं कुछ यहां देते हैं :—

१—अप्स्व १न्तरमृतमप्सु भेषजम्।

अपामुत प्रशस्ति भिरश्वा भवथ वाजिनी गावो भवथ वाजिनी:

अथर्व का १ सू० ४ मं० ४

अर्थ—जल के बीच में रोग निवारक अमृत रस है और जल में भय जीतने वाली ओषधि है इत्यादि

२—आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन महे रणाय चक्ष से सू० ५ मं १

अर्थ— हे जलो निश्चय कर के तुम सुखकारक होते हो सो तुम हमको पराक्रम व अन्न के लिये बड़े बड़े संग्राम व रमण के लिये और दर्शन के लिये पुष्ट करो।

नोट— वेद के इस विज्ञान के आधार पर हमने काले मोतियाबिन्दु के रोगियों को जिनको आंख के विशेषज्ञ आपरेशन से भी सफलता की आशा न दिलाते थे जल-चिकित्सा से आरोग्य किया। एक स्त्री तो ७५ वर्ष की आयु होने पर मरी और बराबर देखती रही जबकि २० वर्ष पूर्व मोतियाबिन्दु हो चुका था।

३—अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्त विश्वानि भेषजा।

अग्निं च विश्वशंभुवम। सूक० ६ मं० २।

अर्थ—बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने मुझे व्यापन शील जलों में सब औषधियों को संसार के सुखदायक, अग्नि (बिजली व पाचन शक्ति) को बताया है।

नोट—इस आधार पर जल-चिकित्सा से मंदाग्नि तथा संग्रहणी के कठिन रोगी जीवनदान पा चुके हैं।

वेद में विशेष रोगों पर जल-चिकित्सा की विधि भी वर्णन की गई है जिससे ज्ञात होता है कि टब बाथ पर ही जल-चिकित्सा समाप्त नहीं हो जाती जैसे :—

(१) हृदय रोग पर जल-चिकित्सा ।

२—हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समत संगमः ।
आपो हमह्यं वद् देवी दर्दन ह्योत भेषजम् ॥

अर्थ—हिम वाले पर्वतों से जो जलधाराएं बहकर आती हैं। उनका बहने वाले बड़े प्रवाहों में एक ही साथ मेल हो जाता है तब दिव्य गुणों से युक्त व जल मुझे हृदय की पीड़ा के रोग को अच्छा करने का लाभ देते हैं ।

नोट—यह चिकित्सा टब में बैठकर नहीं किन्तु बहती नदी गंगा और यमना के संगम पर बैठकर होती है और तत्काल प्रभाव दिखाती है ।

(२) उन्माद (हिस्टेरिया) रोग पर जल-चिकित्सा ।

पुनस्त्वा दुरप्सुरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।
पुनस्त्वा दविश्वे देवा मथानुन्मदितो ससि ॥
अर्थ का ६ सू० १११ मं० ४

अर्थ—जलधाराएं तुझे बार बार चेतना प्रदान करें । इन्द्रवायु चेतना प्रदान करें, पुष्टिकारक अन्न तुझे चेतना प्रदान करें। सब देव इन्द्रियगण या विद्वान् लोग तुझे चेतना प्रदान करें। जिससे तू उन्माद रहित हो जावे । अर्थात जलचिकित्सा के साथ इन साधनों का भी उपयोग करना चाहिये।

(३) क्षय के प्रारम्भ में जल-चिकित्सा ।

यन्मे अक्ष्योरादि द्योत पार्ष्ण्योः अपदोश्चपत ।
आपस्तत सर्वं निष्करन भिषजां सुभिष क्तमाः ॥
अर्थ का ६ सु २४ मं. २

अर्थ—जो रोग मेरे आंखों, एड़ियों और पैरों के अगले हिस्सों में जलन पैदा करता है उस सब रोग को जलधाराएं दूर

कर देती हैं, क्योंकि वे ही सब औषधियों में उत्तम रोग की चिकित्सा करने वाली हैं।

नोट—जो लक्षण ऊपर लिखे हैं वह क्षय के अनेक रोगियों में आरम्भ में और कभी २ रोग के सम्प्राप्त अवस्था में भी होते हैं।

उपरोक्त प्रमाणों की विद्यमानता में कौन न्याय प्रिय कह सकता है कि जल-चिकित्सा लांई कोहनी से पूर्व हमारे यहां न थी।

यक्ष्म-चिकित्सा का वर्णन तो अभी आगे होगा पर उसके साथ जो जल-चिकित्सा की जाती है उसका वर्णन हम प्रसंग वश यहां ही करते हैं, यद्यपि यह विषय बहुत गंभीर है और सबसे बड़ी कठिनता यह है कि क्षय का हर रोगी अपने कुछ विशेष लक्षण रखता है। जिसके अनुसार विशेष चिकित्सा ही करना पड़ती है। फिर भी साधारणतः कुछ बातें यहां लिखी जाती हैं। जिस समय तक क्षय-रोग का निश्चय न हो केवल संदेह मात्र हो अथवा प्रारम्भिक अवस्था हो। अर्थात् पहिला दर्जा हो जिसके लक्षण कुछ न्यूनाधिक प्रायः इस प्रकार के होते हैं:—रोगी कुछ उदास सा रहता है, थोड़ी २ सूखी खांसी आती है अर्थात् खांसी का केवल ठसका सा आता है। विशेषतया सोने जागने व प्रातःकाल के समय और भोजन करते समय व पश्चात् छाती में हंसली की हड्डी के ऊपर नीचे दर्द होता है जिसकी टीसें कन्धों और पीठ तक जाती हैं और यदि प्लूरिसी भी हो तो दर्द तेज होता है। खांसते समय भी दर्द तेज होता है और कभी कभी भोजन करने के पश्चात् खांसी आने पर वमन भी हो जाता है। किसी रोगी को बदहज्मी का रोग भी रहता है। किसी के हथेली व तलवे जलते हैं किसी की आंखों में अग्नि प्रतीत होती है किसी को नाक में खुश्की अनुभव होती है। घृत और अन्य चिकने पदार्थों से रोगी को अरुचि हो जाती है। हृदय तथा नाड़ी का स्पन्दन बढ़ जाता

है अर्थात् दिल धड़कने लगता है और नाड़ी की गति कुछ तीव्र हो जाती है। खांसी भी कुछ तीव्र होने लगती है। श्वांस लेने में कुछ कष्ट अनुभव होता है। थोड़े से परिश्रम से श्वांस फूल जाती है। रोगी दिन प्रति दिन निर्बल होता जाता है। सायं-काल के समय कुछ तबियत गिरने लगे अथवा ज्वर का अनुभव हो। ऐसे सब रोगियों को यज्ञ-चिकित्सा के साथ प्रातः सुर्योदय से पूर्व उठकर एक गिलास पानी पीकर नंगे पैर गंगा स्नान को जाना चाहिये। यदि गंगा स्नान संभव न हो तो किसी अन्य पहाड़ी नदी के स्नान को जावें। जल में धार की ओर मुंह कर बैठना चाहिये और धार को छाती पर लेना चाहिए जिन लोगों को पाचन विकार भी हो उनको कुछ समय तक नाभी तक पानी में बैठकर कपड़े से पेंडू को दस पन्द्रह से लेकर ३० मिनट तक मलना चाहिये। धार जितनी तीव्र होगी प्रभाव उतना ही शीघ्र होगा। हृषीकेश में गंगा की जैसी धार तीव्र है ऐसी धार में बहुत शीघ्र प्रभाव होता है।

२—जिस रोगी को प्रमेह के पश्चात् अथवा अधिक स्त्री प्रसंग से क्षयी-रोग हुआ हो उसे यज्ञ-चिकित्सा के साथ प्रातः और सायंकाल दस दस मिनट तक अपने लिंग पर ठंडे पानी की धारा ऊंचे स्थान से डालना चाहिये। धार डालने के लिये टोंटीदार बर्तन (गडुवा) वस्ती यंत्र अथवा वाटर वर्क्स का नल हो सकता है कुछ न मिले तो लोटे से भी काम लिया जा सकता है। इसके साथ साथ स्नान नं० १ भी करना चाहिये।

३—यदि स्त्री को प्रदर रोग के पश्चात् क्षय-रोग हुआ हो और अब भी प्रदर का दोष विद्यमान हो तो दो सेर पानी में १ माशे फिटकरी घोलकर उस पानी से डूश करना (योनिधोना) चाहिये। पानी ताज़ा हो अथवा कुछ गर्म हो बहुत ठंडा न हो। वस्ती यंत्र से जिसका वर्णन आगे आवेगा डूश भी किया जा सकता है। स्नान नं० १ इसके साथ भी किया जाता है।

४—जिन लोगों को उपदंश, सुजाक, खुजली, किसी फोड़े का आपरेशन इत्यादि होने के पश्चात् क्षय हुआ हो तो उनको बन्द करने से पूर्व प्रातः सायंकाल टब बाथ लेना चाहिये। जो रोगी नदी स्नान का प्रबन्ध नहीं कर सकते वह भी उसके स्थान में टब बांथ करके कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं। टब बाथ लेने की विधि यह है:—

बाथ लेनेका टब बाज़ार से खरीदना चाहिए एक बड़ा कम्बल, एक मुलायम अंगोछा एक तौलिया,एक कुर्सी और एक छोटी चौकी पैर रखने को कमरे के अन्दर जमा करें। कूप का ताज़ा जल अथवा घड़े का ठंडा पानी टब में इतना भरा जावे कि टब से बाहर पैर लटकाकर बैठने पर पानी नाभि तक आ जावे। बंद कमरे में जिसमें ऊपर वायु आने की खिड़की व रोशनदान हो रोगी को बिलकुल नंगा होकर टब में बैठना है पैर बाहर छोटी चौकी पर रहेंगे चौकी न हो तो २ बड़ी ईंटें रख सकते हैं। टब के एक ओर नीचे पृथ्वी पर चौकी रखें और दूसरी ओर कुर्सी डाल दें। अब रोगी नंगा होकर चौकी पर खड़ा होकर पानी में बैठ जावे और पैर चौकी पर ही रहें। कम्बल का एक सिरा पैरों से दबाकर दूसरा सिरा सिर के ऊपर से कुर्सी पर डाल दें। कम्बल चौड़ाई में टब के इधर उधर लटकता रहे। पानी में बैठते ही सीधे हाथ में मुलायम कपड़े का अंगोछा लेकर पानी के भीतर पेडू को नीचे से ऊपर की ओर गोलाई में धीरे २ मगर जल्दी २ मलें। मलना न तो इतना धीरे ही हो कि कुछ प्रभाव न मालूम हो और न इतना ज़ोर से हो कि कष्ट प्रतीत होने लगे। बहुत निर्बल रोगियों में ५ मिनट से प्रारम्भ करें और साधारण रोगियों को १० मिनिट से प्रारम्भ करके आध घंटे तक का समय धीरे २ बढ़ाना चाहिये। समय पूरा होने पर कम्बल ऊपर से हटाकर सूखे तौलिये से भीगे शरीर को पोंछकर कपड़े पहिनकर कम्बल ओढ़ लेना चाहिये और निर्बल रोगियों को तो शरीर में गर्मी० लाने की ओढ़कर लेट जाना

चाहिये, पर जो बहुत निर्बल न हों उनको टहलकर शरीर में गर्मी लाना चाहिये, यदि पसीना आ जावे तो अच्छा है अन्यथा पानी से भीगा स्थान गर्म अवश्य हो जावे। जिन रोगियों को शीघ्र गर्मी न आती हो उनके पेडू पर फलालैन अथवा किसी और गर्म कपड़े की पट्टी बांध दें। यह लोई कोहिनी महाशय का फ्रिकशन हिप बाथ है। जिसे हम अपनी भाषा में कटि स्नान या पेडु स्नान कहते हैं। किसी किसी निर्बल रोगी के पैर ठंडे रहते हैं। इनके लिये गरम मोजे पहन कर या पैर पर गरम कपड़े लपेट कर यह स्नान करना चाहिये। पानी खूब ठंडा होना आवश्यक है। अगर पानी ठंडा नहीं है तो उससे लाभ न होगा हां निर्बल रोगियों को अभ्यास डालने को प्रारम्भ में कम ठंडा पानी ले सकते हैं। जाड़ों में कमरे में टब के पास अंगीठी रख सकते हैं पर पानी ठंडा ही लेना चाहिये बरफ से ठंडा करने की आवश्यकता नहीं घड़े का या ताजा कुंए का पानी ठंडा लेना ठीक है। कटि स्नान के दो घन्टे बाद साधारण स्नान किया जा सकता है और कटि स्नान के एक घंटे पश्चात् भोजन किया जा सकता है। साधारणतः प्रातः सांय दो बार कटि स्नान करना ठीक होगा। बढ़े हुए ज्वर के समय इस स्नान के करने से ज्वर दो तीन डिग्री तुरन्त घट जाता है। चढ़े ज्वर में ठंडे पानी में बैठने से डरने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि कुछ लोग डरेंगे हजारों रोगी बैठकर लाभ प्राप्त कर चुके हैं। बिना कम्बल ओढ़े भी यह स्नान हो सकता है चित्र देखें।

कटि स्नान से कमर के पास का नाड़ी जाल, जो शरीर को ठीक दशा में रखता है जाग उठता है और पेडू के भीतर के आवश्यक कल-पुर्जे ठीक होते हैं। पेडू के भीतर छोटी आंत और बड़ी आंत है। छोटी आंत पचे भोजन से रस खींचती है और बड़ी आंत भोजन के बचे बेकार चीजों अर्थात मल को बाहर निकालती है। इन दोनों का काम ठीक होना चाहिये।

रोगी कटि-स्नान (हिप-बाथ) कर रहा है।
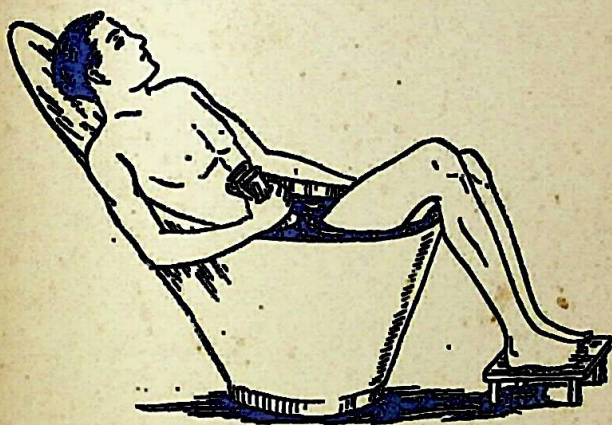
विशेषतया यदि बड़ी आंत से शरीर के भीतर का विकार बाहर न निकल जाय तो अनेकों रोग उत्पन्न होते हैं। क्षय-रोग में इस प्रकार के विकार न्यूनाधिक अवश्य मिलते हैं जैसा कि इससे पूर्व बताया जा चुका है। मूत्र निकालने वाले कल-पुर्जों का भी पेंडू से सम्बन्ध है। अप्राकृतिक खान पान से मल-मूत्र ठीक ठीक नहीं निकलता। जिससे पेंडू के भीतर विकार और गर्मी जमा रहती है। फिर यहीं से विकार दूसरे दूसरे रूपों में फैलकर अनेकों रोग उत्पन्न करते हैं। क्षय-रोग के कीटाणुओं का पालन पोषण भी इन विकारों के आधीन है। यदि इन विकारों की सहायता उनको न मिले तो वह अधिक समय तक शरीर में नहीं ठैर सकते। कटि स्नान से पेंडू की वह गर्मी ठीक होती है जो इन विकारों के कारण वहां होती है। उस गर्मी के शांत होने से सब स्थानों पर फैलने वाले विकार रुक जाते हैं। और जो विकार अन्य स्थानों पर फैल चुके हैं वह भी खिचकर पेंडू में आ जाते हैं पर यह सब कुछ एक दिन में नहीं हो जाता धीरे धीरे ही महीनों में शांत होता है इसलिये दृढ़ता पूर्वक कार्य करते रहने की आवश्यकता है। एक लाभ और है कि कमर के पास नाड़ियों के गुच्छे रहते हैं वे सब सजीव हो जाते हैं और इसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। क्षयी-रोग में कभी २ यह स्नान ६ मास व इससे अधिक करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में हर १½ मास के पश्चात् एक सप्ताह व चार पांच दिन को बन्द करके फिर जारी करना चाहिये ताकि नये सिरे से नाड़ियों को उत्तेजना और बल प्राप्त हो। पाचन सम्बन्धी विकारों को इस स्नान से विशेष लाभ होता है और रक्त भी शुद्ध होता है। पर हमारे शरीर में कोई भी रोग होने के कारण (किसी चोट के अतिरिक्त) तीन होते हैं अर्थात पाचन विकार, रक्त विकार तथा स्नायु विकार इनमें दो को तो यह स्नान पूरा लाभ पहुँचाता है। स्नायु विकारों को भी लाभ करता है पर स्नायु

विकारों को इससे अधिक लाभ पहुँचाने वाला एक और स्नान है। जिसे उपस्थ स्नान कहते हैं उसकी एक विधि तो नं० २ में बताई है वह सरल और लाभदायक है पर आजकल के जल-चिकित्सा वाले अधिकतया उसके स्थान में मिस्टर लोई कोहनी का फ्रिक्शन सिट्ज बाथ (Frection setz bath) काम में लाते हैं हमारे अनुभव में भी किन्ही रोगियों को तो हमारे बताये उपस्थ स्नान से अधिक लाभ होता है और किन्हीं को फ्रिक्शन सिट्ज बाथ से। अतः उसका तरीका भी यहां लिखते हैं ताकि रोगी दोनों में से अपनी सुविधा और प्रकृति के अनुसार चुन सकें।

५—टब में खुब ठंडा पानी भर कर एक तिपाई रखदें। पानी इतना हो कि तिपाई पर चारों ओर से टकराता रहे किन्तु बैठने का स्थान गीला न हो। रोगी पैरों को टप के बाहर निकाल कर उसी तिपाई पर बैठ जाय और एक मोटे या मुलायम कपड़े को पानी में भिगोकर लगातार जननेन्द्रिय (लिंग अथवा योनि) के अगले बाहरी भाग को धोवे।

यदि नहाने वाली स्त्री है तो कपड़े से एक बार जितना पानी उठाया जा सके उतना उठाना चाहिये और ऊपर से नीचे लगातार धोना चाहिये। जननेन्द्रिय को बहुत ज़ोर से रगड़ना न चाहिये। एक दम नंगा होकर नहाना चाहिये। टांग पैर और शरीर का ऊपरी हिस्सा सुखा रहे। यदि चूतड़ पानी से भीग जांय तो कोई हर्ज नहीं। मासिक धर्म के समय यह या और कोई स्नान बन्द रखना चाहिये यदि चार पांच दिन से अधिक मासिक धर्म रहे तो छठे दिन से स्नान आरम्भ कर सकते हैं क्योंकि यह एक रोग हुआ। पर ऐसी अवस्था में पहिले दिन बहुत ठंडा पानी न होना चाहिये। यह स्नान १० मिनट से आरम्भ करके एक घंटा तक बढ़ाया जा सकता है। जाड़ों में कमरे को गरम रखना चाहिये। टब इतना बड़ा आवश्यक हो कि एक स्टूल रखा जा सके और उसमें लगभग २० सेर पानी

आ जाय। यदि टब छोटा होगा तो पानी शीघ्र गरम हो जावेगा और इस बाथ का लाभ उतना ही अधिक है जितना अधिक ठंडा पानी है।

पुरुषों को चाहिये कि वह अपने लिंग की अगली खाल को बांये हाथ से आगे को खींचकर लिंग का अगला भाग पानी में रखें और सीधे हाथ से कपड़े से उसी खाल को रगड़ रगड़ कर धोवें।

मुसलमान लोग इस प्राकृतिक चमड़े को खतने में काट देते हैं। उनको इस तरह बैठना चाहिये कि वे उस हिस्से को कपड़े से रगड़ सकें जो अंडकोष और पाखाने के रास्ते के बीच है।

जो रोगी भीतर की सूजन से बीमार हैं या जिनके भीतरी अंगों में पुराने रोग के कारण विकार आ गया है उनकी भीतरी सूजन कुछ नहान के बाद ही नीचे खिंचकर जननेन्द्रिय के दोनों ओर आ जाती है। इससे घबड़ाना न चाहिये। नहान को जारी रखना चाहिये और सूजन के स्थान पर दिन में तीन बार दस-दस मिनिट को भाप देना चाहिये।

प्रश्न हो सकता है इस नहान के लिये जननेन्द्रिय का ही चमड़ा क्यों चुना गया। बात यह है कि इस स्नान से सारे स्नायु मंडल पर प्रभाव डालकर उसकी रोग निवारक शक्ति को जगाना है और शरीर के किसी भी हिस्से में विशेष विशेष नाड़ियों के इतने सिरे नहीं हैं, जितने जननेन्द्रिय के इस हिस्से में हैं। इसको धोने से सारे शरीर पर उसका प्रभाव पड़ता है। जननेन्द्रिय को धोने से भीतर बढ़ी हुई गर्मी केवल कम ही नहीं हो जाती किंतु नाड़ी संस्थान में भी नवजीवन आ जाता है। इससे शरीर के सभी हिस्सों में जीवन शक्ति पहुँचती है।

जो रोगी बहुत निर्बले हैं और बैठकर स्नान करने में

असमर्थ हैं उनके लिये यही उत्तम है कि लेटे २ वस्ती यंत्र से खूब ठंडे पानी की धार जननेन्द्रिय पर छोड़ें और पलंग के नीचे कोई वर्तन रख लें जिसमें पानी गिरता जावे। स्त्री पुरुष दोनों ऐसा कर सकते हैं। इस बात का ध्यान रहे कि पैर तथा शरीर का और कोई भाग पानी से न भीगे और बाथ लेने के पश्चात् शरीर को गरम रक्खा जावे।

६— आंतों की क्षय में एक और स्नान लाभदायक है जिसे गरम और ठंडा बैठक नहान कहते हैं उसकी विधि इस प्रकार है-

दो टब ले एक में गरम और दूसरे में ठंडा पानी उसी प्रकार और उतना ही जिसमें रोगी के नाभि के ऊपर तक रहे भर दें। ठंडा पानी ५० डिग्री फर्नहाइट का हो और गरम पानी इतना गरम हो कि बैठने में कष्ट न हो १०० डिग्री के पानी को रोगी सह सके तो अच्छा है। अब रोगी नंगा होकर बिना कम्बल के पहले गरम पानी के टब में ३ मिनिट तक बैठे कपड़े से न मले फिर उसमें से निकलकर तुरन्त ठंडे पानी में १ मिनिट बैठे। इसी प्रकार तीन २ वार दोनों टबों में बैठे। अंत को ठंडे पानी से उठकर कम्बल ओढ़कर लेट जावे। गुर्दे और मूत्र के रोगों में भी यह स्नान उपयोगी है जिस क्षय-रोगी के पेट में दर्द रहता हो उसे अवश्य बैठना चाहिये।

जो रोगी अधिक निर्बल हैं और टब में बैठने में असमर्थ हैं उनके लिये निम्नलिखित जल की पट्टी अथवा जल और पृथ्वी (मिट्टी) की पट्टी से काम लेना चाहिये। जिनकी विधियां और लाभ साथ साथ लिखे जाते हैं।

७— एक साफ कपड़े को खूब ठंडे पानी में अर्थात् ४० ॥ ४५ डिग्री के पानी में भिगो कर इतना निचोड़ दे कि पानी बहुत टपकता न रहे पर कपड़ा खूब भीगा रहे। अब उस कपड़े की कई तह कर के गद्दी सी बना लें और पेडू पर नाभि के नीचे

रख दें। ऊपर से एक और गर्म सूखा कपड़ा फलालैन इत्यादि डालकर कस दें। रोगी चित्त लेटा रहे थक जावे तो करवट भी बदल सकता है। जब वह पट्टी गरम हो जावे अथवा लगभग १ घंटा पश्चात् पट्टी हटा दें और पेडू को दूसरे भीगे कपड़े से पोंछ दवें और रोगी को थोड़ी देर कम्बल उढ़ाकर लिटा देवें। यह पट्टी बुखार के समय बांधने से बुखार की तेजी को रोकती है और नाड़ी संस्थान को भी उत्तेजित करती है। पेडू की गरमी को भी शांत करती है।

सारे शरीर की पट्टी—

८—चौकी अथवा खूब तनी खाट पर एक कम्बल फैलाइये। इस पर मोटी साफ़ चादर ठंडे पानी में भिगो इस प्रकार निचोड़ कर कि पानी न तो बिलकुल ही निकल जाय और न टपकता ही रहे। फैला दीजिये। उसपर एक ऐसा पतला कपड़ा ठंडे पानी में भिगो निचोड़कर फैलाइये जो रोगी के बगल से निकल कर पीठ के नीचे से होता हुआ उसके सीने और पेट को ढक ले।

अब रोगी को नंगा कर के इस पर पीठ के बल लिटा दीजिये। गर्दन से ऊपर उसका सिर बाहर निकला रहे पर शरीर का और सारा हिस्सा उन कपड़ों पर ही रहे। अब शीघ्रता से पहले छोटे कपड़े को सीने और पेट पर हाथों को बाहर छोड़ते हुए लपेट दीजिये और हाथों को आराम के साथ बगल में ही रखते हुए बड़ी चादर को पहले एक तरफ़ और फिर दूसरी तरफ़ से लाकर लपेट दीजिये। यह ध्यान में रहे कि शरीर का सारा भाग गीले कपड़े के सम्पर्क में आ जाय यदि कोई रोगी अपनी गुप्त इन्द्रियों को ढकने के लिये नंगा होते समय कोई कपड़ा पहने रहा है तो वह भी भिगो और निचोड़ कर पहने रहना नहीं। अब कम्बल को पहले एक तरफ़ और फिर दूसरी ओर से ऊपर लाकर इस तरह लपेट दीजिये कि गर्दन से पैरों तक सारा शरीर उसके अन्दर आ जाय कम्बल का जो भाग

पैरों के आगे निकला हुआ है उसे भी मोड़कर पैरों के ऊपर रख दीजिये और यदि आवश्यकता हो तो वहां पर और ऊपर भी दो तीन सेफ्टी पिन लगा दीजिये। जिससे कम्बल खुलने न पावे। गर्दन के पास भी कम्बल अच्छी तरह लपेटा रहे। नीचे के गीले कपड़ों और कम्बल को ढीला न रहना चाहिये और न इस प्रकार कसा ही रहना चाहिये कि रोगी को कष्ट हो। इस प्रकार करने से पहले तो रोगी को ठंड प्रतीत होगी। किंतु दो तीन मिनटों में ही आराम मालूम होने लगेगा और कम्बल के कारण शरीर में गर्मी फैलने लगेगी। रोगी को २० मिनिट से लेकर ३० व ४० मिनिट तक इसी अवस्था में रहने दीजिये। आशा है रोगी को पसीना आ जावेगा। पसीना न भी आवे पर गर्मी खूब लगेगी। समय हो जाने पर पट्टी खोल दीजिये। यदि रोगी पट्टी में ही सो जावे तो सोने दीजिये। नींद खुलने के पश्चात् पट्टी खोलिये। (समय अधिक हो जावे तो चिंता नहीं) पट्टी खोलने पर, शीघ्रता से रोगी को सिर से पैर तक ८० डिग्री गर्म पानी से स्नान करा दीजिये और कपड़े पहनाकर बिस्तर पर लिटाकर गरम कपड़े उढा दीजिये। यदि फिर पसीना आ जावे तो गीले कपड़े से पोंछ दीजिये और रोगी को आराम से लेटा रहने दीजिये।

इस पट्टी का प्रयोग ऐसे समय करना चाहिये जब रोगी को ज्वर बढ़ा हुआ हो १०४ व १०५ हो तब भी कोई हर्ज नहीं। इससे ज्वर कई डिग्री कम हो जावेगा। सम्भव है फिर बढ़ जावे। २ घंटा के पश्चात् फिर ऐसी पट्टी बांधी जा सकती है। कुछ रोज में स्थाई रूप से ज्वर कम करने का प्रभाव इस पट्टी से अवश्य होगा ऐसा निश्चय रक्खें।

नोट—जो रोगी पट्टी के पश्चात् स्नान से डरते हों उनके शरीर को तौलिया को भिगो और निचोड़ कर पोंछ दीजिये। तब कपड़े पहनाकर लिटा दीजिये।

देखिये ! पट्टियों से किस प्रकार लाभ होता है। पहिले तो ठंडे पानी के लगने से पास का रक्त भीतर भाग जाता है और अपने स्थान को छोड़ जाता है। पर प्रकृति किसी स्थान को रिक्त नहीं रहने देती। इस नियम के कारण दूसरे ही क्षण शरीर के भीतरी भागों से रक्त आकर त्वचा के निकट के रिक्त स्थानों को भर देता है। इससे रक्त में तेज़ी आती है। जो स्वास्थ्य की ओर ले जाने का चिन्ह है। फिर कम्बल से गर्मी पैदा होती है। जिससे लोमों के छिद्र खुल जाते हैं और भीतर के विकार बाहर आ जाते हैं जिसके लिये प्रकृति ने ज्वर चढ़ाया था। अतः इस प्रकार हम इस पट्टी को बांधकर प्रकृति के काम में सहायता पहुँचाते हैं। जैसे जैसे वह विकार निकल जाते हैं। रोग कम होता जाता है। साथ ही इस ठंड और गर्मी के संघर्ष से एक प्रकार की विद्युत उत्पन्न होती है जिससे जीवनशक्ति बढ़कर रोग का नाश करती है। यदि बहुत तेज़ बुखार हो तो एक चादर के स्थान में दो मोटी चादरें एक के ऊपर दूसरी बिछाने से और अधिक लाभ होगा।

गीली पट्टी के चार प्रभाव साधारण तौर पर होते हैं। पहला ठंडा, फिर न ठंडा न गर्म, तब गर्म और अंत में पसीना निकालने का। लगभग १५ मिनिट तक ठंडा, फिर ठंडा न गर्म, २० मिनिट के पश्चात् गर्म और २५-३० मिनिट के पश्चात् पसीना निकालने का प्रभाव प्रारम्भ होता है। १०३ डिगरी तक के ज्वर में पसीना निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। एक कम्बल से न आता हो तो दो कम्बल का प्रयोग करें। पर १०३ से अधिक ज्वर में पसीना निकालने के प्रयत्न के स्थान में केवल टेम्परेचर कम करने की ओर ध्यान देना चाहिये। यदि ज्वर १०४ डिगरी का या उससे अधिक १०५ व १०६ हो तो कम्बल लपेटने की भी आवश्यकता नहीं। १० मिनिट के पश्चात पट्टी खोलकर शरीर को पोंछ देना चाहिये। इस पट्टी को खुली हवा

में देना चाहिये कमरे में दें तो वायु आने का पूरा प्रबन्ध हो, हां स्नान या गीले तौलिये से पोंछने की क्रिया बन्द कमरे में होना चाहिये। जिन रोगियों को पसीना लाना आवश्यक है उनको पट्टी के समय गर्म पानी पिलाने से पसीना आने में सहायता मिलती है पर पानी खूब गर्म होना चाहिये। सब रोगियों को इच्छा होने पर नीबू या संतरे का रस गर्म पानी में पट्टी के समय दिया जा सकता है। जो क्षय-रोगी टब-बाथ नहीं ले सकते उनको तो इस पट्टी का प्रयोग अवश्य ही करना चाहिये। पर जो टब-बाथ लेते हैं यदि ज्वर के समय इस का प्रयोग करें और उसके पश्चात टब-बाथ करें तो कोई हर्ज नहीं है किन्तु कुछ अधिक ही लाभ होगा। पट्टी में प्रयोग में लाए वस्त्र खूब धोकर सुखाकर काम में लावें कम्बल को केवल तेज धूप में सुखा लेना पर्याप्त है।

९—रीढ़ की पट्टी तख्त पर या भूमि पर चटाई या कम्बल बिछाकर पहिले एक तकिया सिरहाने रखें। फिर इस तकिये से समकोण बनाती हुई कपड़े की एक ऐसी पट्टी खूब ठंडे पानी में भिगोकर और निचोड़कर रक्खें जो कम से कम आध या एक चौथाई इंच मोटी, एक फुट चौड़ी और दो फुट लम्बी हो। फिर उस पर इस तरह आराम के साथ लेट जावे कि गर्दन के नीचे से रीढ़ का सारा हिस्सा गीली पट्टी पर अच्छी तरह पड़े। यदि तकिया के ऊंचा रहने से गर्दन के ठीक नीचे का हिस्सा गीली पट्टी से कुछ ऊपर रह जाय तो उस जगह पट्टी के नीचे एक कागज का गोला लपेठकर या सूखा कपड़ा लपेटकर रख दें जिससे गीली पट्टी उठकर शरीर के उस हिस्से के सम्पर्क में आ जाय। साथही एक पतला कपड़ा पानीसे भिगो निचोड़कर तैयार रक्खें। पट्टी पर लेट जाने के पश्चात इस कपड़े को सीने और पेटपर अच्छी तरह फैला दीजिये। इसके पश्चात ऊपर एक गर्म चादर या कम्बल ओढ़ लीजिये। चेहरा खुला रहे। यो

तीन मिनट के बाद ही आराम मालूम होने लगेगा आंख, कान, नाक, मुंह में ठंडक मालूम होगी और नींद आने लगेगी। यदि नींद आ जावे तो सो जावे। नींद खुलने पर और नींद न आवे तो २० मिनिट के पश्चात उठकर पहिले सिर को ठंडे पानी से धोकर अच्छी तरह पोंछ लेवे और फिर गीले कपड़े से सारे शरीर को अच्छी तरह पोंछकर कपड़े पहिन लेवें। साफ खुली जगह में या गर्मी में ऐसे में जहां पंखा चल रहा हो इस पट्टी को दोपहिर के भोजन के एक दो घंटा पश्चात लेना चाहिये। यह पट्टी चूंकि नाड़ी संस्थान (Nervous System) को ठीक करती और बल देती है अतः उपस्थ-स्नान का बदल हो सकती है।

१०-पानी और मिट्टी की पट्टी—

पिंडोल मिट्टी या बहुत थोड़ी रेत मिली गंगा के कछार की मिट्टी साफ जगह से कुछ गहराई से ली जावे। मिट्टी को अच्छी तरह साफ करके बारीक पीस लें। तब उसमें गंगाजल एक साफ चांदी या सोने के चम्मच से मिला लेई सी बना लें ऐसा चम्मच न हो तो अंड की साफ लकड़ी से मिला लें। मिट्टी कड़ी न रहे और बहुत गीली भी न हो। फिर उसी चम्मच या लकड़ी से मिट्टी उठाकर एक मोटे कपड़े के टुकड़े पर रक्खें। और ठीक करके आध इंच से एक इंच तक मोटी तह बनाकर पेडू पर रखने योग्य बना लें। उस कपड़े को उठाकर पेडू पर मिट्टी की ओर से रख दें कपड़ा ऊपर रहे। फिर उसपर एक सूती कपड़ा रखकर इसे गर्म कपड़े से लपेट दें। गर्मी में केवल सूती कपड़े से ही लपेटें। ४५ मिनिट के पश्चात अथवा जब मिट्टी गर्म हो जावे खोलकर उस स्थान को भींगे कपड़े से पोंछ दें। जिन क्षय-रोगियों को कोष्टबद्ध की शिकायत हो उन्हें यह पट्टी अवश्य बांधना चाहिये। कटि स्नान लेना हो तो इसके १ घंटा पश्चात ले सकते हैं। इस पट्टी का प्रभाव खांसी पर

और पेट दर्द पर विशेष रूप से होता है। जिन रोगियों को खांसी की अधिक शिकायत हो उनको दिन में कई बार लेना चाहिये। प्रातः दोपहर और सायंकाल तीन बार ले सकते हैं प्रातःकाल लेने के पश्चात वस्ती कर्म करे और दोपहर लेने के पश्चात कटि-स्नान कर सकते हैं अथवा सायंकाल को कटि-स्नान कर सकते हैं। ज्वर पर भी इसका उत्तम प्रभाव होगा। मिट्टी के रोग नाशक प्रभाव के पक्ष में एक प्राकृतिक चिकित्सक ने लिखा है कि एक बार एक आदमी को सांप ने डस लिया। सभी तरह की चिकित्साएँ की गई पर कोई लाभ न हुआ। यह निश्चय सा हो गया कि वह आदमी मर गया। तब प्राकृतिक चिकित्सक ने देखा। उसने भूमि में एक लम्बा गढ़ा खुदवाया और उसमें गीली मिट्टी की एक तह बिछाकर उसपर आदमी को लिटा दिया। साथ ही अगल बगल में और ऊपर गीली मिट्टी इस तरह रखदी कि उस आदमी का सिर और चेहरा तो बाहर निकला रहा पर शेष सारा शरीर गीली मिट्टी के सम्पर्क में आ गया और अन्दर ही गड़ा रहा। इस अवस्था में लगभग चौबीस घंटे रहने बाद उस आदमी ने अपनी आंख खोल दी। इसी लेखक ने यह भी लिखा है जब कभी कोई ऐसा रोगी मिले जिसकी सच्ची अवस्था न ज्ञात होती हो या निर्बलतां अथवा किसी अन्य कारण वश कोई नहान इत्यादि न दिया जा सके, तो पेंडू पर मिट्टी की पट्टी देने लग जाना चाहिये। और शक्ति के अनुसार पट्टी के बाद एनीमा या कमर नहान भी देना चाहिये। उपरोक्त बातें तो हमने केवल इस अभिप्राय से लिखी हैं कि क्षय-रोगी को मिट्टी का प्रभाव ज्ञात हो जावे। हमने जो विधि ऊपर लिखी है उससे क्षय-रोगी को अवश्य लाभ होगा। यदि गंगा के कछार की मिट्टी और गंगा-जल दुर्भाग्य से प्राप्त न हो तो किसी और नदी के पास की अथवा पिंडोल मिट्टी से तथा साधारण पानी से काम लिया जा

सकता है पर गंगाजल और गंगा के कछार की मिट्टी अपना विशेष ही प्रभाव रखती है।

पाठ ६

वस्ती कर्म

जल-चिकित्सा का एक अंग वस्ती कर्म है जो न केवल क्षय-रोग में किन्तु और भी बहुत से कठिन रोगों में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। अनेक लोगों ने अपने बिगड़े हुए स्वास्थ्य को इसके द्वारा सुधारा है और कई मृत्यु के निकट पहुंचे हुए रोगियों ने अपनी आयु को इसके द्वारा बहुत बढ़ाया है। लेखक इसका परीक्षण ४४ वर्ष से कर रहा है और इसी आधार पर उसने इसे यज्ञ-चिकित्सा के सहायक साधनों में माना है। यद्यपि वस्ती कर्म का वर्णन वेद तथा आयुर्वेद के प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक और शुश्रुत इत्यादि में अनेक स्थानों पर आया है। जैसे यजुर्वेद अध्याय १६ के मं० ८८ में और संस्कृत के प्राचीन व्याकरण के ग्रन्थ अष्टाध्याई के अध्याय ५ पाद ४ के सूत्र १०१ में तथा उनादि कोषके पाद ४ सू. १८० में इसका वर्णन है। चरक और शुश्रुत ने तो इसको चिकित्सा का आधा अंग और कहीं कहीं सर्वांग मानकर वस्ती बनाने की विधि और किस रोग में किस प्रकार की वस्ती दी जावे इन सब बातों का विस्तार से वर्णन किया है। यहां तक ही नहीं किंतु तपेदिक के रोगी की ज्वर की चिकित्सा बताते हुए चरक ऋषि ने निर्बल रोगी के ज्वर को छुड़ाने का अन्तिम साधन माना है देखिये :—

ज्वर क्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम्।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान्॥
निरूहोवलमग्निश्च विज्वरत्वं मुद रूचिम्।
पक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्र मावहेत्॥

अर्थ—जो रोगी ज्वर के कारण अधिक निर्बल हो गया हो उसे वमन विरेचन (उलटी तथा दस्त) न कराना चाहिये। उसे जितना पी सके दूध पिलाकर या निरूह वस्ती (दूध, काढ़े व पानी की वस्ती) कराना चाहिये।

निरूह वस्ती के द्वारा बल बढ़ता है, अग्नि दीप्त होती है और ज्वर छूट जाता है। मन आनन्दित होता है, अग्नि दीप्त होती है, रुचि उत्पन्न होती है और पके हुए दोष शीघ्र निकल जाते हैं।

इसी प्रकार भिन्न २ प्रकार की अनेकों वस्ती भिन्न२ प्रकार के क्षय-रोगियों केज्वर में बताई गई है। जिससे यह स्पष्ट प्रगट होता है कि चरक ऋषि क्षय-रोगी की चिकित्सा में वस्ती कर्म (एनीमा) को विशेष स्थान देते हैं, परन्तु आजकल के बहुत से कविराजों ने जिस प्रकार जल-चिकित्सा के अन्य प्रयोगों को और यज्ञ-चिकित्सा इत्यादि को भुलाया हुआ है इसी प्रकार इसकी ओर से भी उपेक्षा की है। जिसके कारण पाठक वस्ती कर्म के नाम को भी कठिनता से समझ पावेंगे किंतु डाक्टरी नाम एनीमा सुगमता से समझ लिया जावेगा। हमारे कविराजों की इस उपेक्षा का परिणाम एक यह हुआ है कि वस्ती कर्म अथवा एनीमा भी न्यू हाईज़ीन नाम से डाक्टरी का एक नवीन अविष्कार समझा जाता है और इसके अविष्कारकर्त्ता न्यूयार्क (अमेरिका) के डाक्टर ए० बिलफोर्ड हाल समझे जाते हैं। जिन्होंने ४० वर्ष तक परीक्षण करने के पश्चात् सन् १८८० ई० में एक पुस्तक द्वारा इस विचार को जनता के सामने रक्खा। उनको इस अविष्कार का उस समय अवसर मिला जब वह स्वयं क्षय-रोग के चुंगल में फंस गये थे और उस समय के बड़े बड़े डाक्टरों ने उनका रोग असाध्य बता दिया था। ऐसी अवस्था में उन्होंने केवल पानी के वस्ती कर्म द्वारा ही इस रोग की चिकित्सा करके अपने आपको लगभग २० वर्ष तक

जीवित रक्खा। अतः क्षय-रोगियों के उत्साह बढ़ाने के विचार से हम उनकी कहानी यहां लिखते हैं :—

२६ वर्ष की आयु में डाक्टर हाल साहब का स्वास्थ्य बिलकुल बिगड़ गया। उसके पूर्व उनके बड़े भाई क्षय-रोग से मर चुके थे। डाक्टर हाल ने अपने शरीर की जांच अपने कुटुम्ब के डाक्टर से और उसके पश्चात् अन्य योग्य डाक्टरों और मेडिकल कौंसिल से कराई, पर सब डाक्टरों ने एक स्वर से कहा कि तुमको भी तुम्हारे भाई के समान क्षय-रोग हो गया है जिससे एक फेफड़ा खराब हो चुका है और दूसरा भी प्रभावित हो रहा है और इस रोग से आरोग्य होने की कोई आशा नहीं है। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि यदि तुम उत्तम जलवायु के स्थान पर रहकर नियमपूर्वक औषधियों का सेवन करो तो एक वर्ष तक जीवित रह सकते हो। डाक्टर हाल साहब ने उस समय की अपनी अवस्था इस प्रकार लिखी है :—

"उस समय मेरे शरीर से मांस बिलकुल कम हो गया था और मेरी सूरत एक पिंजर की तरह बन गई थी। चेहरे पर जीवन के चिन्ह नहीं दृष्टि पड़ते थे और शरीर में इतनी भी शक्ति नहीं थी कि कमरे से बाहर जा सकूं, अथवा थोड़ी दूर भी बिना बार २ दम लिये फिर सकूं। मेरे शरीर का भार घटते २ केवल डेढ़ मन रह गया था"। (इतने पर भी डाक्टर साहब की मांसिक और विचार शक्ति बड़ी प्रबल थी, अतः डाक्टर साहब लिखते हैं) :—

"डाक्टरों के इस फैसले के आगे मैंने सर नहीं झुकाया और दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं इस घातक क्षय-रोग से अवश्य अपना पीछा छुड़ाऊंगा। उन को यह विश्वास हो चुका था कि जब एलोपैथी के डाक्टर कोई आशा नहीं दिलाते और मेरे बड़े भाई इन्हीं डाक्टरों की चिकित्सा में विषैली औषधियां खाते २ इसी रोग से प्राण दे चुके हैं तो इन डाक्टरों और इन औषधियों

से कोई आशा करना तो व्यर्थ है। हां यदि कोई और नवीन ढंग हाथ आवे तब ही इस रोग से छुटकारा हो सकता है।" विचार करते २ उन्होंने सोचा कि हमारे शरीर में बड़ी आंत (कोलन) ऐसा स्थान है जहां मल एकत्रित होता है और यदि वह पूरी मात्रा में न निकल जावे तो रोग कृमियों को भोजन प्रदान करता है, जिससे बढ़कर उन्होंने मेरे फेफड़े को घायल किया हुआ है। यदि कोलन का मल मैं पानी से धो डालूं और फिर प्राकृतिक जीवन बिताकर उसमें न सड़ने दूं तो कृमियों का भोजन बन्द होने से उनका नाश हो जावेगा अतः उन्होंने पहिले पाव भर कुनकुने पानी से और फिर कई बार में धीरे धीरे बढ़ाकर दो ढाई सेर पानी से वस्ती कर्म किया और ज्यों २ कोलन साफ होता गया रोग में कमी और भूख में वृद्धि होती गई। अन्त को डाक्टर साहब ने जब इस विषय पर पुस्तक लिखी तो उसमें इस प्रकार अपना हाल वर्णन किया है:-

"मैं उस समय से अब तक जिसको ४० वर्ष का लम्बा समय होता है बराबर दूसरे तीसरे दिन इस बिना दवा और आश्चर्यजनक प्रभाव दिखाने वाले तरीक़े को काम में लाता हूं और पूरी सच्चाई और गम्भीरता से कह सकता हूं कि क्रिया करने के आध घंटे बाद हज़ारों बार तेज भूख मालूम करता रहा हूँ। जब मैंने वस्ती कर्म आरम्भ किया, मेरा भार उस समय डेढ़ मन था और तीन चार सप्ताह के भीतर ही ५ पाउण्ड बढ़ गया। मेरे चेहरे पर स्वास्थ्य के चिन्ह देख पड़ने लगे। मेरी खांसी भी शीघ्र ही कम हो गई, गुर्दों का दर्द बिलकुल जाता रहा। मेरे फेफड़ोंका रोग और मंदाग्नि जाती रही और जब से अब तक नहीं हुई है। मेरे शरीर में स्वास्थ्य, बल और भार सब बढ़ गये हैं। १२ वर्ष बीत गये मेरे शरीर का भार २१० पौंड यानी तीन मन के निकट है इत्यादि" अब वस्ती कर्म के लाभ समझने के लिये हमें अपने शरीर के कुर्सों पर विचार

करना होगा। हमारा शरीर कई भागों में बंटा है। एक भाग एक खोखली नाली की भांति है, जिसका फैलाव मुंह से लेकर गुदा तक है। इसकी लम्बाई लगभग २७ फुट है। यह प्रणाली तीन हिस्सों में वंटी है। पहिला भाग मुंह से लेकर पेट की थैली तक, दूसरा भाग छोटी आंत और तीसरा भाग बड़ी आंत है। बड़ी आंत दाहिनी ओर कमर की हड्डी के पास से प्रारम्भ होती है और ऊपर की ओर जाकर फिर यकृत (जिगर) से सीहा (तिल्ली) की ओर आती है। वहां से नीचे की ओर जाकर वह कमर की बाईं हड्डी के पास से गुदा तक पहुंचती है। इसकी लम्बाई लगभग साढ़े पांच फुट है। भोजन पहिले पहिल मुंह से पेट में आता है। पेट में पाचन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पेट से भोजन छोटी आंतों में आता है। भोजन का पूरा पाचन छोटी आंत में ही होता है। छोटी आंत ही पचे खाद्य पदार्थ से रस खींच लेती है और यह रस रक्त में भेज दिया जाता है, जो अंत को रक्त बन जाता है। भोजन का बचा हुआ अंश जो प्राय: सब रस के निकल जाने के पश्चात् शरीर के किसी काम का नहीं है, बड़ी आंत में आ जाता है। यदि उसमें कुछ रस बच रहा है तो बड़ी आंत उसे सोख लेती है और तब उस बचे हुए व्यर्थ अंश को बाहर निकाल देती है। यही मल कहलाता है। यह शरीर के किसी काम का नहीं है और इसका बाहर निकल जाना ही शरीर के लिये हितकर है।

कोष्ठबद्धता और रोग—

यह स्वाभाविक नियम है कि जो कुछ भी खाया जाता है अपने समय पर पचकर और शरीर को आवश्यक रस देकर मल रूप में शरीर से बाहर हो जाता है। जब किसी कारण से भोजनका बचा बचाया यह व्यर्थ भाग बड़ी आंतमें नियमित समय से अधिक देर तक ठहरने लगता है तो उसे कोष्ठबद्धता या कब्ज कहते हैं। यदि बड़ी आंत में यह व्यर्थ पदार्थ अधिक देर ठहरा

तो वहीं सड़ने लगता है और उसके सड़ने के कारण अनेक विष मय कीटाणु उसमें उत्पन्न होते हैं। उसकी गैस उठकर ऊपर शरीर में फैलती है और बड़ी आंत की रस चूसने वाली गिल्टियां आंत के भीतर सड़ते हुए मल से विषयुक्त पदार्थ चूसकर रक्त में पहुंचा देती हैं। इससे सारा शरीर विष से भर जाता है और यदि किसी स्थान पर क्षय-कीटाणु होते हैं तो उनके पालन पोषण में यह विषयुक्त पदार्थ बड़ी सहायता करता है तथा रक्त दूषित करके अनेकों रोग उत्पन्न करता है। यदि यह कहा जाय कि संसार में जितने भी रोग हैं वे प्रायः सभी इस कोष्ठवद्धता से उत्पन्न होते हैं तो बहुत कुछ ठीक होगा। जब यह सत्य है कि रोगों का मूल कारण बड़ी आंत में रुका हुआ यह बेकार पदार्थ मल है, तो यह भी सत्य है कि सब रोगों की ठीक चिकित्सा बड़ी आंत की शुद्धि द्वारा प्रारम्भ की जा सकती है। इस मल को साफ़ करने के हमारे पास चार साधन हैं। (१) हम कैलोमल इत्यादि विदेशी औषधियां खावें (२) सनाए की पत्ती इत्यादि देशी जड़ी बूटी खावे (३) भोजन ऐसा करे जिससे यह मल साफ़ हो जावे (४) आंत में पानी पहुँचाकर उसे धो दें।

पहला साधन—

जब हम कोई तेज़ दस्तावर औषधि खाते हैं तो चूंकि वह औषधि विजातीय पदार्थ है अतः हमारी प्राण सत्ता उसे शरीर से बाहर निकालने के लिये हमारे शरीर में रक्त तथा अन्य पदार्थों से जल के अंश को खींच खींचकर अधिक मात्रा में आंतों की ओर भेजती है। उससे गीला होकर कुछ मल तो अवश्य निकल जाता है पर उस जल के सुखने से हमारे शरीर की शक्ति ऐसे ही क्षीण हो जाती है जैसे किसी वृक्ष को गोद गोदकर उसका पानी निकाला जावे, अतः इस साधन से थोड़ा

मल निकल जाने पर भी अनेकों अन्य रोगों का बीज बोया जाता है और क्षयी-रोगी के लिये तो यह ढंग महान हानिकारक है, क्योंकि एक ओर तो उसके रक्त की हानि क्षय-कीटाणु कर रहे हैं जिससे वह निर्बल होता जाता है दूसरी ओर इससे और भी निर्बल हो जावेगा।

दूसरा साधन—

पहले साधन से कुछ कम हानिकारक केवल इस विचार से है कि इसका प्रभाव उतना तेज नहीं है पर कार्य उसी नियम पर होता है अतः यह भी त्याज्य है।

तीसरा साधन—

ठीक है यदि इससे काम चल जावे और यदि बहुत दिन का कब्ज नहीं है तो काम चल भी जाता है पर जब बहुत दिन से मल आंतों में चिपट जाता है और उसमें स्वयं कृमि उत्पन्न हो जाते हैं अथवा वह सड़कर क्षयी के कीटाणुओं का पालन पोषण करता होता है तब तीसरे साधन से काम नहीं चलता उस समय हमारे लिये दो ही मार्ग रह जाते हैं या तो प्रथम साधन को अपनाकर रोगों के शिकार बनें या तीसरे साधन के साथ चौथे साधन को काम में लावे, जिसकी शिक्षा प्रकृति देती है क्योंकि किसी भी गंदी नाली को धोने के लिये जल से अधिक उपयोगी दूसरा पदार्थ नहीं है। बार बार दस्तावर दवा खाने से आंतों की शक्ति कम हो जाती है और वह काम करने में असमर्थ हो जाती हैं। पर ठंडे पानी से वस्ती कर्म करने से जहां मल साफ होता है वहां पानी की बिजली तथा उपयोगी औषधि से आंत में और शक्ति का संचार होता है और नाड़ी संस्थान को भी पानी से शक्ति मिलती है। क्षय-रोगी के लिये वस्ती कर्म से बढ़कर दूसरा कोई साधन आंत की सफाई का नहीं है और यदि आंत साफ न होगी तो एक ओर यक्ष गैस कृमियों का नाश

करेगी दूसरी ओर आंत का मल सड़कर उनकी वृद्धी करेगा जिससे यज्ञ-चिकित्सा का वह परिणाम न हो सकेगा जो होना चाहिये और जब वस्ती कर्म से आंत की सफाई हो जावेगी तो जहां यज्ञ गैस कृमि को मारेगी वहां वह अपनी रसद बन्द होने से निर्बल होकर और भी शीघ्रता से मरने लगेंगे। अतः क्षय-रोगी को वस्ती कर्म अवश्य करना चाहिये। वस्ती यंत्र अंग्रेजी दवा बेचने वालों की दूकान पर ऐनीमा देने का यंत्र अथवा एरीगेटर या डूश देने का आला कहकर मिल सकता है पांच सात रुपये में अब मिलता है।

वस्ती यंत्र—

इस यंत्र में एक डब्बा होता है जिसमें पानी भरकर दीवार पर टांग देते हैं। एक रबड़ का टुकड़ा पांच छः फुट का होता है जिसका एक सिरा डब्बे की टूटनी में तथा दूसरा सिरा लकड़ी के बने नाज़िल में जिसमें पेंच होता है लगा दिया जाता है। पेंच खोलने से पानी की धार बहने लगती है और बन्द करने से पानी गिरना बन्द हो जाता है।

पानी का परिमाण—

६ महीने के बच्चेके पेटमें दो छटांक से पाव भर तक पानी चढ़ा सकते हैं। एक वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक के बच्चे के पेट में पाव भर से लेकर आध सेर तक पानी चढ़ाते हैं। ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक के बच्चे को आध सेर से लेकर एक सेर तक पानी देते हैं। १२ वर्ष से ऊपर २० व २२ वर्ष तक के मनुष्यों को आयु के अनुसार २ सेर तक चढ़ा सकते हैं २५ वर्ष से ऊपर वालों को ढाई तीन सेर तक पानी चढ़ाया जा सकता है। पानी की मात्रा धीरे धीरे बढ़ानी चाहिये और इसी प्रकार पानी को भीतर रोकना भी सीखना चाहिये। आरम्भ में क्षय-रोगी को पानी ज़रा गरम कर लेना चाहिये ९८ व १०० डिग्री फारन-

है आगे चलकर जब शरीर में कुछ बल आ जावे कूप का ताज़ा पानी अच्छा है। सरदी में कुछ गरम करलें। हां पेट दर्द में कुछ अधिक गरम पानी से वस्ती कर्म किया जा सकता है। १०२ व १०४ डिग्री का ठीक होगा। हर अवस्था में पानी शुद्ध होना चाहिये और छान कर काम में लाना चाहिये। पानी के साथ औषधि प्रयोग की विद्या गहन है जिसे एक अनुभवी डाक्टर ही बता सकता है साधारण लोगों को सादा पानी ही लेना चाहिए।

वस्ती कर्म करने की विधि—

वस्ती यंत्र को भली प्रकार साफ कीजिये गरम पानी से खूब धोलें। ऊपर जो आयु के अनुसार पानी की मात्रा लिखी है पहिली बार उसमें से केवल ½ भाग पानी डब्बे में डालो।

वस्ती यंत्र के डब्बे को ऊपर दीवार में कील गाड़कर रोगी के पलंग के पास इतनी ऊंचाई पर लटका दीजिये कि रोगी के लेटने पर यंत्र का नाज़िल सुगमता पूर्वक गुदा तक पहुँच सके। पलंग के पैताने में एक एक ईंट लगाकर कुछ ऊंचा करदें पैरों की ओर ही ऊंचा करें सिर की ओर नहीं। अब रोगी आराम से चित्त अथवा सीधा करवट से लेट जावे पैरों को मोड़ रक्खे और वह स्वयं अथवा कोई दूसरा आदमी पहिले पेंच को खोलकर कुछ पानी निकाल दें तब उसपर कुछ घी व तेल चिकना पदार्थ लगाकर गुदाके भीतर लगाकर पेंचको खोलदे और पानी को भीतर कोलन में जाने देवें। कभी कभी तो पानी बड़ी सुगमता से आंत में चढ़ जाता है, पर कभी कभी कुछ कठिनाई होती है। कभी ज़रा सा पानी चढ़ने के बाद ही पेट में दर्द शुरू होता है और ऐसा मालूम होता है कि अब पानी नहीं रोका जा सकता। वैसे तो यह दर्द ज़रा देर में स्वयं ही बन्द हो जाता है, क्योंकि यह मल को आंत से छुड़ाने का दर्द है। पर यदि चाहें तो थोड़ी देर को पेंच गुदा से बाहर निकाल लें। दर्द कम होने पर फिर पानी को आंत में चढ़ने दीजिये। पानी

चढ़ते समय पेट को बाईं ओर से दाहिनी ओर हल्के हल्के मलिए। पानी को आंत में कुछ देर तक रोक रखना चाहिये और पेट की हल्की मालिश दाहिनी ओर से बाईं ओर को कीजिये। हो सके तो गरम पानी को ४-५ मिनिट, मामूली गुनगुने पानी को १० मिनिट और ठंडे पानी को १५ मिनिट रोकना चाहिये। पर पहिली वार ऐसा करने में कठिनता हो तो दो चार वार के वाद अभ्यास हो जायगा। पानी रोकने में हर अवस्था में इच्छा शक्ति से काम लेना चाहिये फिर कोई कठिनता नहीं होती। जितनी देर रोक सकें रोकें और तब निकट ही शौच को जावें अधिक निर्बल रोगियों को वेड पिन लगाना होता है। पानी रोकने से मल फूल जाता है और बाहर निकल जाता है। पानी बिना रोके शौच जाने से मल नहीं निकलता। ऊपर बताये तरीके से पेट की अच्छी सफाई हो जावेगी। शौच में साधारण से कुछ अधिक समय लगेगा क्योंकि जमा हुआ मल साफ हो रहा है। उसके पश्चात् कुछ देर चित्त लेटकर आराम करना चाहिये। क्षय-रोगी को पहिले एक सप्ताह तक गुनगुने पानी से नित्य प्रति पानी की मात्रा उस हद तक बढ़ाकर जितनी उसकी आयु है वस्ती कर्म करना चाहिये। जब यह मालूम हो कि अब आंत साफ हो गई तो फिर कूप के ताजे पानी से आंत की शक्ति बढ़ाने वाला वस्ती कर्म करना चाहिये। उसकी विधि यह है कि पाव डेढ़ पाव के अन्दाज से ताजा पानी आंत में चढ़ावें और उसे २० मिनिट तक रोके रक्खें तब शौच को जावें। सप्ताह में एक बार कुछ गरम पानी पूरी मात्रा में चढ़ाकर पूरी आंत की सफाई करलें। इस क्रम को बराबर रोग निवृत्ति के समय तक जारी रक्खें। भोजन का पथ्य जारी रक्खें यदि किसी भूल से बीच में कभी कुछ गड़बड़ी पेट में हो जावे तो उस दिन पूरी मात्रा में गुनगुने पानी से वस्ती कर्म करलें। सिद्धान्त यह है कि गरम पानी मल को अधिक साफ करता है पर आंत

को ढीला करता है। ठंडा पानी मल की अपेक्षा कुछ देर में साफ करता है पर आंतों को बल देता है। बहुत ठण्डा पानी कभी कभी मरोड़ उत्पन्न करता है।

शरीर में गर्मी लाने वाला वस्ती कर्म। जब कभी किसी बहुत निर्बल रोगी के हाथ पैर ठण्डे होने लगें और अवस्था बिगड़ती हुई मालूम हो। ऐसी अवस्था में लगभग तीन पाव सहने योग्य अच्छा गरम पानी की वस्ती करा दी जावे तो शरीर में गरमी फिर से आ जाती है और अवस्था सुधरने लगती है।

वस्ती सम्बन्धी कुछ और नियम—

(१) वस्ती कर्म करने के पश्चात् कुछ देर लेट कर आराम करना चाहिये, (२) भोजन आध घंटा के पश्चात् किया जा सकता है, (३) भोजन हलका होना चाहिये और बहुत तन कर न खाना चाहिये, (४) वस्ती के एक घंटा पश्चात् या कम से कम आधा घंटा पश्चात् कटि स्नान किया जा सकता है, (५) निर्बल रोगियों को पहिले थोड़ा पानी चढ़ाना चाहिए। जैसे २ शक्ति बढ़ती जाय पानी की मात्रा बढ़ायें, (६) कुछ लोग समझते हैं कि इससे आंत कमजोर होती है। यह ठीक है कि यदि बहुत दिनों तक बहुत गरम पानी से लगातार नित्य प्रति वस्ती कर्म किया जावेगा तो अवश्य आंत निर्बल होगी पर कुछ दिन मल साफ करने को गरम पानी से करके फिर ठंडे पानी से करने से जिसकी विधि ऊपर बताई है आंत में बल आता है और स्वाध्य सुधरता है। क्षय-रोगी के लिये तो यह संजीवन बूटी है, (७) कुछ रोगियों की आंत में मल बहुत सख्त चिपक जाता है, उनको कई वार वस्ती कर्म कराने पर भी पानी ही निकलता है मल नहीं निकलता, ऐसे रोगियों को बराबर गरम पानी से वस्ती उस समय तक करना चाहिये जब तक मल फूल कर न निकल जाय,

(८) कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि वस्ती कर्म करने से इस की आदत पड़ जावेगी और फिर इस के विना शौच न होगा। यह भ्रम है रोग की अवस्था में महीनों लेने पर भी इस की आदत नहीं पड़ती और क्षय-रोगी को तो अपनी जान बचाने के लिये इस प्रकार के भ्रम करना ही न चाहिये। क्षय-रोग के पृष्ठ १७६ पर डाक्टर गुप्ता ने लिखा है कि आंतों में क्षय-रोग उन स्थानों पर अधिक होता है जहां मल को ठहरने का अवसर मिलता है। उस मल को यदि हम वस्ती से साफ करते हैं तो वहां से रोग को भगाते हैं, (९) ऐसा अवश्य होता है कि कुछ दिनों वस्ती करने के पश्चात् छोड़ने पर एक दो दिन शौच नहीं होता। इससे घबराना न चाहिए, जब मल एकत्रित हो जावेगा तो स्वयं शौच होगा, (१०) जिन रोगियों को बहुत पतले दस्त आते हों उन को केवल एक दो बार साधारण पानी से वस्ती करके देखना चाहिये यदि इस से दस्तों में कुछ कमी न हो और कोई आराम न जान पड़े तो फिर वस्ती करना व्यर्थ है, क्योंकि क्षय-रोगियों को अधिकतया दस्त अंत समय में आते हैं। बीच में किसी कारण से भी दस्त आ सकते हैं ऐसे दस्तों को वस्ती कर्म से अवश्य लाभ होगा।

पाठ ७

मानसिक शक्ति अथवा संकल्प बल

प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ वेद शास्त्र और नवीन से नवीन विद्वान इस बात में एक मत हैं कि मन की शक्ति बड़ी प्रबल है और मनुष्य वैसा ही बन जाता है जैसा वह विचार करता है या संकल्प करता है। दृढ़ निश्चय और संकल्प से मनुष्य निर्बल से बलवान, रोगी से स्वास्थ्य और मूर्ख से विद्वान बन सकता है। कल्पना, मनोवृत्ति, मन, चित्त, चेष्टा, मनोव्यापार, ध्यान,

विचार, मनोरथ इत्यादि संकल्प के पर्याय वाचक शब्द हैं और अपने २ स्थान पर संकल्प के लिये प्रयुक्त होते हैं। वेद में मन को " ज्योतिषां ज्योति " ज्योतियों का ज्योति महाज्योति बतलाया है, " Mind is a great electrical force " मन एक महान विद्युतमय शक्ति है यह प्रायः सभी नवीनतम वैज्ञानिकों का मत है, मन से अधिक वेग एवं शक्ति वाला अन्य भौतिक पदार्थ नहीं है। इतना ही नहीं मन को प्रज्ञान और चेतः भी कहा गया है अर्थात् ज्ञान का करानेवाला तथा चेतना देनेवाला। यह प्रत्यक्ष सिद्ध ही है कि विना मनोयोग के हमारी सारी ज्ञानेन्द्रियां निकम्मी हो जाती हैं। आंख विना मन के योग के कुछ भी नहीं देख सकती, श्रोत भी सुन नहीं सकता, नासिका सूंघ नहीं सकती, रसना भी स्वाद नहीं ले सकती, यदि इन इन्द्रियों के साथ मन का सहकार न हो। इसीलिये शास्त्रकारों ने आत्मा को रथी, शरीर को रथ और मन को सारथी अर्थात् रथ को चलाने वाला माना है। आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डित भी यही कहते हैं कि जितनी क्रियाएं हो रही हैं वे सब मनः शक्ति के कारण हैं। विना मन की सहकारिता के क्रिया का होना ही असम्भव है। " All conscious actions are done under the direct influence of will " अर्थात् सब ही ऐच्छिक क्रियाएं इच्छाशक्ति मन के आधीन हैं। वेद भी यही कहता है "यस्मान्न ऋत किञ्चन कर्म क्रियते। तन्मे मनः शिव सङ्कल्प मस्तु (यजु०) अर्थात् जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जा सकता वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प वाला हो। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन और अर्वाचीन दोनों काल के विद्वानों ने एक स्वर से कहा है कि हम अपनी इच्छा शक्ति अथवा मन के विचारों द्वारा कुछ से कुछ हो सकते हैं। अपने पक्ष की पुष्टी में हम कुछ प्रमाण देने के पश्चात् आगे चलेंगे। एक स्थान पर कहा गया है कि " संकल्प में तेजस्विता होती है और वह मनुष्य को भवितव्यता का स्वामी

होता है। गोपथ ब्राह्मण का वचन है :—

(१) स मनसाध्यायेह यद्वाऽहं किंचन मनसाध्यास्यामि। तथैव तद्भविष्यति। तद्धस्म तथैव भवति (गोपथ ब्राह्मण)

अर्थ—मनुष्य जैसा संकल्प करता है वैसा ही वह बन जाया करता है। यदि संकल्प अच्छे हैं तो वह अच्छा बन जाता है, यदि बुरे हैं तो बुरा बन जाया करता है। उपनिषद का कथन है:-

(२) काम एव यस्यातनं हृदयं लोको मनो ज्योति य उपायं काममय पुरुषः। बृहदारण्य-कोपनिषद् ३।६।११

अर्थ—मनुष्य का आश्रय स्थान संकल्प ही है; हृदय उसका लोक है, मन उसकी ज्योति है। इस प्रकार यह पुरुष संकल्पमय ही है। एक और स्थान पर आता है :—

(३) कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृति, ह्री, धी भीरित्येतत्सर्वं मन एव (बृ० ३०१।५।३)

अर्थ—कामना, संकल्पो, सन्देह, श्रद्धाऽश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही हैं। फिर दूसरे उपनिषद का उपदेश है :—

(४) यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुतिष्ठति (छा० उ० ८।२।१०)

अर्थ—मनुष्य जिस २ बात की इच्छा करता है वह उस के संकल्प ही से पूरी हो जाती है। फिर एक स्मृतिकार का कथन है :—

(५) संकल्प मूलः कामो वै यज्ञाः संकल्प सम्भवाः व्रतानि यम धर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः (मनुस्मृति)

अर्थ—जितनी कामनायें होती हैं उनका कारण संकल्प ही होता है और समस्त मंत्र भी संकल्प ही से उत्पन्न होते हैं। समस्त व्रत, यम तथा धार्मिक कार्यों का हेतु भी संकल्प ही होता है। एक लोकोक्ति है :—

(१) संकल्प मानसं देवी चतुर्वर्ग प्रदायकम।

अर्थ—संकल्प मानस देवी चतुवर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाली है। इस प्रकार दूसरी लोकोक्ति है:—

(२) मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो:।

अर्थ—मनुष्यों के बंध और मोक्ष का कारण मन ही हुआ करता है। इसी प्रकार तीसरी लोकोक्ति है:—

(३) यो यत श्रद्धः स एव सः As a man thinketh so is he.

अर्थ—मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुकूल ही बना करता है अर्थात जैसी उसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह हो जाया करता है। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक कहानी पंचदशीकार विद्यारण्य स्वामी ने लिखी है। एक गुरु ने अपने शिष्य को जप करने को कहा। पूछने पर शिष्य ने उत्तर दिया कि इस जप में मेरा मन नहीं लगता, जब मैं जप करने बैठता हूँ मेरा मन मेरी भैंस में चला जाता है। तब उसे बतलाया गया कि यह "भैंस ही ब्रह्म है" यह जपो, उस के बाद गुरु ने कहा यह जपो कि "मैं भैंस हूँ"। कुछ काल तक अन्तिम जप के बाद गुरु ने जब उसे बुलाया तो शिष्य ने उत्तर दिया कि गुफा का तो छोटासा द्वार है और मेरे सिर पर लंबे लंबे सींग हैं मैं इस में किस प्रकार निकल सकता हूँ। शिष्य ने जब अपने भैंस होने का जप किया और गुरु पर श्रद्धा होने के कारण सत्य मानकर हृदय से किया और वही धारणा बनाई तो उसे भान होने लगा कि न केवल मैं भैंस हूँ किन्तु मेरे सर पर सींघ भी हैं। इस कहानी में यही विचार पाया जाता है कि मनुष्य अपने विषय में जैसा सोचता है वैसा ही उसे भान होने लगता है। जो अपने को निर्बल ख्याल करता रहता है वह निर्बल होता जाता है पर जो शरीर का व्यायाम करता है और हर क्षण में अपने पुट्ठों को शक्तिशाली होने का भान करता है वह शक्तिशाली हो भी जाता है।

धारणा दृढ़ और तदानकूल प्रयत्न वाली हो। इस सम्बन्ध में संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित करने के पश्चात अब हम कुछ प्रमाण पश्चिमी विद्वानों के देते हैं :—

१—मारडन (Mardan) अमेरिका के उन उत्कृष्ट लेखकों में से एक हैं, जिन्होंने आत्मवाद के महत्व को कुछ समझा है। उनके निम्न लिखित ग्रन्थों में से हम कुछ वाक्य उपस्थित करेंगे :—(1) Every man a King, (2) Getting on, (3) Peace power and planty, (4) Pushing to the front, (5) An iron will. मारडन ने लिखा है :—

(अ) Man can renew his body by renewing his thought. अर्थात मनुष्य अपने विचारों को नया कर लेने से अपने शरीर को नया कर सकता है।

(ब) Man can change his character by changing his thoughts. अर्थात् मनुष्य विचार बदल लेने से अपने चरित्र को बदल सकता है।

(क) Poverty itself is not so bad as the poverty thought. अर्थात अकिंचनत्व स्वयं इतना बुरा नहीं है, जितना संकल्पित अकिंचनत्व (बुरा होता है)

(ड) Control your thought & you control the destiny. अर्थात् तुम अपने संकल्प का नियंत्रण कर के अपनी भवितव्यता को नियंत्रित कर सकते हो।

(स) Thought is the stuff out of which things are made. अर्थात् विचार रूपी कच्चे माल से सब कुछ बना है।

२—एक दूसरे यूरोप के विद्वान ने लिखा है :—

We build our future thought by thought
Or good or bad and know it not
And so the Uneverse is wrought
Thought is another name for fate

Choose then your destiny and wait,
For love brings love and hate brings hate.

अर्थ—हम अपना भविष्य अपने विचारों की श्रृंखला से बनाते हैं, इस बात को जाने बिना कि वह अच्छा बन रहा है या बुरा, इसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड बना है। विचार भाग का दूसरा नाम है, तुम्हें अपना भविष्य निश्चय करके प्रतीक्षा करनी चाहिये क्योंकि प्रेम से प्रेम और घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। अपने "राज योग" नामक ग्रंथ में श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने भी कुछ इसी प्रकार के भाव प्रगट किये हैं।

३—वैनट (Bannet) अमेरिका का दूसरा विद्वान है जिसका यहां उल्लेख किया जाता है :—

वैनट ने एक ग्रंथ लिखा है जिस का नाम Old age, its cause and prevention है। उस में उस ने प्रश्न उठाया है कि आदमी बूढ़ा क्या होता है ? वह कहता है कि जब मनुष्य के शरीर बनाने वाले प्राकृतिक कोष (cells) टूट फूट कर और उनके स्थान पर नये बनकर दो वर्ष में नये हो जाते हैं तो फिर आदमी को बूढ़ा क्यों होना चाहिए ? वैनट ने जो उत्तर इस प्रश्न का दिया है वह भलीभांति समझा जा सके, इस के लिये आवश्यक है कि थोड़ा सा उसका जीवन वृत्तांत जान लिया जावे, उसने अपने जीवन के ५० वर्ष बड़ी असावधानी से, स्वास्थ्य रक्षा की परवाह न करते हुये व्यतीत किये थे। उस की उस आयु का फोटो उस ने ग्रंथ में दिया है जिस से प्रगट होता है कि वह सत्तर वर्ष बूढ़े का चित्र है। बाल सफेद माथे में शिकन, गले में झुर्रियां पड़ी हुईं और तमाम शरीर की त्वचा ने मांस को छोड़ रक्खा था। ५० वर्ष की आयु के बाद उसके विचार बदले और उसने अपना स्वास्थ्य सुधार आरंभ किया। दो बातें थीं जिन्हें उसने अपनाया (१) समस्त शरीर के हलके

व्यायाम, जिन्हें आदमी लेटे लेटे ही कर सके (२) अपने विचारों को उपयोगी बनाना। इन दोनों बातों का अभ्यास करते हुए उसने २० वर्ष व्यतीत किये। ७० वर्ष की आयु का फिर एक फोटो उसी ग्रन्थ में दिया हुआ है उस फोटो के देखने से प्रकट होता है कि मानो यह चित्र किसी तास पैंतीस वर्ष के युवक का है। अब उसके शरीर से बुढ़ापे के सारे चिन्ह जाते रहे थे। ऐसे व्यक्ति बैनट ने उस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि आदमी अपने विचारों के कारण बूढ़ा होता है। जैसा जैसा वह बुढ़ापे की बातों को सोचता जाता है, उसी के अनुसार वह होता जाता है। अपने इस उत्तर के प्रमाण में जहां उचित रीति से उसी को पेश किया जा सकता है, वहां उसने एक बड़ा शिक्षाप्रद उदाहरण फ्रान्स की एक लड़की का दिया है वह इस प्रकार है :—

"फ्रान्स की एक १६ वर्ष की लड़की ने अपना विवाह सम्बन्ध वहां के एक युवक के साथ करना निश्चय किया। युवक ने अपने पास धन की कमी देखकर लड़की से कहा कि विवाह तो निश्चय हो ही गया है परन्तु उसे क्रियात्मक रूप देने से पहिले यह आवश्यक है कि मैं कुछ धन संग्रह करलूं। लड़की समझदार थी उसने रजामन्दी दे दी। इस के पश्चात् वह युवक धन पैदा करने अमेरिका चला गया जहां कोई भी ६ घंटा काम करके २४) रोज कमा सकता है। उस युवक ने ३ वर्ष परिश्रम करके पर्याप्त धन पैदा कर लिया, पर किसी झगड़े में पड़कर उसे १५ वर्ष विवश हो वहां और रुकना पड़ा। १८ वर्ष के बाद वह फ्रान्स में लौटा तब इन दोनों का विवाह हुआ। परन्तु जिस बात ने वर को आश्चर्य में डाल रक्खा था, वह यह थी कि वधू के युवती स्त्री हो जाने पर भी ३७ वीं वर्ष की आयु में उसके चेहरे का आकार प्रकार वैसा ही था जैसा १६वीं वर्ष की आयु में अमेरिका जाते हुए वह छोड़ गया था। पूछने पर स्त्री ने प्रगट किया कि "मैंने निश्चय किया था कि १६वीं

वर्ष में विवाह करूंगी " विवाह निश्चय तो हो गया परन्तु हो नहीं सका, तब मैंने दूसरा निश्चय किया कि " विवाह जब भी होगा मैं उस समय तक अपने चेहरे के आकार प्रकार को वैसाही बनाए रखूंगी जैसा १६ वीं वर्ष की आयु में था।" इस दूसरे निश्चय की पूर्ति के लिये, उसने अपने घर के एक कमरे में ६ फीट ऊंचा दर्पण तैयार कराया। दर्पण के लग जाने पर उसने अपनी सूरत देख उस की आकृति चित्त में धर ली। अब वह जब इस कमरे से गुजरा करती थी और दिन में तीन चार बार गुजरना पड़ता ही था तो एक मिनट के लिये दर्पण के सामने खड़े होकर अपनी सूरत देखकर सोच लिया करती थी कि उस में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। यह आचरण उसका निरंतर १८ वर्ष तक जारी रहा। उस के इस मनोभाव का प्रभाव यह हुआ कि वास्तव में उसकी आकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। बैनट के इस ग्रन्थ से प्रकट होता है कि किस प्रकार मनुष्य के विचार उसके चेहरे पर प्रभाव डाला करते हैं।

४—अमेरिकन डाक्टर कैलाग (Kallog) ने भी इसका समर्थन किया है उसने अपने ग्रंथ Man the master piece में लिखा है " मनुष्य के विचारों का चेहरे की खूबसूरती पर प्रभाव पड़ता है। अच्छे विचार और चरित्रवाले का चेहरा रूपवान होता है। "

५—जर्मन के प्रसिद्ध लेखक पिनकल का कथन है कि चिंताओं, संदेहों और अनिष्ट विचारों से चेहरे का रंग बिगड़ जाता है।

६—मिलटन ने लिखा है "The Mind is its own place and in it self can make a heaven of hell, a hell of heaven" अर्थात् स्वर्ग को नरक और नरक को स्वर्ग बनाना केवल मन का काम है।

७—आर्य-समाज के प्रसिद्ध नेता श्री नारायण स्वामी जी महाराज ने अपनी पुस्तक अमृत वर्षा में लिखा है मनुष्य के संकल्प यदि बुरे हैं तो उसे वे रोगी बना दिया करते हैं।

८—पैरिस के डाक्टर बेराडुक ने संकल्पों के फोटो लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि विचार का प्रभाव प्राकृतिक शरीर पर ऐसा ही होता है जैसे किसी वस्तु के खाने से। एक स्त्री अपने मरे बच्चे का चिन्तन कर रही थी फोटो लेने पर प्लेट पर मरे बच्चे का चित्र आ गया। दूसरी लड़की अपने पालतू मृत पक्षी का विचार कर रही थी, जब उसका फोटो लिया गया तो पिंजड़े में बन्द पक्षी का चित्र खिंच गया।

उपरोक्त उदारहणों से हर व्यक्ति शिक्षा ग्रहण कर सकता है पर हमें तो इस समय विशेष रूप से क्षय-रोगियों से कहना है कि तुमने अनेक स्थानों पर सुना होगा कि क्षय-रोग जिसे हो जाता है उसके प्राण लेकर ही छोड़ता है पर यह कहावत उन्हीं के लिये है जो विदेशी विषैली औषधियों को खाकर व Inject कराके अपने रक्त को शुद्ध करने के स्थान में विषयुक्त बनाते हैं। यज्ञ-चिकित्सा के सम्बन्ध में भगवान् ने जो वेदमें आदेश दिया है उससे स्पष्ट प्रगट होता है कि कठिन रोगी भी आरोग्य हो सकते हैं। अतः यदि तुम जीवन दान चाहते हो तो प्रथम इस पुस्तक को उस समय तक बार बार पढ़ो जब तक तुम्हारा दृढ़ विश्वास और अटल श्रद्धा हमारी चिकित्सा विधि पर न हो जावे। इससे पूर्व चिकित्सा आरम्भ करना उचित नहीं है जब तुम्हारी श्रद्धा यज्ञ-चिकित्सा पर हो जावे, तब उसे पूर्ण विधि से आरम्भ करो और हर समय यह धारणा धारण करो कि तुम अवश्य आरोग्य होगे। जो काम करो उसे पूर्ण विश्वास और प्रसन्नता के साथ करो और उसके लाभों पर विचार करते रहो। यह कभी सोचो ही नहीं कि तुम्हारी बीमारी बढ़ रही है। सम्भव है कभी किसी कुपथ्य से तुम्हें कोई उपसर्ग बढ़ता

मालूम हो। तो उससे दुखी होने के स्थान में फिर से चिकित्सा विधि का अध्ययन करो और देखो क्या त्रुटि हुई है उसका भविष्य के लिये सुधार करो और यदि कोई भी त्रुटि न ज्ञात हो तब भी घबराने की बात नहीं। सम्भव है चिकित्सा विधि ने तुम्हारे किसी दबे हुए दोष को उभारा हो जो विषैली औषधियों से दबकर तुम्हें मृत्यु के निकट ले जा रहा था। यदि ऐसा है तो प्रसन्नता की बात है और ऐसा बढ़ा हुआ उपसर्ग स्वयं ही कुछ समय में शान्त हो जावेगा और तुम्हें पूर्व की अपेक्षा अधिक स्वस्थ्य वना जावेगा। रोग के विचार को छोड़कर स्वास्थ्य के विचार धारण करो। प्रकृति से आनन्द उठाओ। प्राकृतिक दृश्य देखो, प्राकृतिक भोजन करो, प्राकृतिक सौन्दर्य को देख कर उसके बनाने वाले की सुन्दरता का ध्यान करो। अपने को खाली मत रक्खो यदि चल फिर सकते हो तो अपने मनोरंजन का प्रोग्राम बनालो। यदि पलंग पर पड़े हो तो उसके अनुसार प्रोग्राम बनाओ। जिस पुस्तक के पढ़ने में रुची है वह पढ़ो न पढ़ सको तो सुनो। मित्रों से वार्तालाप करो। गान विद्या से रुची है तो गाना सुनो और जब कोई पास न हो तो प्रभू का चिन्तन करो। भविष्य में अपने जीवन का परोपकारमय प्रोग्राम सोचो कहने का तात्पर्य यह है कि मन को खाली न रहने दो। जिसमें बुरे विचार या रोग के विचारों को सोचने का अवसर मिले यह तुम दृढ़ निश्चय रक्खो कि यदि तुमने मन को इतना वश में कर लिया कि वह रोग के विचारों से हटकर हर समय स्वस्थ्य होने का विचार करने लगा तो तुम आरोग्य हो गये। गीतामें अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा था कि मन तो बड़ा चंचल है उसे किस प्रकार वश में किया जावे तो भगवान श्रीकृष्ण ने योग दर्शन में वर्णित विधि अभ्यास और वैराग्य बताई उसी को मान तुम भी हर समय प्रसन्न रहने स्वास्थ्य-प्रद विचारों के सोचने का अभ्यास करो और

तुम अवश्य आरोग्य होगे। वेद भगवान् की वाणी है उसकी कोई बात असत्य नहीं हो सकती। वैनट यदि ५७ वर्ष तक अप्राकृतिक जीवन बिताकर वृद्ध होकर फिर प्राकृतिक नियमों के सहारे ७० वर्ष की आयु में ३५ वर्ष का युवा बन सकता है तो तुम उन्हीं नियमों के सहारे अपने इस क्षय-रोग को जो अप्राकृतिक जीवन अथवा विषैली औषधियों के प्रयोग से उत्पन्न हुआ है, क्यों न स्वस्थ्य बना सकोगे। अवश्य बना सकोगे, संकल्प करो दृढ़ संकल्प करो निश्चय करो, दृढ़ निश्चय करो।

पाठ ८

सूर्य तथा वायु

इस पुस्तक के भाग १ के पाठ ३ में जो अथर्व वेद का ३२ वां सूक्त दिया है उसका देवता सूर्य है। मंत्र में बतलाया है कि सूर्य अर्थात् धूप और प्रकाश रोग क्रमियों को मारते हैं इसी प्रकार भाग दो के पाठ २ में यज्ञ-चिकित्सा के सम्बन्ध में जो पहिला मंत्र दिया है उसमें स्पष्ट वर्णन है कि वायु तथा अग्नि देवता क्षय-रोगी के रोग को दूर करते हैं। फिर अथर्व ७-७३-५ में कहा है "सूर्यः ते तन्वे शंतपाति" अर्थात् सूर्य तेरे शरीर को सुख देने के लिये तपता है।

वास्तव में यह वेद वाक्य सुवर्ण अक्षरों में लिखने योग्य हैं। क्षय-रोगीके लिये शुद्ध खुली ओषजन युक्त वायु तथा सूर्यका प्रकाश व उचित धूप जितनी लाभकारी है उतनी कोई भी खाने की औषधि नहीं है। यह ऐसा खुला हुआ सत्य है कि आधुनिक वैज्ञानिक भी इसकी सत्यता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं। आप किसी विद्वान, डाक्टर, वैद्य, हकीम के पास जावें सब एक स्वर से वेद के इन वाक्यों का समर्थन करेंगे। इसमें कोई भी अपवाद नहीं है। फिर भी बहुत से लोग मूर्खतावश रोगी को वायु व धूप से ऐसा बचाते हैं जैसे रोगी के लिये यह चीज

विष हों। कुछ का विचार है कि बुखार में हवा व धूप से बचना ही चाहिये इस अभिप्राय से वह रोगी के कमरे के किवाड़ तक बन्द कर देते हैं। ऐसे रोगी कभी भी अच्छे नहीं हो सकते। रोगी के लिये सर्वदा खुली हवा और सूर्य का प्रकाश और थोड़ी मात्रा में धूप भी मिलनी चाहिये। यह तो सब ही जानते हैं कि वायु के विना हमारा जीवन नहीं रह सकता पर सूर्य के विषय में बहुत से लोगों को भ्रम है उनको जानना चाहिये कि जिस प्रकार पृथ्वी हमारी माता है उसी प्रकार सूर्य हमारा पिता है क्योंकि आदि सृष्टि में अमैथुनी सृष्टि सूर्य की प्राण शक्ति और पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न होती है। अब भी जहां सूर्य नहीं पहुँचता वहां वृक्ष नहीं ऊगते। अन्न और फल जिन को खाकर हम जीते हैं धूप में ही पकते हैं। वैज्ञानिकों ने जो भोजन तत्व (Vitamins) की खोज की है वह सूर्य द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। हमारे शरीर पर भी सूर्य की किरणों के पड़ने से विटामिन "ई" और "डी" बनता है। जिन बालकों को सूर्य प्रकाश नहीं मिलता उनको सूखा रोग हो जाता है। सूर्य की किरणों के शरीर पर पड़ने से हमारा स्वास्थ्य बढ़ता है और रंग निखरता है। सूर्य चिकित्सा के नाम से एक प्रथक चिकित्सा प्रणाली है जो सब रोगों की चिकित्सा सूर्य की सहायता से करती है। अल्ट्रावाइलेट रेज से भी इसी आधार पर चिकित्सा की जाती है। वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में खोज करने के पश्चात् बताया है कि जब शरीर सूर्य प्रकाश को सोख लेता है तब उस की पाचन क्रिया बढ़ जाती है और जब सूर्य किरण हमारी त्वचा को वेधकर शरीर के भीतर प्रवेश करती है तब शरीर को बल मिलता है तथा इनके प्रभाव से प्रोटीन और शकर आदि के पचाने में शरीर को बड़ी सहायता मिलती है। यह आवश्यक नहीं है कि गर्मी में तेज धूप में बैठकर ही हम सूर्य की किरणों का लाभ प्राप्त कर सकें किन्तु ऐसे समय में तो धूप से बचना

ही हितकर है ऐसे समय प्रकाश में नंगे बदन रहने से भी हम वायु और सूर्य का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यह भी समझ लेना चाहिये कि गर्म ऋतु में अधिक गर्मी क्षय रोगी के लिये हानिकारक है इसी कारण रोगी को ठंडे स्थान पर ले जाते हैं। इसलिये गर्मी की ऋतु में रोगी को धूप इस अन्दाज से दी जावे कि वह उसकी गर्मी से व्याकुल न हो उठे पर गर्मी के दिनों में भी सूर्य के उदय तथा अस्त समय कुछ देर की धूप रोगी के शरीर को लगनी देना आवश्यक है। शीतकाल में तो अधिक से अधिक समय रोगी को नंगे बदन धूप में रखना हितकर है। जितनी धूप रोगी सह सके अच्छा है। इस ऋतु में ऐसा नियम बना लें कि प्रातःकाल सूर्योदय होते ही रोगी को धूप में लिटा दें और जब वह स्वयं छाया में जाना चाहे ले जावें। दोपहर को भोजन के पश्चात् भी कुछ देर धूप खाना अच्छा होगा। सूर्य की धूप में क्षय-कीटाणु मारने का गुण यथा स्थान पुस्तक में लिखा जा चुका है। एक वैज्ञानिक ने क्षय-रोगी का बहुतसा कफ जिस में बहुत से क्षय कीटाणु थे धूप में रक्खा कुछ घंटे के पश्चात् जांच की तो उसमें एक भी कृमि नहीं निकला। एक दूसरे वैज्ञानिक ने दो चूहों में सुई द्वारा क्षय विष पहुँचाया फिर उनमें से एक को बन्द स्थान में जहां धूप का अभाव और प्रकाश की कमी थी रक्खा, दूसरेको खुले मैदानमें जहां धूप और प्रकाश था रक्खा। कुछ समय पश्चात पहिले में क्षय संक्रमण प्रारम्भ हो गया पर प्रकाश वाला स्वास्थ्य रहा इन परीक्षणों से हमें यही शिक्षा मिलती है कि क्षय-रोगी को खुली वायु और सूर्य प्रकाश तो बराबर मिलना चाहिये। कमरे के दरवाजे और खिड़कियां बराबर खुली रहें। रात को भी बन्द न की जावें। यदि सम्भव हो तो शीतकाल में रोगी बरामदे में और गर्मी में खुले मैदान में सोवे, तेज हवा हो तो कमरे में खिड़की खोलकर सोवे। सोते समय मुंह न ढंकना चाहिये, सरदी में ऊनी टोपा लगाया

जा सकता है पर नाक खुली रहे। आधुनिक विज्ञान जिसने कभी अपनी पश्चिमी सभ्यता के आधार पर भारत वर्ष में भी सरदी के दिनों में दोपहर के समय बन्द कमरों में चिकें डालकर बैठने का रिवाज डाला था अब इस परिणाम पर पहुँच गया है कि इस प्रकार के बन्द स्थानों में बैठने से शरीर की रोग संघारक शक्ति का ह्रास्य होता है और क्षय-रोगी के लिये तो ऐसे स्थान पर रहना मृत्यु को निमंत्रण देना है।

२—इन्डियन रेड क्रास सोसायटी की ओर से एक पुस्तक 'क्षय-रोग के रोकने के उपाय' नामी निकली है उसके ऊपर बड़े मोटे अक्षरों में लिखा है "स्वच्छ वायु, सूर्य प्रकाश, पौष्टिक भोजन और व्यायाम यक्ष्मा के शत्रु हैं।" इसी प्रकार लन्दन के सुप्रसिद्ध डाक्टर ई. हैरिस रोडक एम.डी. ने लिखा है "Women and children, as well as men, in order to be healthy and well developed, should spend a portion of each day where the solar rays can reach them directly; this being particularly necessary when there is a tendency of tubercle Vade mecum p. 25, 26 अर्थात् सब स्त्री, पुरुष और बच्चों को स्वास्थ्य रहने तथा उसके बढ़ानेके विचारसे प्रत्येक दिवस कुछ देर सूर्य किरणों को सीधे अपने शरीर पर लगने देना चाहिये। विशेष रूप से उन लोगों के लिये बहुत आवश्यक है जिनका झुकाव क्षय की ओर है। आगे फिर वह लिखते हैं :—The open air treatment in Sanatoria has done a great deal for many cases of Tuberculosis V. M. page 283, 284 अर्थात स्वास्थ्य ग्रह द्वारा खुली वायु की चिकित्सा से क्षय-रोग के बहुत से रोगियों को लाभ हुआ है। इसी प्रकार रोगों की अचूक चिकित्सा के लेखक ने पृष्ठ ६२ पर लिखा है "क्षय-रोग में सारे शरीर में हवा और प्रकाश का लगना बहुत लाभदायक होता है'' फिर पृष्ठ १८५ पर लिखते हैं यक्ष्मा का रोगी बराबर

ही ऐसी खुली जगह में रहे, जहां उसे सोते जागते साफ हवा मिले। इसी से यक्ष्मा के रोगियों को नदी में नाव पर या ऊंचे पहाड़ी इलाके में रहना बताया है। अगर यह न हो सके तो ऐसा प्रबन्ध जरूर करना चाहिये कि रोगी अच्छी साफ और खुली जगह में रहे। जाड़ों में भी रात के समय उसे रजाई या कम्बल से अच्छी तरह ढंक कर ऐसी जगह में रखना चाहिये जहां हवा बेरोक आती जाती हो।

३—सब ही वैज्ञानिक वेद की इस बात का समर्थन करते हैं कि क्षय-रोगी के लिये खुली वायु, सूर्य प्रकाश और धूप उपयोगी हैं। हां एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि जब तेज हवा के झोके चल रहे हों तो रोगी को इस प्रकार वायु सेवन करना चाहिये कि उसके सीने पर तेज हवा के झोके न लगें। साधारण खुली वायु में नंगे बैठना हितकर है। इसी प्रकार जब तेज गर्मी पड़ती हो तो रोगी को प्रातः सूर्योदय के समय ५-१० मिनिट शरीर पर धूप लगने दें फिर धूप से बचाकर सूर्य प्रकाश से लाभ उठावें ताकि रोगी को अधिक गर्मी न लगे। इसी प्रकार जब तेज लू चल रही हो तो रोगी को बन्द कमरे में रख कर दरवाजे खोल दें और दरवाजों पर खस की टट्टी लगा दें। जिस जिस स्थान पर अधिक गर्मी होती है वहां से रोगी को किसी कम गर्मी वाले अथवा ठंडे स्थान पर भेज देना हितकर है। जहां खुली वायु और सूर्य प्रकाश में रोगी स्वतन्त्रता पूर्वक रह सके। किसी कारणवश रोगी को पसीना आ रहा हो ऐसी अवस्था में शरीर नंगा करके एकदम तेज हवा में निकलना ठीक नहीं है।

४—स्वांस सर्वदा नाक से लेना चाहिये मुंह से स्वांस कभी न लेना चाहिये। नाक से स्वांस लेने का लाभ यह है कि प्रथम भगवान ने नाक के भीतर बाल बनाए हैं जो छन्नी का काम देते हैं बहुत दूषित पदार्थ जो वायुके साथ उड़कर नाक तक

पहुँचते हैं वह इन बालों द्वारा रोक लिये जाते हैं। जो लोग प्रकृति की इस देनकी अवहेलना करके नाकके बाल कटवा देते हैं वह इस लाभ से वञ्चित हो जाते हैं, दूसरे नाक के भीतर एक झिल्ली है जिसके सम्पर्क में आने से, अधिक ठंडी वायु इतनी गरम हो जाती है कि फेफड़े को हानि न पहुँच सके। जो लोग मुंह से स्वांस लेते हैं वह इन दोनों लाभों से वञ्चित हो जाते हैं अतः स्वांस सर्वदा नाक से लेना चाहिये।

५—गहरी स्वांस लेने का स्वभाव डालना चाहिये। यह तो आप समझ ही चुके हैं कि क्षय-रोगी का सबसे उत्तम भोजन शुद्ध ओषजन युक्त वायु है और ये भोजन भी ऐसा है कि जितना अधिक खाओ उतनी ही शीघ्र आरोग्यता प्राप्त करो। अन्य भोजन के अधिक खाने से अजीर्ण हो जाने का भय है पर इस भोजन में कोई भय नहीं इसलिये इसे अधिक से अधिक ग्रहण करने का उद्योग करना चाहिये। प्राणायाम या गहरी स्वांस लेना ही ऐसा उपाय है जिसके द्वारा हम इस भोजन को अधिक मात्रा में ले सकते हैं। अतः गहरी और पूरी स्वांस लेने का क्षय-रोगी को अभ्यासी होना चाहिये। यज्ञ के समय और उसके पश्चात् उसी स्थान पर कम से कम आध घन्टे तक बैठकर गहरी स्वांस लेने का तो नियम बना लेना चाहिये। अन्य समय भी गहरी स्वांस का अभ्यास डालना हितकर है।

६—कोई भूल न हो इसलिये सूर्य किरण धूप और प्रकाश के सम्बन्ध में फिर समझ लेना चाहिये:—

जो रोगी चलते फिरते हैं और शरीर में शक्ति है उनको दिन में दो चार घन्टे नंगे बदन प्रकाश और वायु का सेवन करना चाहिये और सरदी में इच्छानुसार धूप में नंगे बदन बैठना चाहिये और गर्मी में सूर्य उदय व अस्त समय छाती खोलकर धूप में १०–१५ मिनट किरणों को लेना चाहिये।

जो निर्बल हैं उनको इस प्रकार अभ्यास करना चाहिये कि पहिले दिन यज्ञ समय नंगे बदन ५ मिनिट बैठें। २-३ दिन पश्चात् ५ के ६ मिनिट कर दें इसी प्रकार बढ़ाते हुए ऐसा अभ्यास करें कि यज्ञ के अतिरिक्त भी घन्टे दो घन्टे नंगे बदन रहना अच्छा लगने लगे।

इसी प्रकार धूप सेवन सरदी में तो इच्छानुसार दिन भर कर सकते हैं जब धूप अच्छी न लगे छायामें चले जावें पर गर्मी में पहिले दिन केवल दो मिनिट सूर्योदय के समय छाती खोल कर सूर्य के सामने धूप में बैठ जावें फिर धीरे धीरे समय बढ़ा कर १० मिनिट तक कर लें।

नोटः—यदि किसी दिन ज्वर अधिक हो जावे या रक्त वमन हो जावे तो जब तक यह उपसर्ग शांत न हो जावे धूप सेवन बन्द रक्खें।

पाठ ६

ब्रह्मचर्य

क्षय-रोग की चिकित्सामें ब्रह्मचर्य का महत्व सबसे अधिक है क्योंकि कैसी ही उत्तम चिकित्सा होने पर यदि रोगी ब्रह्मचर्य का पालन न करेगा तो वह अच्छा नहीं हो सकता। क्योंकि जैसा कि इस पुस्तक के पढ़ने से आपको विदित होगा कि रोग कीटाणु निर्बल शरीर पर ही आक्रमण में सफल हो सकते हैं और आरोग्यता प्रदान करने में सबसे बड़ा साधन शक्तिशाली शरीर ही है। वह शक्ति उस समय तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जाता चाहे कितना ही पौष्टिक भोजन हम करें बिना ब्रह्मचर्य के सब व्यर्थ है।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक में "यक्ष्मा होने की रीति" इस

प्रकार वर्णन की है :— जब मनुष्य अत्यन्त हर्ष से आसक्त होकर अधिक मैथुन करता है, उससे उसका वीर्य क्षीण हो जाता है। वीर्य क्षय होने पर भी चित्त स्त्री संग से निवृत्त नहीं होता बल्कि और भी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार स्त्री संसर्ग से अधिक प्रवृत्ति होने से वीर्य का क्षय होकर पुनः मैथुन करने पर भी वीर्य से वीर्य की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह अत्यन्त क्षीणता को प्राप्त हो लेता है। ऐसा करने से फिर भी उसके शरीर में वायु प्रवेश हो धमनीय नसों के बीच में प्रवेश करके रक्त वाहिनी नसों में से रक्त को वीर्य मार्ग से निकालता है और वायु उस रक्त के साथ मिल जाती है। फिर उस मनुष्य का वीर्य क्षीण होने से और रक्त की प्रवृत्ति होने से संधियां शिथिल हो जाती हैं तथा शरीर में रूक्षता उत्पन्न हो जाती है और शरीर में वायु का कोप हो जाता है। वह कुपित हुई वायु उस दुर्बल शरीर में इधर उधर फिरती हुई मांस और रुधिर को सुखा देती है। एवं कफ और पित्त को निकालता है। दोनों पसवाड़ों में तथा अंसों में और कंठ में पीड़ा को उत्पन्न करता है और कफ को बिगाड़कर मस्तिष्क में पूरित करता है। संधियों में पीड़ा उत्पन्न करता है एवं अरोचकता, अङ्गमर्द अविपाक उत्पन्न करता है और कफ के उत्सर्ग से वायु की गति प्रतिलोम होने से ज्वर, खांसी, स्वरभङ्ग और जुकाम को प्रगट करता है। फिर वह मनुष्य इन शोषण कारक उपद्रवों द्वारा पीड़ित हुआ धीरे धीरे सूख जाता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य को शरीर रक्षा के लिये वीर्य की भी रक्षा करना चाहिये। क्योंकि वीर्य शरीर में आहार द्रव्यों का सर्वोत्तम फल होता है।

चरक नि० स० प्र० ६ श्लो० १२–१४ का अर्थ

इसी प्रकार वेद में "स्त्रियों के अति भोग से होने वाला क्षय-रोग" इत्यादि वचन प्राप्त हैं जैसा कि इस पुस्तक के भाग

२ के पाठ ९ में प्रमाण रूप में लिखा गया है। ऐसी अवस्था

में बिना ब्रह्मचर्य धारण किये यह रोग कैसे आरोग्य हो सकता है यह बात साधारण बुद्धि से समझ में आती है। प्राचीन काल में जब ब्रह्मचर्य का अधिक पालन किया जाता था क्षय-रोग की कमी और आज कल जब ब्रह्मचर्य का नाश हो रहा है रोग की अत्यन्त वृद्धी तथा युवा अवस्था में जब ब्रह्मचर्य का अधिक नाश किया जा सकता है रोग का अधिक होना भी यही सिद्ध करते हैं कि इस रोग की चिकित्सा में ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्व है। किस आयु में कितने रोगी होते हैं इसका विवरण इस पुस्तक में अन्यत्र दिया जा चुका है। यहां उसकी पुष्टी में शिकागो के हेल्थ कमिश्नर के अनुभव जो उन्होंने अपने पूर्ण अन्वेषण के पश्चात् लिखे हैं प्रस्तुत किये जाते हैं वह लिखते हैं- "जन्म समय कोई बालक राज-यक्ष्मा में ग्रस्त नहीं होता। १५ वर्ष की आयु में साठ प्रतिशत और २१ वर्ष की आयु में ७५ से ८० प्रतिशत और ५० वर्ष से १०० वर्ष तक की आयु में ३ से ५ प्रतिशत रोगी इस रोग में ग्रस्त होते हैं।

By Arnold H. Kegel M. D. Commissioner of Health Chicago.

जिस आयु में लोग अधिक वीर्य नाश करते हैं उसी आयु में अधिक संख्या इस रोग के रोगियों की होना और बालकपन में तथा बुढ़ापे में जब वीर्य नाश का समय नहीं होता संख्या कम होना हमारे पक्ष का पुष्ट प्रमाण है। क्षय-रोगी को वीर्य रक्षा की क्यों अवश्यकता है इस पर विचार करने के लिये यह समझना आवश्यक है कि :—

वीर्य क्या वस्तु है ?

आयुर्वेद ने वीर्य का लक्षण करते हुए बताया है कि प्रत्येक वस्तु में जो कार्य करने की शक्ति होती है वही उसका वीर्य है। कुछ और स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझो कि भोजन

का स्थूल भाग तो मल रूप में बाहर निकल जाता है और सूक्ष्म तथा सार भाग रस बनता है, फिर उससे रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा बनती है। अन्त को मज्जा में से जो स्नेह या स्निग्ध द्रव्य पदार्थ टपकता है उसे वीर्य कहते हैं। यह मनुष्य शरीर के प्रत्येक भाग में विद्यमान रह कर अपने सूक्ष्म भाग ओज के नाम से शक्ति प्रदान करता है। यदि मनुष्य शरीर में से सारा भाग वीर्य का निकाल लिया जावे तो उसकी आकृति हड्डियों के उस ढांचे से बहुत मिलती जुलती हो जावेगी जो कंकाल (Skeleton) के नाम से डाक्टरी के कालेजों में रक्खा रहता है और जिसे देखकर बालक डर जाया करते हैं। मनुष्य में फुरती, उत्साह, उमंग, कार्य शीलता, मुंह पर लाली और तेज सब बातें उसी समय तक रहती हैं जब तक शरीर में वीर्य है।

वीर्य की हानि से रोग कैसे आक्रमण करता है—

हमारे शरीर का प्रत्येक भाग कोषों (Cells) में विभक्त है। कोष एक बहुत छोटा परमाणु है जिसका आकार $\frac{1}{1000}$ से $\frac{1}{6000}$ इंच तक होता है। अर्थात् यदि उनको बराबर २ रक्खा जावे तो छोटे कोष तो एक इंच में ६००० आवेंगे और बड़ासे बड़ा कोष भी उस स्थानमें १००० आ सकेंगे। अब देखिये उस महान प्रभु की विचित्र रचना कि इतनी सूक्ष्म वस्तु में क्या क्या अद्भुत चमत्कार हैं। साधारणतः प्रत्येक कोषमें चारों ओर एक बारीक झिल्ली का खोल होता है और उसके भीतर एक पतला चिकना पदार्थ भरा होता है, जिसे प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) कहते हैं। यही कोष का मुख्य भाग है। इस प्रोटोप्लाज्म के भीतर हरकत रहती है जिससे वह अपने समीप से अपने भोजन के भाग को आकर्षित करके हज्म कर लेता है। शुद्ध वायु (ओषजन) को ग्रहण करता और दूषित वायु (कार्बन) को बाहर

निकालता है। इस प्रोटोप्लाज्म के बीच में एक गोल बिन्दु सा होता है जिसे न्यूक्लीअस (Neucleus) कहते हैं, और वो प्रोटोप्लाज्म का भी जीवन आधार है और बहुत से कोषों का न्यूक्लीअस मिलकर एक प्रकार से मनुष्य शरीर का प्राणाधार है। न्यूक्लीअस के द्वारा ही प्रोटोप्लाज्म स्वांस इत्यादि लेता है, और नवीन कोष भी बनाता है। विशेषतया जब किसी रोग के कीड़ों के साथ युद्ध में अधिक कोष काम आते हैं, तो यह शीघ्रता से नवीन कोष बनाता है और रोग-कीटाणुओंको परास्त करने का यत्न करता है। इनमें रक्त के श्वेत कोषों में झिल्ली का खोल भी नहीं होता किन्तु द्रव्य पदार्थ ही अधिक होता है। और यही कोष रोग-कीटाणु का विशेष मुकाबला करते हैं। कोषों में पतला तथा चिकना पदार्थ वीर्य और न्यूक्लस का अधिक भाग ओज से प्राप्त होता है। जब शरीर में से वीर्य अधिक मात्रा में निकल जाता है तो उसमें उष्णता उत्पन्नहो जाती है और प्रत्येक कोष का प्रोटोप्लाज्म सूखने लगता है और न्यूक्लीअस की शक्ति निर्बल होने लगती है। ऐसी अवस्था में जब किसी रोग के कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं तो उनका विरोध करनेवाला कोई नहीं होता, क्योंकि हमारी रक्षक सैना तो पहिलेही अपना राशन वीर्य न पानेसे हमसे विद्रोह किये होती है रोगकीटाणु बिना किसी रोक टोक के शरीरमें अपना स्थान बना कर हमको मृत्यु की ओर ले जाते हैं। जब कीटाणुओं की कोई रोक टोक नहीं होती तो वह नित्यप्रति अपनी सन्तानको बढ़ाते और शरीर को क्षीण करते जाते हैं इसी कारण यह "क्षय-रोग" कहलाता है। ऐसी अवस्था में जब कोई चिकित्सक रोगी की चिकित्सा आरम्भ करता है तो वह इस बात पर बल देता है कि खूब खाओ ताकि अधिक वीर्य बनें और रोग से लड़ने वाले सैनिक फिर अपना राशन पाकर रोग कीटाणुओं से लड़ें और रोग को समाप्त कर दें। अतः जो रोगी अपने भीतर अधिक से

अधिक वीर्य बनाकर उसे सुरक्षित रखता है ताकि कोषों को अपना भोजन मिल सके वह तो रोग पर विजय प्राप्त कर सकता है। पर जो इतनी आवश्यक वस्तु को सुरक्षित न रख कर विषय भोग में नष्ट करता है वह ऐसा ही मनुष्य है जैसे कोई राजा लड़ाई के मैदान में अपना धन और समय वैश्यागमन में बितावे ऐसा राजा लड़ाई में कैसे विजय प्राप्त कर सकता है। अतः जिस क्षय-रोगी को अपने प्राणों का मोह है उसे कभी भूल कर भी संभोग क्रिया नहीं करनी चाहिये। प्रश्न हो सकता है कि क्या क्षय-रोगी आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे और इस प्रकार विषय सुखसे सर्वदा के लिये हाथ धोले। नहीं, ऐसा नहीं है। प्रकृति ने मनुष्य को सब इन्द्रियां इसीलिये दी हैं कि वह उनके उपभोग से सुख उठावे। मर्यादा के भीतर रहने से शरीर को बिना हानि पहुँचाये ऐसा हो सकता है। वीर्य से जब शरीर परिपूर्ण हो जाता है और सब अंग तथा प्रत्येक कोष अपना अपना भाग पाकर तृप्त हो जाते हैं तब प्रकृति इतना अधिक वीर्य शरीर में बनाती है जिसके निकालने से हानिके स्थान में आनन्द और लाभ होता है। अतः क्षय-रोगी के सब उपसर्ग ज्वर, खांसी, निर्बलता मंदाग्नि इत्यादि जाते रहें और वह अपना सब कार्य उसी प्रकार करने लगे जैसे स्वास्थ्य अवस्था में करता था। उसके कफ इत्यादि में क्षय-कीटाणुओं का अभाव हो जावे तथा शारीरिक परिश्रम करने से उसका दम न फूले और स्त्री प्रसंग की प्रबल इच्छा हो तब उसे हम क्षय-रोगी नहीं कह सकते, उसे अधिकार है कि सीमा के भीतर वैदिक आदर्श के अनुसार स्त्री प्रसंग करे, इससे पूर्व नहीं।

पाठ १०

प्रसन्नता

क्षय-रोग के कारणों में चिन्ता और निर्धनता का मुख्य स्थान है। अतः उसकी चिकित्सा में चिन्ता रहित होना अथवा प्रसन्न रहना परम आवश्यक है। जो लोग हर समय चिन्ता ग्रस्त और दुखी रहते हैं उनका क्षय-रोग से आरोग्य होना कठिन ही नहीं असम्भव है। इसलिये यज्ञ-चिकित्सा करने वाले रोगी को हर समय प्रसन्न चित्त रहना आमोद प्रमोद करते रहना चाहिये और जब कोई चिन्ता की बात आ जावे तो उसे उपेक्षावृत्ति से भुला देना चाहिये। पर कुछ लोगों का स्वभाव ऐसा बन जाता है कि उनसे उनकी भलाई की बात कही जावे तब भी वह अप्रसन्न हो जाते हैं और अकारण ही अपने चित्त को चिन्ता ग्रस्त रखते हैं। ऐसे लोग प्रायः चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं और हर किसी से लड़ते झगड़ते रहते हैं। ऐसे लोगों से तो हमारा निवेदन यह है कि यदि तुम्हें क्षय-रोग से छुटकारा पाना है तो अपने इस स्वभावको बदलना होगा। हम जानते हैं कि तुम्हारा उत्तर यह होगा कि "हम पागल थोड़े ही हैं जो अकारण लोगों से झगड़ते हैं जब हमें परेशान किया जाता है तो लाचार होकर क्रोध आता है।" हमारा कहना यह है कि सम्भव है ऐसा ही हो पर सोचना यह है कि तुम्हारे क्रोध से उन लोगों की तो कोई हानि है नहीं जो तुम्हें परेशान करते हैं किन्तु तुम्हारे स्वयं जीवन मरण का प्रश्न है अतः तुम उनकी बातों की उपेक्षा करो और अपनी प्रसन्नता के साधनों को स्वयं जुटालो। चिड़चिड़ेपन से बात करने के स्थान में प्रेम पूर्वक मधुर भाषण करो तब कुछ दिनों में तुम अन्य लोगों के व्यवहार में भी परिवर्तन देखोगे और न भी देखो तब भी अपने जीवन रक्षार्थ तुम प्रसन्न रहनेका उद्योग करो। कुछ लोग कहेंगे कि

चिन्ता अकारण थोडे ही करते हैं। हम बीमार हैं आय, बन्द है, खर्च अधिक होता है, ऋण हो गया है और बढ़ रहा है अत: स्वभाविक ही चिन्ता रहती है। ऐसे लोगों से हमारा कहना है कि हमें आपके इस दुख में आप के साथ सहानिभूति है पर हमारी सम्मति में आपके दुख का कारण आपके ज्ञान की कमी और वैदिक साहित्य की अनभिज्ञता है। यदि आपने आरम्भ से ही वैदिक सिन्धातों का पालन किया होता तो आपको चिन्ता ग्रहस्त होने का अवसर ही न आता अब भी यदि वैदिक साहित्य का अवलोकन करें और वर्तमान समय की अशान्ती-दायक सभ्यता का अनुकरण न करें तो बहुत कुछ चिन्ता रहित हो सकते हैं। यहां हम कुछ ऐसे नियमों का उल्लेख करते हैं जिन पर आचरण करके प्रसन्न रहा जा सकता है। पहिले यह समझलो कि चिन्ता चीज क्या है। तुम्हारे मन में अनेकों प्रकार के विचार उठा करते हैं, उनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिनसे तुम डरते हो उस बातको एकबार सोचा थोड़ी देर बाद सोचा और फिर सोचा बस बार बार सोचने से उसके सोचने का स्वभाव बन जाता है। जैसे तुम्हारे ऊपर ऋण हो गया है तुम सोचते हो उसका सुद बढ़कर १ वर्ष में इतना हो जावेगा और २ वर्षमें इतना फिर तुम्हारी जायदाद बिक जावेगी। बस इस विचार को बनाया और बार बार सोचना आरम्भ किया अब मन की उसके सोचने की आदत हो गई। शरीर से जब कोई काम प्रथम बार किया जाता है तो कठिनता से होता है बार बार करने से स्वभाव बन जाता है। पहिले हम साइकिल पर चढ़ना चाहते हैं तो कठिनता होती है बार बार चढ़ने से अभ्यास हो जाता है, फिर अनायास से ही पैर पेडल पर चलने लगते हैं। इसी प्रकार जो अनिष्ट हमने एक बार सोचा उसके बार बार सोचने से मन का स्वभाव बन गया। इसी को चिन्ता कहते हैं। अब इसकी चिकित्सा है कि पहिली बार जब यह अनिष्ठ विचार हमारे मनमें आवे कि कर्जा बढ़कर

हमारी जायदाद बिक जावेगी तो उसे दूर भगा दें किन्तु यह सोचें कि हम प्राकृतिक नियमों का साधन करके बहुत ही शीघ्र आरोग्य हो जावेंगे तब पुरुषार्थ करके अपने खर्चे को नियमित रखते हुए बहुत शीघ्र क़र्ज़ा निपटा देवेंगे और कुछ देर लगी तो जायदाद बेचकर कर्ज़ा निपटा देवेंगे और शेष धन से व्यापार करके इतना धन कमा लेवेंगे कि व्यापार भी होता रहे और इससे अधिक जायदाद खरीद लें। यदि आप कहें कि यह तो शेख चिल्ली का ख्याली पुलाव है तो हम कहेंगे कि पहिली बात भी ऐसी ही है। हैं दोनों ख्याली बातें। एक से चिन्ता होती है और दूसरे से आनन्द मिलता है तो क्यों न हम आनन्द दायक विचार को अपनावें। दूसरी बात सोचने की यह है कि तुम जिस बात की चिन्ता कर रहे हो वह तुम्हारे बस की है या तुम्हारे बस से बाहर है। यदि तुम्हारे बस से बाहर है तो चिन्ता करना व्यर्थ है। जैसे तुम रोगी हो और तुम्हारी आय बन्द है आय का अन्य कोई साधन नहीं है केवल ऋण लेकर तुम अपना काम चला सकते हो, तो फिर इस बात में चिन्ता करने से क्या लाभ। जो काम तुम्हारे बस का नहीं उस में तुम कुछ कर ही नहीं सकते। जो सब कामों का करने वाला है उस की इच्छा से ही यह काम हो रहा है। तुम्हारे बुरे कर्मों का फल है तो तुम्हें यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिये कि बुरे कर्मों का फल समाप्त हो रहा है और यह प्रकृति का नियम है कि हर रात के पश्चात दिन होता है और दिन के पश्चात रात होती है। आर्य-समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्दजी महाराज ने अपनी संस्कार विधि के ग्रहाश्रम प्रकरण में मनु महाराज के आधार पर एक बड़ा शान्तीदायक उपदेश दिया है वह इस प्रकार है "ग्रहस्त लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी होने के पश्चात दरिद्र हो जाय, उससे अपनी आत्मा का अपमान न करें कि हाय हम निर्धन हो गये इत्यादि विलाप भी न करें किन्तु मृत्यु पर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति

में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मीको दुर्लभ न समझें।"

इसी प्रकार हर आपत्ति के समयमें मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि इस समय मेरा कर्त्तव्य क्या है। उसे बिना विलम्ब किये करे और परिणाम भगवान पर छोड़ दे। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन कों यही उपदेश दिया था कि तू अपने कर्त्तव्य कर्म को कर और उसके फल को भगवान् पर छोड़ दे।

एक बात और है जिसके कारण हम चिन्ता ग्रहस्त रहते हैं, वह यह है कि पाश्चात् शिक्षा के कारण हमारी आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं। गर्मी में हमारा काम कुर्ता, धोती या नेकर, कमीज से और बहुत समय केवल धोती या नेकर से बहुत उत्तमता से चल सकता है, पर हम १०) और १५) सिलाई के कोट और पतलून बनवाते हैं। हाथ और शरीर धोने को प्राकृतिक वस्तु मिट्टी बड़ी उत्तम है जिससे मैल भी छूटता है और रोग भी छूटते हैं पर हम बीसों रुपये का बढ़िया साबुन खरीदते हैं जिससे मैल छूटता है पर रोग उत्पन्न होते हैं। ऐसी बातों पर ऋणी रोगी को अवश्य विचार करके त्याग देना चाहिये। विलायती चिकित्सा पर भी बहुत व्यय आता है और अन्त को रोग जाता नहीं। अतः उस चिकित्सा को भी दूर से नमस्कार कर देना चाहिये। इसी प्रकार जो अन्य कारण चिन्ता के हों उनको दूर भगाना चाहिये और ऊपर के नियमों के अनुसार अपना जीवन बिताना चाहिये। धन की चिन्ता के अतिरिक्त एक और ऐसी चिन्ता या दुख है जिसके लिये लोग प्रायः यह समझते हैं कि इस दुख से तो दुखी ही होना पड़ेगा, वह अपने किसी प्रिय जन की मृत्यु का दुख है। जिसके लिये लोग धाड़ें मार मार कर रोते हैं। हमें इन कटु शब्दों के लिये क्षमा किया जावे हमारी सम्मति में ऐसा करना महा मूर्खता है। क्योंकि जन्म मरण प्रकृति का एक अटल नियम है और वह किसी अज्ञात शक्तिद्वारा पालन किया जाता है। इसमें मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि अपना प्रिय जन

जब तक जीवित हो उत्तम से उत्तम उपाय उसकी जीवन रक्षा के लिये करे। पर जब उसकी मृत्यु हो जावे तो समझले कि कर्मों के अनुसार उससे इतने ही समय का सम्बन्ध था और अब जिस काम में हमारा वस नहीं है उसके लिये रोना और दुख उठाना व्यर्थ है। हम जो उससे प्रेम करते थे उस प्रेम को संसार के उन दुखी जनों पर दर्शावें जो मृतक से भी अधिक हमारे प्रेम के भूखे हैं। ऐसे अवसर पर गीता तथा उपनिषद आदि वैदिक ग्रन्थ पढ़ने से मनुष्य को बहुत शान्ति प्राप्त होती है। क्षय-रोगी को तो अपने प्राणों की रक्षा के लिये हर प्रकार से चिन्ता रहित होकर हर समय प्रसन्न चित्त रहना चाहिये। वैदिक साहित्य के स्वाध्याय तथा भगवान् को हर समय अपने साथ समझने से ऐसा होना कुछ कठिन नहीं है। परीक्षा कर देखें। पर यह भली प्रकार समझलें कि बिगड़ी हुई आदत एक दिन में नहीं सुधरती धीरे धीरे सब कुछ होता है। इसीलिये मनु महाराज ने धर्म का पहिला लक्षण "धृती" बताया है, अतः धैर्य पूर्वक कुछ समय तक अभ्यास करें तब आप हमारी बातका स्वयं समर्थन करेंगे।

पाठ ११

भोजन

क्षय-रोगी के लिये भोजन का विषय कुछ कम महत्व का नहीं है। यह बताया जा चुका है कि क्षय के अर्थ ही क्षीण करने वाले के हैं। जब शरीर इस रोग से क्षीण हो रहा है तो उसको पुष्ट बनाने को हर डाक्टर रोगी को यही परामर्श देता है कि खूब पौष्टिक भोजन खाओ, बार बार खाओ, कभी खाने में देर न करो। डाक्टर मोलर साहब ने तो यहां तक कहा है कि क्षय-रोग की वृद्धी का मुख्य कारण यही है कि लोगों को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। क्षय-रोग की चिकित्सा में भी भोजन पर बहुत बल दिया जाता है। पर देखा यह जाता है कि हमारे

रुपये के विलायती बने पौष्टिक पदार्थ, अन्डा और दूध खाकर भी क्षय-रोगी अन्त को मृत्यु द्वारा ही अपना पीछा इस रोगसे छुड़ाते हैं। कारण उसका यही है कि एक ओर तो विषयुक्त औषधियां क्षय-रोगी के स्वास्थ्य को बिगाड़तीं और उसकी पाचन शक्ति पर बुरा प्रभाव डालती हैं। दूसरी ओर विलायती बिस्कुट और मांस इत्यादि के बने अनेक भोजन तथा अंडा अपना विष शरीर में पहुँचाकर उसके रक्त को बड़ा दूषित बना देते हैं। रोगी की प्राण सत्ता अथवा जीवन शक्ति जो पूर्व ही रोग से आक्रान्त होकर निर्बल हो जाती है इन विषयुक्त भोजनों से और भी दब जाती है और कोई प्रतिक्रिया रोग को दूर करने की नहीं कर सकती। यह बात सदा ध्यान में रखने की है कि किसी भी पौष्टिक भोजनके केवल खानेसे कभी शक्ति नहीं आती किन्तु पचाने से शक्ति आती है और भोजन को पचाना शरीर के लिये बड़े परिश्रम का कार्य है। इस सिद्धान्त को रोगी तो रोगी बहुसंख्यक चिकित्सक भी कदाचित नहीं जानते। जो केवल कालेज की पढ़ाई के आधार पर कार्य करते रहते हैं और अपने प्राकृतिक नियमों और अनुभवों पर ध्यान नहीं देते वह कभी भी नहीं जान पाते। जो डाक्टरी की बड़ी बड़ी उपाधि प्राप्तकर सिग्रेट, चाय और मदिरा जैसे विषों का स्वयं सेवन करते हैं उनसे कैसे आशा की जा सकती है कि रोगियों को भोजन संबन्ध में सही परामर्श दे सकेंगे। भोजन के पाचन के सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि भोजन के पेट में पहुँचते ही शरीर की सारी शक्तियां उसके पचाने में लग जाती हैं। इससे देखा गया है कि भोजन खास कर अति भोजन के थोड़ी देर के पश्चात कुछ सुस्ती मालूम होने लगती है। इसका कारण यही है कि पचाने का काम जारी करने के लिये शरीर के सारे अंगों का बल खिच खिचकर पेट की ओर चला जाता है। बहुत अधिक खा लेने से यह शक्ति हीनता प्रत्यक्ष रूप में प्रगट होती है। शरीर उतना

ही पचा सकता है, जितने के लिये उसमें शक्ति है, यह शक्ति सब मनुष्यों में समान नहीं होती। क्षय-रोग में तो और भी कम हो जाती है। अतः यदि उसी शक्ति के अनुसार भोजन खाया जाता है तो क्षय-रोगी को औषधिवत लगता है और केवल भोजन सुधार से उसका बहुत कुछ रोग चला जाता है। इसके विपरीत जब शक्ति से अधिक विशेष रूप से अप्राकृतिक पदार्थ अंडा मांस इत्यादि खाया जाता है तो कुछ समय तक तो जैसे तैसे निभ जाता है पर अन्त को रोगी को दस्त जारी हो जाते हैं जो उसकी मृत्यु का संदेश होते हैं। भोजन इस लिये किया जाता है कि उससे शरीर की छीजन दूर हो, शरीर के भीतर की आवश्यकताऐं पूरी हों। किस रोगी में किस चीज की कमी है किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है तथा वह किस मात्रा में नित्य प्रति पच सकती है इन सब बातों पर विचार करते हुये हर रोगी को अपने भोजन की एक सूची बना लेना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि भोजन से ही रक्त बनता है इसलिये जैसा भोजन होगा वैसा रक्त बनेगा वही रक्त हमारे शरीर के सब अंगों का पालन पोषण करेगा। क्षय-रोग में रक्त शुद्ध नहीं रहता और कम भी बनता है अतः क्षय-रोगीको इस बातपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि उसका भोजन ऐसा हो कि वह रक्त की शुद्धी भी करे और रक्त को अधिक मात्रा में बनावे। प्राकृतिक भोजन में इस बात का बहुत कम डर रहता है कि वह रोगी की इन आवश्यकताओं को पूरा करने के स्थान में हानि पहुँचावेगा। जैसे गाय अथवा बकरी का शुद्ध ताज़ा दूध यदि अधिक भी पी लिया जावे तो वह सडाइंध नहीं पैदा करता किन्तु फर्मेन्ट (सन्धानित) होकर लैकिटक एसिड बनाता है जिसमें रोग के कीड़े मर जाते हैं। पर बार बार की अति इस प्रकार के भोजन से भी हानि ही पहुँचती है; क्योंकि पचाने में अधिक शक्ति व्यय होने से हमारा स्नायुमंडल निर्बल होता है। अन्य भोजन की अति

जहां एक ओर स्नायु मंडल को निर्बल करती है वहां दूसरी ओर भोजन सड़कर रक्त को दूषित करता है और मन्दाग्नि उत्पन्न करता है।

भोजन क्या करना चाहिये ?

स्वास्थ्य मनुष्य के लिये तो इसका बड़ा सरल उत्तर है। अन्न, फल, सब्जी और दूध प्राकृतिक पदार्थों में जो पचा सको, भूख में खाओ और मौज करो। क्षय-रोगी के लिये सिद्धान्त तो यही है पर उसे कुछ विस्तार में जाना पड़ेगा। अतः यहां कुछ उसी विस्तार से भोजन के सम्बन्ध में लिखा जाता है:—

१—रक्त के भीतर विशेष रूप से दो पदार्थ हैं एक खारापन क्षारता (Alkalinity) और दूसरा अम्लता (Acidity) या खटाई। यह दोनों पदार्थ समान रूप में नहीं हैं खारापन ८०% और खटाई २०% है अतः इस बात की आवश्यकता है कि ऐसा भोजन किया जावे जिससे ८०% खारापन और २०% खटाई प्राप्त हो जिससे रक्त शुद्ध रह सके। कोई भी रोग हो यदि रक्तके इस अनुतापको ठीक करके उसे शुद्ध बना दिया जावे तो रोग भाग जावेगा इसे खुब याद रक्खें। नीचे एक सूची दी जाती है जिससे रोगियों को ज्ञात हो जावे कि कौन पदार्थ क्षार मय है और कौन अम्ल:—

अम्ल पदार्थ जिन से खून में खटाई आती है और जिन की हमें केवल २० प्रतिशत आवश्यकता है:—

(क) मैदा और मैदा के बने पकवान पूरी, कचौड़ी, मालपुआ, हलुवा, मिठाई, पकौड़ी, बड़े, कढ़ी, सेमई, बालूशाही, गुलाब जामुन, लड्डू इत्यादि।

(ख) धुली हुई दालें, मटर, सेम, लोभिया सूखी हुई।

(ग) ऐसे फल जो पकने पर भी खट्टे ही रहते हैं। अचार, खटाई, चाट, चटनी।

(घ) सूखे मेवे जैसे बादाम, अखरोट, चिलगोज़ा, पिसता, मूंगफली, खरबूज़े के बीज की गरी, काजू।

यह सूखे मेवे वैसे तो विकारों के निकालने में बड़ी रुकावट डालते हैं पर क्षय-रोगी के विकार जब वस्तीकर्म तथा स्नान आदि से निकल जावें और जब यज्ञ-चिकित्सा से रोग कृमि बहुत कुछ मर जावें उस अवस्था में प्रातः काल अथवा किसी अन्य समय सेव, गाजर व टमाटर के साथ दो चार बादाम व अखरोट खाना लाभदायक है।

(ङ) मांस, मछली, अंडा इत्यादि यह प्राकृतिक भोजन न होने के कारण नितान्त त्यागने योग्य हैं। अमेरिका के डाक्टर मैकफेडन कहते हैं:– क्षय-रोगी का काम गाय के ताजे दूध और मक्खन से भली प्रकार चल सकता है मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे अनुभव से भी यह ठीक है। मोटे आटे की पूरी, पराठा, सूजी का हलुआ, मूंग की पकौड़ी, मोटे आटे का मालपुआ, मूंग की धुली दाल उस के चीले, आटे के चोले। इस अन्दाज़ से कि भोजन में इनकी मात्रा १५% ही हो दिये जा सकते हैं। क्योंकि क्षय-रोगी के रक्त में पूर्व से ही आम्ल अधिक है अतः उसे इन पदार्थों को कम से कम लेना चाहिये। जैसे २ अम्ल घटता जावे अर्थात् वह स्वास्थ्य होता जावे इन चीजों की मात्रा बढ़ाकर २०% की जा सकती है। पर चिकित्सा आरम्भ करते ही इन चीजों का न प्रयोग करना ही अच्छा है क्यों कि आरम्भ में शरीर की शुद्धी यज्ञ तथा वस्तीकर्म द्वारा करना है। उन औषधियों के विष भी निकालना है जो अप्राकृतिक चिकित्सा से शरीर में घुसेड़े गये हैं।

खार मय पदार्थ, जिनसे रक्त में खारापन आता है

(क) ताजा दूध और दूध से बने पदार्थ, घी, मक्खन दही, और

मठा जो खट्टा न हो दही और मठा अच्छा क्षारमय पदार्थ है। क्षय-रोगी को दूध गाय या बकरी का और उन्ही का दही तथा मठा प्रयोग करना चाहिये। दूध और मठा आरम्भसे ही प्रयोग किया जा सकता है पर घी और मक्खन उस समय सेवन करना चाहिये जब रोग की कुछ कमी और शुद्धी यज्ञ-चिकित्सा द्वारा हो जावे। हां घी से छौंकने में कोई दोष नहीं है पर कोई चीज उसमें तली न जावे। जब शुद्धि होकर कुछ शक्ति बढ़ जावे तब पहिले मक्खन और तब घी खाना आरम्भ करना चाहिये। यज्ञ के लिये भी गाय का ही शुद्ध घी लेना चाहिये। यज्ञ–चिकित्सा करने वाले रोगी को एक गाय और एक बकरी अपने पास रखने से ही ठीक काम चल सकेगा। बकरी का दूध पीवें गाय के दूध का मठा व दही खावें तथा घी से यज्ञ करे जब घी और मक्खन खाने योग्य हो जावें तब गाय का घी और मक्खन खावें। गाय और बकरी को निम्नलिखित वस्तुऐं खिलाने से दूध औषधि का काम देता है।

(१) मूली की जड़ व पत्ते (२) मेंथी का साग (३) कचनार की फली (४) विष्णु कान्ता (५) कांस (६) मकोय (७) गिलोय (८) सहदेवी (९) शतावर (१०) गाजर (११) बिसौटा (अडूसा या रूसा) (१२) हरे व सूखे जौ (१३) पीपल के पत्ते (१४) असगंध (१५) कूट (१६) ब्रह्मी (१७) नगेन्द्र बामडी (१८) खुबकलां हरी इत्यादि।

गदहोका दूध और स्त्री का दूध इस रोग की महौषधि हैं जिनका उपयोग कर तथा चिकित्सा के अन्य साधनों को ठीक ठीक बरतने से असाध्य रोगी भी आरोग्य हो जाते हैं स्त्री का दूध स्तन से ही चार पांच बार दिन में पिया जावे। तो सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा न हो सके तो दिन में [illegible] बार एक एक छटांक दूध तुरन्त का निकाला दिया जावे।

गदही के दूध देने की विधि यह है कि पहिले दिन युवा रोगी को दूध ४ तोले ताज़ा दुहा हुआ तुरन्त पिलावें दूसरे दिन आठ तोले इसी प्रकार रोज चार तोले बढ़ाकर २८ तोले तक बढ़ावें। फिर एक सप्ताह तक उसी मात्रामें पिलाते रहें उसके पश्चात् ४, ४ तोला रोज घटाकर ४ तोला पर ले आवें। दूध सर्वदा ताज़ा होना चाहिये जब अधिक मात्रा बढ़े तो भूख के अनुसार एक समय में उतना ही दें जितनी रोगीकी रुचि हो, पूरी मात्रा दिन भरमें दे सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी अवस्थामें अन्य भोजन कम कर दें अथवा बन्द कर दें क्योंकि भूख से अधिक कोई भी वस्तु लाभ नहीं कर सकती। जो रोगी दिन भरमें भी २८ तोला दूध न पी सके तो उसे कम पिलावें यदि इस प्रकार नित्यप्रति बढ़ाते हुए इतने दूध का प्रबन्ध न हो सके तो फिर जितना मिल सके पिलावें। अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि गदही तथा स्त्री का दूध इस रोग में रामवाण औषधि का प्रभाव रखता है। सूखा के अनेक बालक तो हमने केवल गदही का दूध पिलाकर विना अन्य साधनों के भी अच्छे किये हैं हां शुद्ध वायु का प्रबन्ध भी किया गया था। डाक्टर एन० सी० घोष एम० डी० ने लिखा है कि एक मृत प्राय यक्ष्मा रोगी को स्त्री का दूध पिलाकर आरोग्य किया ४–५ बार में पाव भर के निकट स्त्री के स्तन से दूध पिलाया जाता था और होम्योपैथिक दवा दी जाती थी, रोगी को भोजन और रहन सहन प्राकृतिक था।

(ख) सभी मीठे फल और ऐसे फल जो पंककर मीठे हो जाते हैं- सन्तरा, नारंगी, चकोतरा, अनन्नास, नीबू कुछ खट्टे होवें पर भी क्षारमय हैं। क्षय-रोगी चकोतरा को छोड़कर इन में से अन्य फल ले सकता है। मुसम्मी, शरीफा, मीठा आलू बुखारा, मीठा आलूचा, लीची, सेब, अनार (मीठा),

खुमानी, पहाड़ी नाशपाती (नाग), गन्ना काला या धून अथवा देशी। जो सदा से भारतवर्ष में होते हैं। अंग्रेजी राज्य ने उड़ीसा इत्यादि का जो नवीन प्रचार किया है वह सब बादी होने से क्षय रोगी के खाने योग्य नहीं। अंगूर, किशमिश, मुनक्का, अंजीरें, पिंडखजूर सब क्षारमय हैं और क्षय-रोगी ले सकता है। खिन्नी, कसेरू भी खा सकता है। पपीता, खरबूजा, मीठे आड़ू, आम, (देशी मीठा पतले रस का) लोकाट, शहतूत, बेल, खीरा, रसभरी, स्टाबरी भी खा सकता है।

(ग) सभी पत्तीदार साग भाजियां और ऐसी फलदार हरी भाजियां, जो जमीन के ऊपर होती हैं, जैसे लौकी तुरई, नेनुआ, परवल, टिन्डा, टमाटर, परोरा क्षारमय हैं और क्षय-रोगी ले सकता है।

(घ) कई कन्द भाजियां जैसे शलजम, गाजर, मूली क्षारमय हैं और क्षय-रोगी के योग्य हैं। मूली इस रोगकी औषधि है।

(ङ) ऐसा आटा गेहूँ का जिसका चोकर नहीं निकाला गया है, ऐसे चावल जिनकी ऊपर की भूसी कन नहीं निकाला गया है, अर्थात् घर की चक्की का हाथ का पिसा आटा और घर का कुटा बिना पालिश का चावल क्षारमय है और क्षय-रोगी के योग्य है। अकसर लोग चोकरको गुणदायक समझ आटे में ऊपर से मिला लेते हैं यह भी ठीक नहीं है न चोकर को निकालना चाहिए न ऊपर से मिलाकर खाना चाहिए। समूचा गेहूँ भी उबाल कर दिया जा सकता है कुछ रोगी उसे बहुत पसन्द करते हैं। गेहूँ का दलिया भी क्षारमय है और रोगी के योग्य है।

(च) दाल के स्थान में समूची मूंग और मसूर अधिक क्षारमय है अतः यही प्रयोग करना चाहिये कभी २ मूंग की धोई व अरहर की दाल भी ले सकते हैं। जब शक्तिशाली हो जाने

पर ही पच सकेगा जब रोग दूर हो चुका हो, वह बादी है। रोगी अवस्था में उर्द का अथवा उसके बने पदार्थ का प्रयोग नहीं होना चाहिये।

(छ) गुड़ और शहद क्षारमय है और खंडसार की देशी शकर भी। पर मिल की सफेद शकर हानिकारक है। क्षय-रोगी को शहद और देशी शकर तो प्रयोग करना चाहिये, गुड़ को एक दो बार प्रयोग कर देखें, जब अनुकूल पड़े तो प्रयोग करें, अन्यथः नहीं प्रायः रोगियों को अनुकूल नहीं पड़ता। मशीन की शकर का न खाना ही अच्छा है। दूध में शहद डाला जा सकता है वैसे भी खाने के साथ शहद एक दो तोले खाना अच्छा है। यह शरीर के मलों को निकालता है और शरीर को शक्ति देता है। शुद्ध शहद का प्रबन्ध अवश्य रखना चाहिये।

(ज) भोजन में नमक आवश्यक समझा जाता है पर क्षय-रोगी यदि कुछ समय को नमक छोड़ कर प्राकृतिक नमक से काम चलावें तो अच्छा है जो उसे साग, सब्जी, फल और दूध में मिल जाता है। ऐसा न कर सके तो बहुत थोड़ी मात्रा में सेंधा नमक जिसके बड़े बड़े ढेले होते हैं खाना चाहिये। जब रोग अधिक समय तक पीछा करे और यज्ञ चिकित्सा से भी शीघ्र लाभ न हो रहा हो तो कुछ समय के लिये नमक अवश्य ही छोड़ दें। नमक के बिना भी उबली तरकारी तथा आम, पपीता, नाशपाती इत्यादि फलों से रोटी स्वाद से खाई जा सकती है।

पाठ ११ (क)

भोजन के अंश

ऊपर कुछ विवरण भोजन के विषय में दिया है, पर यह विषय बड़े महत्व का है। अतः इस सम्बंध में और लिखना भी आवश्यक प्रतीत होता है। इस सम्बंध में आधुनिक खोज एक दूसरे प्रकार से हुई है। पहिले यह देखा जाता है कि किस रोगी में रोग होने का कारण कौन से विटामनों की और कौन से प्राकृतिक लवण की कमी है फिर जिन पदार्थों में वही विटामिन और लवण अधिक मात्रा में होता है वह अधिक खाने से रोग के नाश होने में भोजन से सहायता मिलती है। ऐसा भोजन औषधि का कार्य करता है। प्राकृतिक चिकित्सा में इस आधार पर भोजन का बड़ा महत्व समझा जाता है। पहिले विटामिन को ही लीजिये—

१—विटामिन "ए" साधारण तौर से शरीर के बढ़ने और पुष्ट होने के लिये आवश्यक है। आंखों को शक्ति भी इसी से मिलती है। शरीर की निर्बलता इससे दूर होती है। यह विटामिन दूध, घी, मक्खन, गाजर, टमाटर, पालक का साग, मूली और मीठे आलू में जो प्रायः गहरे लाल रंग का होता है मिलता है। आलू क्षय रोगी के लिये हितकर नहीं है फिर भी लाल आलू कभी कभी मय छिलके के खाया जा सकता है, रोज नहीं।

२—विटामिन "बी" नाड़ी संस्थान (nervous system) के लिये आवश्यक है। नाड़ी संस्थान की निर्बलता से जो रोग होते हैं उन में इस विटामिन से बहुत लाभ होता है। यह टमाटर, पालक, गाजर, करमकल्ला, सेम, मटर, प्याज, चुकन्दर, फलों के रस, छिलके सहित अनाज गेहूँ, चावल, जौ, मटर, लोभिया में अधिक हैं। क्षय-रोगी इन चीजों में से टमाटर,

पालक, गाजर, प्याज़, हरी मटर, चुकन्दर, फलों के रस, छिलके सहित गेहूँ, चावल (ऊपर की भूसी उतारी जा सकती है पर भीतर का कन नहीं), जौ खा सकता है।

३—विटामिन "सी" दांत, हड्डी और त्वचा के लिये हितकारी है। रक्त के विकार में बड़ा उपयोगी है। जिन क्षय-रोगियों को रक्तदोष, खुजली इत्यादि दब जाने के कारण (जो प्रायः एक दिन में खुजली दूर करने वाली औषधियों के जादू से दब जाया करता है और अन्त को क्षय-रोग इत्यादि उत्पन्न करने का कारण होता है) क्षय-रोग हुआ हो। जिन के अब भी फोड़ा फुन्सी अधिक निकलते हों, जिन के शरीर में खाज पड़ती हो और जिनको हड्डी का क्षय हो अथवा दांतों में "पायरिया" रोग हो उन में विटामिन "सी" की कमी समझो। यह विटामिन सभी पत्तीदार और हरी भाजियों दूध, संतरे, टमाटर सभी फल, बन्द गोभी, प्याज, गाजर और पालक में विशेष है। आंवले में इसकी मात्रा सब से अधिक है।

४—विटामिन "डी" बालकों के सूखा रोग में (जो एक प्रकार का क्षय ही है) उपयोगी है। यह मक्खन, दूध, छिलके सहित समूचे अनाज, सभी भाजियों और अंगूर में मिलता है। धूप में बैठने से यह विटामिन शरीर में उत्पन्न होता है। एक प्राकृतिक चिकित्सक ने लिखा है कि यदि बालक को धूप में रक्खा जावे (जितनी धूप सही जा सके) और अंगूर का थोड़ासा रस दूध के पश्चात् या पहिले अथवा साथ पिलाया जावे तो कुछ दिनों में सूखा रोग भाग जावे। परीक्षा करना चाहिये। जो मातायें बच्चों के शरीर पर तेल की मालिश करके धूप में लिटा देती हैं वह उन को सूखा रोग से रक्षा करती हैं। यदि वह इतना संयम और करें

कि जब तक बच्चा दूध पीता रहे पुरुष से संसर्ग न करें तो बालक को सूखा रोग होवे ही नहीं। अधिकतर सूखा सहवास के तुरन्त बाद बालक को दूध पिलाने से होता है उस समय दूध विषयुक्त हो जाता है।

५—विटामिन "ई" यह स्त्री के बांझपन को रोकता है और पुरुष के वीर्य में शुक्र कीटाणुओं को शक्ति प्रदान करता है। यह तेल, अनाज, सेम, मटर, मसूर, पालक और बादाम तथा मूंगफली में पाया जाता है। क्षय-रोगी इन में से अनाज, हरी मटर, मसूर, पालक और बादाम खा सकता है।

विटामिन की खोज का कार्य्य जारी है संभव है भविष्य में और विटामिन की खोज हो। अब हम प्राकृतिक लवण अर्थात् खनिज तत्वों का वर्णन करते हैं:—

१—केलसियम (calcium चूना) के अभाव से हड्डियां निर्बल और पतली रहती हैं; रक्त में शक्ति नहीं आती और शरीर पुष्ट नहीं होता। सहनशक्ति, स्मरणशक्ति, काम करनेकी शक्ति तथा योग्यता सब उतनी ही अधिक उत्पन्न होती है जिस अनुताप से चूना हमारे शरीर में हो। चूना ही लोहे को लाल रक्त बनाने में सहायक होता है, इसकी न्यूनता से दांत भी निर्बल हो जाते हैं। मीठी व तेलवाली चीजों की कार्बन दांतों की केलसियम कम कर देती है। इसलिये मिठाई अधिक खानेवालों के दांत कमजोर हो जाते हैं। उस कमी को चूना पूरा करता है और जिन को हड्डी का क्षय हो उन को भी मीठा अधिक न खाना चाहिये। युवा अवस्था के पश्चात् जब हड्डी खूब पुष्ट हो जाती है चूने की अधिक आवश्यकता नहीं होती। पर जिस क्षय-रोगी के भीतर चूने की कमी हो और इसी कारण उसे क्षय-रोग हुआ हो उसे इसकी बहुत आवश्यकता है। शलजम, उसके

पत्ते, बादाम, सूखे अंजीर, दूध, आटे का चोकर, मसूर, मटर, पालक, नीबू, संतरे, वन्दगोभी, मूली और चकोतरे में केलसियम मिलता है। बिना गर्म किये हुए दूध में यह बहुत होता है। गरम करने से यह दूध में ऐसी अवस्था में नहीं रहता जो पच सके।

२—फासफोरस (Phosphorus) की कमी से दिमाग की निर्बलता और थकावट, नाड़ियों की निर्बलता और पतलापन होता है, यह तत्व बादाम, मसूर, बिन छना आटा, जौ, मटर, अखरोट, बन्द गोभी, खीरा, सेब, लौकी, मूली, पालक में पाया जाता है।

३—सोडियम (Sodium) यह ठोस मलों को घोलकर शरीर से बाहर निकालता है। वृक्क, यकृत की पथरियों और जोड़ों में से यूरिक एसिड को पिघलाकर निकालता है और खटास को हटाता है। जब शरीर में खार अपनी मात्रा से कम और खटास अधिक हो जाता है तब वदहज़मी होती है और खट्टी डकारें आती हैं। ऐसी अवस्था में यह लाभ करता है। आधी बीमारी शरीर में खटास बढ़ने से होती है। अतः सोडियम का शरीर में रहना आवश्यक है। यह चूना को सेल्यूशन की अवस्था में और रक्त को खारी रखता है। यह पुट्ठों को बलवान और शरीर को फुर्तीला रखता है। जोड़ों को साफ और लचकदार बनाता है। हड्डियों और दांतों को खराब होने से रोकता है। रक्त में लोहे की सहायता करता है, कब्ज़ दूर करता है, हाज़मा तेज़ करता है, पथरी बनने से रोकता है और रक्त से कारबोलिक ऐसिड निकालता है। यह निम्न चीज़ों में मिलता है :—

दूध, शलजम, सेब, चुकन्दर, मूली, खीरा, अंजीर, बंदगोभी, पालक, किशमिश, गाजर, आलूबुखारा (मीठा), स्टाबरी।

४—आईरन (Iron लोहा) लोहा रक्त का बड़ा आवश्यक अंश है। यह शरीर को गर्मी देता है, रोगों के रोकने की शक्ति उत्पन्न करता है, रक्त को लाल और मस्तिष्क को चैतन्य बनाता है। ओषजन के साथ मिलकर रक्त को खूब साफ़ करता है और मनुष्य में आशावाद, प्रसन्नता और सफलता की तरंग उत्पन्न करता है। हाथ, पैरों का ठंडा रहना, चेहरे का रंग पीला होना, चिड़चिड़ा स्वभाव यह प्रगट करता है कि शरीर में लोहे की कमी है। जिस प्रकार दीवार में लोहे की सलाखें गला देने से वह बहुत मज़बूत हो जाती है, इसी प्रकार लोहे के अंशवाला भोजन हमारे शरीर को लोहा जैसा मज़बूत बना देता है। निम्न लिखित वस्तुओं में लोहा मिलता है :—बादाम, खजूर, छुहारा, अंजीर, आलूबुखारा, किशमिश, मुनक्के, अखरोट, मूली (लाल), पालक, लाल गाजर, बंदगोभी और स्टावरी तथा केला।

५—पोटेशियम (Potassium) की कमी से यकृत की खराबी, कब्ज़ तथा फुन्सियां उत्पन्न होती हैं और ज़ख्म देर से भरते हैं। यह तीव्र खार है, शरीर की शुद्धि करता है और शरीर में विद्युत की भांति चुस्ती लाता है। पुट्ठों और जोड़ों को लचकदार और बलवान बनाता है। दुबले, पतले मरियल से युवकों में पोटाशियम की कमी होती है। तेज़ भागने और पानी में तैरने से इसकी अधिकता होती है। पोटेशियम ओषजन को खेंचकर शरीर में लाता है। इसकी कमी से जुकाम हो जाता है। इनफ्लुएंज़ा भी इसकी कमी से हो जाता है। यह टमाटर, शलजम, लेटिस, प्याज़, दूध, अनन्नास, आलूबुखारा, नीबू, सन्तरा, चुकन्दर, शफ़तालू, नाशपाती, बंदगोभी, करेला, सौंफ, सोया, पालक, मूली, गाजर (ऊपर के हिस्से से बारीक पत्तों सहित), स्टावरी, छिलके सहित आलू में पाया जाता है।

६—सल्फर (Sulphur गन्धक) की कमी से भी यकृत की खराबियां होती हैं और शरीर में विकार इकट्ठे होते हैं। जब यह शरीर में होता है तो शरीर में चुस्ती आती है और यकृत से पित्त अधिक निकलता है। शरीर के भीतर गर्मी और शक्ति उत्पन्न होती है। त्वचा को साफ करके सुन्दर बनाता है और बालों को बढ़ाता है। जो स्त्रियां अपने बालों को अधिक बढ़ाना चाहती हैं उनको चाहिये कि ऐसे भोजन अधिक किया करें जिनमें गन्धक अधिक है। यह छूत के रोगों के आक्रमण से बचाता है और शरीर के विकारों को निकालता है। गंधक शरीर में फासफोरस के प्रभाव को कायम रखती है। मोटे आदमियों को इसकी और भी आवश्यकता है अथवा त्वचा के रोग और गठिया का रोग उत्पन्न हो जाता है। यह बात अब सिद्ध हो चुकी है कि त्वचा के रोग अधिक दिन तक रहने से क्षय-रोग हो सकता है। निम्नलिखित पदार्थों में यह मिलता है:—

शलजम, पालक, मूली, प्याज की पत्ती, शफतालू, बे छना आटा, सन्तरा, सरसों के तेलमें गन्धक है जो शरीर पर मलने से रक्त में प्रवेश कर जाता है।

७—आयोडीन (Iodine) की कमी से गिल्टियों की बीमारी होती है और शरीर में विकार एकत्रित होते हैं। यह शरीर का एक बड़ा आवश्यक भाग है, यह कीड़ों को मारता है, क्षतों को साफ करता है, पीप पड़ने को रोकता है, हर अवस्था में इसकी आवश्यकता है। गर्भवती स्त्रियों को इसकी विशेष आवश्यकता है। जिन बालकों में इसकी कमी होती है वह अधिक बीमार रहते हैं। समुद्र किनारे रहने वालों में यह अधिक होती है। जिनके शरीर में आयोडीन अधिक होती है वह बहुत कमजोरी होते हैं। शिवाजी, हरीसिंह नलवा जैसे वीरोंमें आयोडीनकी ही अधिकता थी।

यह शरीर में गिल्टियों के कार्य को तेज़ करती है। यह बालों को बढ़ाती और उनकी स्याही स्थिर रखती है जब यह गिल्टियां सुस्त हो जाती हैं तब शरीरकी अन्य गिल्टियां भी सुस्त हो जाती हैं इससे दिमाग़ नूवीन नवीन अविष्कार सोचता है। डाक्टरों ने परीक्षण किये हैं कि यदि किसी आदमी को (Thyryd Glands) खिलाकर बाद को कोई विष दिया जावे तो विषका प्रभाव न हो। अमेरिका में जो वृद्धों को युवा बनाने की तरकीब का उद्योग किया जा रहा है वह भी इसी (Thyryd Glands) के आधार पर है और इसमें आयोडीनकी ही अधिकता है। न्यू हेल्थ एसोसिएशन लन्दन ने आयोडीन के विशेष लाकट बनवाये हैं उनका कहना है कि इनके पहिनने से लोग छूत के रोगोंसे बचे रहते हैं। यह इन चीज़ों में मिलता है :—

गाजर, आलू, बन्दगोभी, नाशपाती, अनन्नास, बकरी का दूध, समुद्र के भीतर उत्पन्न होने वाली घास इत्यादि।

२—क्लोरीन (Chlorine) यह शरीर का धोबी है, यह मैल की सफाई करता है विशेष रूप से पेट और आंतों की, इसकी कमी से शरीर में बहुत ज्यादा मात्रा में विकार इकट्ठे होते हैं, यह चरबी को घटाता, विषों को मारता और कोषों (Cells) को तेज़ करता है, मल को निकालता और अल-ब्यूमन को तोड़ता है। पाचन में सहायता देता है, इसकी कमी से जुकाम हो जाता है और पेट फूल जाता है। चित्त उदास रहता और मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाता है। दांतों से रक्त आना कलोरीन की कमी को प्रगट करता है, क्लो-रीन की अधिकता से भय और कायरता उत्पन्न होती है। यह इन चीज़ों में मिलता है:—

गाजर, टमाटर, पालक, बकरी का दूध, मूली, बन्द-गोभी, खजूर, नीबू, अनन्नास, नारियल, बिना छना आटा।

६—मेगनेशियम (Magnesium) की कमी से नाड़ियों की खराबी, बेचैनी और खून में खटाई की अधिक मात्रा होती है, तथा कब्ज और मरोड़ उत्पन्न होती है, शरीर में कहीं अधिक दर्द हो तो समझो इसकी कमी है। फासफोरस और कैलशियम के साथ मिलकर यह हड्डियों, दांतों और खोपड़ी को बलवान बनाता है। जिस मनुष्य में खटाई बढ़ जावे उसे इसकी आवश्यकता है। यह इन चीजों में पाया जाता है:—

अंजीर, पालक, अंगूर, संतरा, रसभरी, खट्टेसेब, टमाटर, आलूबुखारा, किशमिश, नीबू, खजूर, बन्दगोभी, चुकन्दर, बादाम और चोकर।

उपरोक्त आवश्यक खनिज पदार्थों के अतिरिक्त दो चीजों का यहां और उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है जिनका भोजन से सम्बन्ध है और वह क्षय-रोगी के लिये अत्यन्त आवश्यक है:—

१—ओषजन (Oxcygen) यद्यपि यह गैस है पर भोजन से भी प्राप्त होती है, यह रक्त को साफ करती है शरीर में गर्मी और जीवन प्रदान करती है, उत्साह और उमंग को बढ़ाती है। भीतर के मैल को जला देती है और रोग को भगाती है। इसकी कमी से रक्त पीला पड़ जाता है और निर्बलता हो जाती है। जिनके शरीर में ओषजन कम हो जाता है उनके शरीर में सुस्ती आने लगती है। जुकाम होकर खांसी हो जाती है और क्षय-रोग हो जाता है। इसी की प्राप्ति के लिये क्षय-रोगी पहाड़ों पर भेजे जाते हैं। क्योंकि वहां चीड़ के वृक्षों में बहुत ओषजन होता है। पीपल के वृक्ष के नीचे रहने से भी ओषजन बहुत मिलता है। इसकी कमी से क्षय-रोग होता है और इसकी पुनः अधिक प्राप्ति से ही

रोग जा सकता है। यह सबसे अधिक तो यज्ञ करने से प्राप्त होता है और खाने में अंगूर, सेव, नीबू, सन्तरा, हरी मिर्च, ताजे धारोष्ण दूध में मिलता है यूकिलिप्टस के वृक्षके नीचे भी ओषजन अधिक मिलता है।

२—रेडीयम (Radium) यह अभी थोड़े समय से ही ज्ञात हुआ है इसका सबसे बड़ा गुण क्षतों को भरना है। अभी तक इसके पूरे परीक्षण नहीं हुए पर यह ज्ञात हुआ है कि यह गाजर में बहुत है। अतः क्षय-रोगी को गाजर का उपयोग लाभदायक है। कच्ची भी खाई जा सकती है, तरकारी और हलुवा भी खाया जा सकता है।

रोगी को यह देखना चाहिए कि उसके भीतर कौन तत्व की और विटामन की न्यूनता हुई है जिसके कारण उसे क्षय-रोग हुआ, जिस विटामन तथा तत्व की न्यूनता ज्ञात हो उसको बढ़ाने वाले पदार्थ भोजन में अधिक खाना चाहिये यह न्यूनता यदि स्वयं न ज्ञात कर सकें तो इस काम में किसी चिकित्सक से सहायता ली जा सकती है फिर भोजन इस पुस्तक के आधार पर किया जावे। अब एक दूसरे ढंग पर भोजन के सम्बन्ध में विचार करते हैं। यह बात प्राचीन काल से मानी जाती है कि अग्नि, जल, वायु, प्रकाश और पृथ्वी से हमारे शरीर का निर्माण हुआ है। आजकल के वैज्ञानिकों ने इसको इस प्रकार माना है कि हमारे शरीर में १४ तत्व होते हैं और यदि एक मनुष्य का भार १५४ पौंड हो तो इन तत्वों की मात्रा उसके भीतर इस प्रकार होगी:—

१—आक्सीजन १११ पौंड
२—हायडरोजन १५ „
३—कारबन २० „
४—नाइटरोजन ३ „ ६ औंस

५—फासफोरस	१ पौंड	१२ औंस	१६० ग्रेन
६—सल्फर		२ "	२१७ "
७—कैलशियम	२ "		
८—फ्लोरीन		२ "	
९—क्लोरीन		२ "	३८२ "
१०—सोडियम		२ "	११६ "
११—आइरन			१०० "
१२—पुटेशियम			२६० "
१३—मगनेशियम			१२ "
१४—सिलीका			२ "

यह तत्व शरीर में प्रथक् प्रथक नहीं मिलते किन्तु भिन्न भिन्न ढंगों से संयुक्त होते हैं जैसे पहिले दो तत्व अर्थात् आक्सीजन और हायडरोजन परस्पर मिलकर जल बनाते हैं जिसकी मात्रा हमारे शरीर में ⅔ होती है। आक्सीजन और कारबन के परस्पर मिलने से जठराग्नि उत्पन्न होती है तथा शरीर का ताप ठीक रहता है। नाइटरोजन अन्य पदार्थों के साथ मिलकर हड्डी, रक्त, रग, पुट्ठे और मांस बनाता है।

सोडियम, पुटेशियम, कैलशियम और मगनेशियम तत्व क्लोरीन, फ्लोरीन, गन्धक और फासफोरस के साथ मिलकर कुछ नमकों के रूप में हमारे रक्त, कफ, पित्त और स्वेद इत्यादि में मिलते हैं। जैसे सोडियम और क्लोरीन परस्पर मिलकर सोडियम क्लोराइड (खाने का नमक) बनाते हैं जो हमारे रक्त में सर्वदा पाया जाता है। इसी प्रकार फासफोरस के आक्सीजन और कैलशियम के साथ मिलने से फासफेट आफ लाइम और इसके आक्सीजन व मेगनेशियम के साथ मिलने से फासफेट आफ मेगनेशियम बन जाते हैं जो नमक हमारी हड्डियों और नाड़ियों इत्यादि में पाये जाते हैं। आईरन अर्थात् लोहे से

रक्त का रंग लाल होता है और सिलीका से दांतों में कड़ाई और चमक आती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट प्रगट होता है कि हमारे शरीर में पहिले चार तत्व अर्थात् आक्सीजन, हायड्रोजन, कारबन और नाइट्रोजन अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में होते हैं। अर्थात् हमारे शरीर का अधिक भाग इन्हीं से बना हुआ है। अतः हमें भोजन में भी इन्हीं वस्तुओं की अधिक आवश्यकता है, इनमें से पहिले दो अर्थात् अक्सीजन और हाइड्रोजन तो वायु और जल द्वारा बहुत कुछ हमारे शरीर में पहुँच जाते हैं, अतः भोजन में अधिकता हमें कारबन और नाइट्रोजन की आवश्यकता रहती है। दूध और गेहूँ इत्यादि नाइट्रोजनी और चावल, शकर इत्यादि कारबन वाला भोजन है। एक स्वस्थ मनुष्य का स्वास्थ्य विना इस प्रकार के भोजन के स्थिर नहीं रह सकता। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भोजन को ५ भाग में बांटा है (१) प्रोटीन अर्थात् मांस बनानेवाला भोजन, (२) चिकनाई, घी, तेल इत्यादि, (३) कारबो हाइड्रेटस् अर्थात् शकर और निशाशता वाला भोजन, (४) नमक, (५) जल।

१—प्रोटीन से हमारे शरीर के रग, पट्ठे, मांस इत्यादि बनते हैं, जिस से शरीर में शक्ति आती है और उसका ताप भी ठीक रहता है। यह गेहूं, मूंग, मटर, दूध, दही इत्यादि और फल व सब्जी में मिलता है।

२—चिकनाई, घी, तेल इत्यादि इनमें अधिक भाग कारबन का होता है। यह शरीर में गर्मी व शक्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त इसे मोटा भी करती है। पर अधिक खाने से पाचन विकार होकर दस्त आने लगते हैं। क्षय-रोगी को जो चिकित्सक शक्ति के विचार से इस प्रकार का अधिक भोजन खिलाते हैं वह उसे मृत्यु के द्वार पर पहुंचा देते हैं।

३—कारबोहाइड्रेटस् (Carbohydrates) इस प्रकार का भोजन भी शरीर में शक्ति और ताप उत्पन्न करता है पर इस की विशेषता यह है कि यह उपरोक्त भोजन की अपेक्षा पच शीघ्र जाता है। इस प्रकार का भोजन सब मीठे फलों, चावल, अखरोट इत्यादि से मिल सकता है। शकर में शत प्रतिशत यही होता है, पर मशीन की शकर आवश्यकता से अधिक साफ करने के कारण हनिकारक हो जाती है। खंडसार की शकर तथा गुड़ में यह दोष नहीं है, गुड़ आंत को शक्ति देता तथा रेचक है। पर क्षय रोगी को गुड़ का प्रयोग तब ही करना चाहिये जब अनकूल हो।

४—नमक—प्रकृति ने नमक सब्जी तथा फलों में ऐसी सूक्ष्म अवस्था में रक्खा है कि यदि उस नमक को हीं हम इस मात्रा में खावें कि और नमक की आवश्यकता न हो तो हम बहुत रोगों से बचे रहकर स्वास्थ्य लाभ कर सकते हैं। ऐसा न होने पर हमें अपने पाचक अंगों की सहायता केलिये ऊपरी नमक की आवश्यकता है। फिर भी फलों और सब्जी के भीतर जो प्राकृतिक नमक है उस की हमें कुछ न कुछ आवश्यकता रहेगी। क्योंकि देखा गया है कि जिन लोगों को फल या सब्जी अधिक समय तक नहीं मिलते उन को स्करवी इत्यादि अनेक रोग हो जाते हैं। अतः यह पदार्थ भोजन में अवश्य होने चाहिये। क्षय-रोगी को तो इन पदार्थों के बिना आरोग्यता प्राप्त करना लगभग असम्भव है। यदि क्षय-रोगी प्रथक नमक न खावे तो शीघ्र आरोग्य हो।

५—जल—जल के द्वारा ही भोजन का रस, रक्त, इत्यादि शरीर के हर अंग में पहुँचते हैं और इस से पाचन में सहायता मिलती है। शरीर के विकार इसके द्वारा मल, मूत्र व पसीना के रूप में शरीर से बाहर निकलते हैं। यदि यह विकार शरीर से न निकलें तो हम० मर जावें। अतः हमें पानी से

हरना न चाहिये और अपनी आवश्यकता के अनुसार शुद्ध जल इस विचार से पीना चाहिये कि वह हमें आरोग्यता प्रदान करेगा। हां एक बात याद रखना चाहिये कि भोजन के समय दो चार घूंट से अधिक पानी भोजन पचाने वाले रसको निर्बल करता है। अतः भोजन समय तो बहुत थोड़ा पानी या रसा की तरकारी हो तो पानी न पीना चाहिये। उसके १½ घंटे पश्चात् तथा अन्य समय में जीभरकर पानी पीना चाहिये। पानीसे रक्त शुद्ध होता है।

पाठ ११ (ख)

भोजन की सूची

ऊपर जो भोजन विषयक सिद्धान्त वर्णन किए गये हैं इनके आधार पर हरएक समझदार क्षय-रोगी अपने लिये भोजन चुन सकता है। पर ऐसे रोगी भी होवेंगे जो इतनी समझ नहीं रखते अतः उनके सुभीते के लिये नीचे हम एक सूची खाद्य पदार्थों की देते हैं जिनमें से अपने लिये भोजन चुनना और सुगम होगा।

१ सुगमता से पचने वाले पदार्थ—

१—(१) संतरे का रस, (२) अनार का रस, (३) अंगूर का रस, (४) मुसम्मी का रस (५) सेव का रस, (६) दूध के फैन जिन रोगियों की प्रवृत्ति कब्ज की ओर हो उनको नं० १, ३, ४ अधिक उपयोगी हैं और जिनकी दस्त की ओर है उनको नं० २ विशेष रूप से उपयोगी है। जिनको दोनों बातों में से कुछ नहीं है या कब्ज की प्रवृत्ति है पर बहुत निर्बल नहीं हैं उनको नीबू का रस भी बहुत उपयोगी है, यह शरीर के विकारों को निकालता है। पर जो बहुत निर्बल हैं उनको नीबू के स्थान में यह काम संतरे से लेना चाहिये। बहुत निर्बल से अभिप्रायः उन लोगों से है जो पलंग से नहीं उठ

सकते। ऐसे निर्बल रोगियों को गाय व बकरी के दूध के ताज़े झाग उपयोगी हैं।

२—अन्य फलों के रसः— जैसे नाशपाती, आलुबुखारा, लीची, आड़ू, कसेरू, आमले, खिन्नी, रसभरी, आम (देशी पक्के रस वाले) अनन्नास, स्टावरी, लुकाट, शहतूत, नारंगी, खीरा, चकोतरा मिट्ठा, जामुन, खरबूजा, आलूचा, खुमानी, नाग,(नास)फालसा,शरीफा,(सीताफल)गन्ना,अंजीर, पपीता।

२ कुछ अधिक परिश्रम से पचने वाले पदार्थ—

उपरोक्त सब फल तथा सब्ज़ी के जूस तथा सब्ज़ी और गाय अथवा बकरी का धारोष्ण दूध, माठा, दही, साग, सब्ज़ी जो क्षय-रोगी खा सकता है यह हैं :—

परवल, परोरा, लौकी, शलजम, गाजर, तुरई, मूली, पपीता, भसीढ़ा, पालक, बथुआ, टमाटर, तुरई का फूल, लसोड़ा, करेला, कचनार, (बन्दगोभी और आलू कभी कभी) चुकन्दर, प्याज़, किशमिश, मुनक्का।

३ अन्य भोजन—

मूंग, मसूर, कभी कभी अरहर की दाल, बिना छने आटे की रोटी, चांवल, दलिया, खिचड़ी, लपसी गेहूँ व जौ की, चीला मोटे आटे का, चनों का रसा।

४ वह भोजन जो कुछ आरोग्यता प्राप्त करने पर अथवा वह रोगी खा सकते हैं जो अभी बहुत निर्बल नहीं हुए

बादाम, अखरोट, खरबूजे की गरी, खोपरा, खजूर, सूखे अंजीर, चिलगोजा, पिस्ता, हलुवा, मक्खन, मलाई, पूरी आटे की, पराठा, मूंग का पापड़, पकौड़ी, पुआ, खीर, हरी मटर व हरे चने। निर्बल रोगी हरे चनों का रसा पी सकते हैं। 'घी' निर्बल रोगी घी में बघारी तरकारी खा सकते हैं, पर ऊपर से

घी न डालें) 'केला' पर इन चीजों के खाते समय इस बात का ध्यान रक्खें कि खटाई उत्पन्न करने वाले पदार्थों की मात्रा १५ व २० प्रतिशत से अधिक न हो। जैसे बादाम, खीर इत्यादि खावें तो उससे अधिक संतरा इत्यादि खावें।

पाठ ११ (ग)

भोजन सम्बंधी अन्य नियम

१—यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये कि भोजन करने का अभिप्राय शरीर को पुष्ट बनाना है। न कि केवल स्वाद प्राप्त करना या नियत समय पर अवश्य ही खाना। जब शरीर को आवश्यकता होती है तब भूख लगती है और न खाने पर क्षण प्रति क्षण वह बढ़ती जाती है। ऐसी अवस्था में शरीर और स्वास्थ्य की दृष्टि से जो भी भोजन किया जाता है उसका स्वादिष्ट लगना अनिवार्य है। क्षय-रोगी को लम्बे उपवास करने की हम सम्मति कदापि नहीं देते क्योंकि इससे निर्बलता बढ़ती है जो हानिकारक है पर बिना भूख के खाने की अनुमति भी नहीं दे सकते जैसा कि कुछ चिकित्सक भ्रम वश कह देते हैं। क्योंकि इससे रोग और निर्बलता दोनों बढ़ते हैं जो और भी हानिकारक है। निष्कर्श यह है कि भोजन भूख लगनेपर ही करना चाहिये।

२—रोगी को अपनी शक्ति के अनुसार भोजन का क्रम बना लेना चाहिये और उसके अनुसार समय पर भूख लगने पर वही भोजन करना चाहिये। इससे समय पर भूख लग ही आवेगी। यदि किसी समय न लगे तो उस समय का भोजन न करें। दूसरे समय भूख लगने पर दूसरा भोजन करें। यह तरीका बुरा है कि समय कुसमय जब इच्छा हुई खा लिया। जैसे आपने यह नियम बनाया है कि प्रातः

वस्ती अथवा बाथ लेने के पश्चात् यज्ञ करेंगे और यज्ञ के

पश्चात् गाय अथवा बकरी का धारोष्ण दूध पीवेंगे। इस प्रोग्रम के अनुसार दूध का प्रबन्ध हुआ। पर आप को किसी दिन भूख नहीं है अब आप प्रतीक्षा कर रहे हैं समय को टाल रहे हैं घंटे दो घंटे बाद कुछ ही भूख लगने पर अथवा विचार करने के कारण जबरदस्ती की भूख लगाकर ८ बजे के स्थान पर १० बजे दूध पी लिया, ११ बजे आप का समय रोटी सब्जी अथवा फल खाने का था। जब १० बजे दूध पिया है तो फिर ११ बजे फिर भूख नहीं लगेगी फिर आपने जैसे दूध पिया वैसे ही जबरदस्ती से ११ व १ बजे भोजन कर लिया ऐसी बात त्याज्य है, होना यह चाहिये कि यदि ८ बजे दूध के समय भूख नहीं थी तो आप एक दम मना करदें कि आज दूध नहीं पीवेंगे और कुछ इच्छा होने पर नीबू पानी में निचोड़ कर व संतरे का अर्क पीवें। ऐसा करने से आशा है ११ बजे आपको भूख लग आवेगी तब भोजन करें और यदि दुर्भाग्य वश उस समय भी भूख न लगे तो उस समय भी भोजन न करें और ठीक तरीके पर वस्ती कर्म करें जब सायंकाल को भूख लगे तब भोजन करें। कहने का मतलब यह है कि बिना भूख खाना ऐसा ही है जैसे कोई आदमी मई के महीने में धूप में से आकर आग तापने लगे। इस प्रकार दो दिन का भी उपवास हो जावे तो कोई हानि नहीं है।

३—कुछ पदार्थ विकार निकालने वाले हैं कुछ पुष्टि देने वाले हैं कुछ दोनों काम करते हैं। नवीन रोगों में केवल विकार निकालने वाले पदार्थ लेते हैं। पर क्षय-रोग में ऐसा करना उचित नहीं है इसमें दोनों प्रकार के पदार्थों से काम चलता है। जिससे धीरे धीरे विकार भी निकलते रहें और थोड़ा थोड़ा बल भी मिलता रहे। ऐसे पदार्थों का विवरण इस प्रकार है :—

(क) तेज़ी से विकार निकालने वाले पदार्थः— नीबू, संतरे का रस, रसभरी का रस, अनन्नास और ऊख का रस इत्यादि।

(ख) कम तेज़ी से विकार निकालने वाले पदार्थः— सेब, नाशपाती, लुकाट, आलूचा, साग इत्यादि।

(ग) विकार निकालने के साथ पुष्टि देने वाले पदार्थ :— सेब, गाज़र, गन्ना, अंगूर, दूध, माठा इत्यादि।

(घ) पुष्टि देने वाले पदार्थ :— रोटी, चांवल, हलुवा, चीला, पुआ आदि। क्षय-रोगी को यह सोचना चाहिये कि मुझे अपने शरीर से विकार तो निकालना ही हैं तब ही मेरा रोग जावेगा पर एकदम विकार निकालने की शक्ति अब मेरे शरीर में नहीं हैं। अतः धीरे धीरे विकार भी निकल जावें और शक्ति भी आती जावे ऐसा सोचकर भोजन अपनी इच्छानुसार चुन लेना चाहिये। हमारी सम्मति में संतरा और दूध ऐसे पदार्थ हैं कि जिनका अधिक से अधिक प्रयोग किया जा सकता है। दूधसे भी अधिक संतरे का। पर अकेले संतरे से पुष्टि नहीं आ सकती उसके लिये सबसे उत्तम पदार्थ दूध ही है।

४— रोग के आरम्भमें अथवा जब कभी भूख न होने के कारण उपवास किया जावे तो भूख लगने पर पहिले संतरा या किसी अन्य फल का रस पीना चाहिये। उसके पश्चात् फल, तरकारी अथवा दलिया और तब रोटी खाना चाहिये तो भूख खुलती जाती है। ऐसे समय में दोनों समय अथवा एक समय वस्ती कर्म करना आवश्यक है, जो उपवास के समय से ही आरम्भ कर देना चाहिये।

५—भोजन में कई चीजों को एक साथ खाना पाचन क्रिया को कठिन करना और विकार के निकलने की राह में अड़चन डालना है। अतः क्षय-रोगी जब प्राकृतिक यक्ष्म चिकित्सा

आरम्भ करें तो पहिले एक समय में केवल एक फल का रस और दूसरे समय केवल दलिया या फल, तीसरे समय केवल दूध, चौथे समय केवल रोटी और एक सब्जी लेवें। धीरे धीरे जब यज्ञ-चिकित्सा द्वारा उसके शरीर में बहुत से कीटाणुओं का नाश हो जावे। वाथ द्वारा कृमियों के मृत शरीर तथा शरीर के अन्य विकार सारे शरीर से एकत्रित होकर कोलन में आकर वस्ती कर्म द्वारा बाहर निकल जाने से उसकी भूख कुछ चमकने लगे तो एक समय में कई चीजें भी ली जा सकती हैं, फिर भी बहुत अधिक मिश्रण हानिकारक होगा।

६—ऐसा देखने में आया है कि कोई पदार्थ किसी को अनुकूल ही नहीं पड़ता ऐसी अवस्था में उसे छोड़ देना चाहिये। पर दूध, संतरा और नीबू के लिये बिल्कुल छोड़ना ठीक नहीं है क्योंकि आरोग्यता प्राप्त करने में यह तीन चीजें बड़ी सहायक हैं। बहुत निर्बल अवस्था में यदि नीबू से हानि होती हो तो उसका काम संतरे से ले सकते हैं। जो रोगी बहुत समय से दाल रोटी बिस्कुट, मक्खन, अंडा इत्यादि खाकर क्षय-रोग को बढ़ाते रहे हैं कभी कभी उनके भीतर बहुत विकार जमा हो जाते हैं जो संतरा या नीबू खाने पर उभरते हैं और नाक या हलक से पानी के रूप में निकलते हैं। लोग समझते हैं कि इन फलों से हानि हुई पर वास्तव में ऐसा नहीं है ऐसी अवस्था में १ दिन का उपवास करके और दो तीन बार वस्तीकर्म करके विकारोंको निकालने का अवसर देने से ज्ञात हो जावेगा कि रोग घट गया। इस अवस्था में यज्ञ के समय कपूर अधिक जलाना चाहिये अन्य समय में भी दो चार बार दिन में कपूर जलाकर उस का धुआं सूंघना चाहिये। कुछ लोगों को दूध अनुकूल नहीं पड़ता, कुछ को तो वास्तव में अनुकूल नहीं होता और कुछ

को भ्रम होता है। जिनको वास्तव में अनुकूल न हो उनको माठा या दही का प्रयोग करना चाहिये। इन चीजों से डरना न चाहिये। दूध फाड़ कर उस का पानी पीना चाहिये तथा छेना खाना चाहिये। दो भाग संतरे का रस (जो मीठा हो) और एक भाग दूध मिलाकर पीने से दूध पचने लगेगा। जिस रोगी को दस्त आ रहे हों उसे या तो भोजन बन्द कर देना चाहिये या अनार के रस और माठा के अतिरिक्त कोई पदार्थ न लेना चाहिये जब दस्त बंद हो जावें तब धीरे २ दूसरे भोजन पर आना चाहिए। दस्त के पश्चात मूंग या मसूर की खिचड़ी अनुकूल पड़ती है उसके साथ माठा या दही खाया जा सक्ता है।

८—अपने भीतर जिस विटामिन व नमक की न्यूनता हो उस को पूरा करनेवाला पदार्थ भोजन में विशेषता से लेना चाहिये।

९—क्षय-रोगी के लिये कुछ डाक्टर बार २ खाने की अनुमति देते हैं जिस से उस की भूख मारी जाती है। हमारी राय में अधिक से अधिक चार बार खाना बहुत है, सम्भव हो तो तीन बार या दो बार ही तो बहुत अच्छा है। एक साधारण रोगी इस प्रकार खा सकता है :—

प्रातः यज्ञ करने के पश्चात् लगभग ८ बजे :—

दूध या फलों का रस, या दूध और किशमिश अथवा माठा, मधु भी ले सकता है।

मध्यान्हकाल लगभग ११ बजे :—

एक या दो सब्जी और रोटी, मूंग, चावल, सेव, संतरा, पपीता इत्यादि में से कोई भी फल लिया जा सकता है। माठा या दही भी ले सकते हैं।

तीसरे पहर ४ बजे के निकट :—

फल अथवा दूध या फलों का रस। इस समय भी मधु (शहद) ले सकते हैं।

सायंकाल यज्ञ के पश्चात् ७ व ८ बजे के लगभग :—

सब्जी, रोटी अथवा खजूर और दूध। यदि रात को दूध पीने की आदत है तो भोजन के २० व २५ मिनिट बाद पी सकते हैं। रात को दही या मठा न लेना चाहिये। रात के भोजन में रोटी जब ही खावें जब पूरी भूख हो, अन्यथः किशमिश और दूध या खजूर ठीक है।

नोट—जब रोग घटने लगे तब इस में और पौष्टिक पदार्थ जोड़े जा सकते हैं।

१०—भोजन को खूब चबा २ कर देर तक मुंह में रखना चाहिये और भोजन के समय वही व्यक्ति तुम्हारे पास होना चाहिये जिसे तुम प्यार करते हो।

११—भोजन समय न तो बहुत पानी पीना चाहिये न और कोई पतली चीज़ अधिक मात्रा में उसके साथ पीना चाहिये। फलों के रस का एक गिलास पीना है तो अन्य समय में पीवें रोटी के साथ न पीवें, हां रोटी के साथ एक संतरा या सेव या दस बीस अंगुर खा सकते हैं। फल न मिले तो किसमिस या मुनक्का भी खा सकते हैं। मुनक्का, आमला और पोदीना की चटनी भी खा सकते हैं। पर चटनी नित्य न खाना चाहिये इस से पाचन में कठिनता पड़ती है।

१२—दूध, मठा, फलों के रस, सब्जी का जूस भी एकदम न पी जाना चाहिये परन्तु धीरे २ चूस कर पीना चाहिये, इसी प्रकार पानी भी।

१३—भोजन के उपरांत एक बीड़ा पान, इलायची, खाने में कोई

हानि नहीं है पर तम्बाखू खाना या पीना, बीड़ी, सिगरेट पीना अथवा बार बार पान खाना एक दम बन्द कर देना चाहिये।

१३—स्वास्थ्य अवस्था में प्याज़ खाना कोई अच्छी बात नहीं है, क्योंकि वह तामसिक भोजन है। पर क्षय-रोगी अपनी रोगी अवस्था में खा सकता है। रोग दूर होने पर छोड़ देना चाहिये।

१४—अन्य मसालों में क्षय-रोगी धनियां, हल्दी, काली मिर्चा, हरी मिर्चा, सौंफ़, जीरा, अजवाइन, मेथी, अदरक, केसर खा सकता है पर मसाले बहुत ही नाम मात्र को होना चाहिये अधिक मात्रा न हो।

१५—भोजन सर्वदा प्रसन्न चित्त से करना चाहिये। क्रोध की अवस्था में कभी भोजन न करें। भोजन के समय कोई शोक व चिन्ता जनक बात उससे न कहना चाहिये और भोजन को देखकर उसपर कोई आक्षेप करके भोजन न करना चाहिये।

१६—भोजन का स्थान स्वच्छ, सुन्दर और हवादार हो कुछ वृक्षों के गमले इत्यादि रक्खे हों तो और भी अच्छा है। यदि क्षय रोगी चीड़ के वृक्षों के नीचे भोजन करें तो बहुत अच्छा है।

१७—बिना भूख के कभी भी कोई चीज़ न खाना चाहिये यह एक ऐसी आवश्यक बात है कि जिसके बार बार याद दिलाने में भी कोई हर्ज नहीं है। ऐसे कहने वालों के बहकावे में कभी मत आओ कि बिना खाए निर्बलता होगी अतः बिना भूख भी खा लो।

१८—क्षय-रोगी की जब भूख बढ़े तो उसे अन्न अधिक खाने के स्थान में दूध और फल और इनसे उतर कर सब्जी खाने

का प्रयत्न करना चाहिये ताकि भूख बढ़े। अन्न की मात्रा बहुत धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये।

१६—भोजन करने के पश्चात् कुछ देर हंसने बोलने का प्रबन्ध हो अपने प्रेमी से बातचीत करे, गाना बजाना हो अथवा कोई हास्य जनक पुस्तक इत्यादि पढ़ी जावे। कुछ न हो तो अकेले में स्वयं बिना हंसी के जोर जोर से हंसो फिर स्वभाविक हंसी तुमको अपने हंसने पर स्वयं उत्पन्न हो जावेगी।

२०—इस बात को सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये कि भोजन सादा हो, खाद्य पदर्थों का रूप जितना प्राकृतिक होगा और एक भोजन में एक साथ खाने के लिये जितनी कम चीजें होंगी भोजन उतना ही हितकर और स्वास्थ्य प्रद होगा। यदि आप इस सिद्धान्त को अपनावेंगे तो कुछ दिनों में रोटी केवल आम या पपीता, सेव या नाशपाती से बहुत स्वाद से खा सकेंगे और फिर पानी सी पतली दाल जो अभी आवश्यक प्रतीत होती है, भोजन में अखरने लगेगी। और दस बीस चीजें एक भोजन में देखकर आप स्वयं उन को उठवा देवेंगे। यह प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर ही आप स्वास्थ्य लाभ कर सकेंगे।

२१—एक चिकित्सक ने एक निर्धन क्षय-रोगी को भोजन में केवल मूली और उसका साग खिला कर अच्छा किया था। एक दूसरे सन्यासी महात्मा ने बताया कि एक चिकित्सक रोगी को चीड़ के झाड़ (वृक्ष) के नीचे रखकर और चीड़ के फल का दूध पिलाकर अन्य भोजन में बकरी तथा गाय का दूध पिलाकर अच्छा करता था। हमें इनके परीक्षण का अवसर नहीं मिला। निर्धन क्षय-रोगी जो यज्ञ-चिकित्सा न कर सकें परीक्षा कर सकते हैं। हम अपने अनुभव के आधार पर तो यज्ञ-चिकित्सा को ही सर्व श्रेष्ठ समझते हैं।

२२—भोजन सर्वदा ताजा बना हुआ करना चाहिये। देर का रक्खा भोजन प्राणहीन हो जाता है। बासी तो खाना ही न चाहिये। कोई सब्जी भी एक समय की बनी हुई दूसरे समय न खावें।

२३—पीने के लिये साफ पानी हो। बर्फ, सोडा इत्यादि सब त्याज्य हैं। कुछ लोग समझते हैं कि बीमारी में सोडा वाटर लाभ करता है! यह उनकी भूल है। यदि कभी कुपच है तो नीबू मिला पानी सोडा वाटर से अधिक लाभ देगा और सोडा वाटर वाली हानि भी नहीं करेगा।

क्षय-रोगी को पीने के लिये गंगा जल सर्व श्रेष्ठ है। अनेक रोगी गंगा किनारे रहकर स्वास्थ्य हो चुके हैं। कुछ ऐसे पहाड़ी झरनों का पानी भी उपयोगी है जो क्षय-रोगी के लिये लाभप्रद सिद्ध हो चुके हैं। ऐसे एक पहाड़ी झरने का पानी जबलपुर में देवताल पर है, जहां इस समय यज्ञ-चिकित्सक सेनीटोरियम अस्थाई रूप से है।

२४—जब किसी रोगी का रोग बहुत से उपसर्ग करने पर भी काबू में न आता हो तो उसे भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। ऐसे समय भोजन में गाय या बकरी का धारोष्ण दूध और उसका फेन ही लेना चाहिये और बीच के समय में कभी कभी संतरा लिया जा सकता है। धारोष्ण दूध से कुछ रोगी डरते हैं, जिसका कारण कुछ तो केवल पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए डाक्टरों का फैलाया हुआ भ्रम है और कुछ गऊ पालने की प्रथा का अभाव है, जिससे धारोष्ण दूध कभी प्राप्त नहीं हुआ। पर वास्तव में उबालने से दूध के बहुत से गुण नष्ट हो जाते हैं। तपेदिक़ के रोगी को डाक्टर लोग कैलशियम खिलाते और उसी के इंजेक्शन देते हैं। दूध में भी कैलशियम पर्याप्त मात्रा में है और वह

रक्त में मिल जाता है। उबालने से वह नष्ट हो जाता है और दूध पचता भी कठिनता से है। आयुर्वेद में गाय के धारोष्ण दूध के गुण इस प्रकार लिखे हैं :—

गाय का धारोष्ण दूध बात के कोप को शान्त करता है और शरीर पुष्ट करता है। पाण्डु और कामला रोग को दूर करता है, जीर्ण ज्वर शान्त करता है। शरीर की जलन और हाथ पैर तथा आंखों की जलन को दूर करता है, पित्त को शान्त करता है और बिगड़े हुए रक्त को शुद्ध करता है। शरीर के दुबले-पन और घटते हुये वज़न को बढ़ाता है और कठिनता से अच्छे होने वाले रोगों को अच्छा करता है तथा ओजधातु को बढ़ाता है। इसी प्रकार गाय अथवा बकरी के दूध के फ़ेन के गुण इस प्रकार हैं:—

फ़ेन या झाग रुचिकारक, बल वर्धक, त्रिदोष नाशक, अग्नि तेज़ करने वाला, धातु बढ़ाने वाला, शीघ्र तृप्ति करने वाला और हलका है। अतिसार, मन्दाग्नि और पुराने ज्वर में बहुत गुणकारी है। जब दूध का कल्प आरम्भ करें तो फिर एक या दो मास तक अथवा उस समय तक जारी रक्खें जब तक ज्वर इत्यादि काबू में न आ जावें और प्रातःकाल पहिले पानी से वस्ती करें उसके पश्चात ½ पाव व पाव भर ताजे दूध से वस्ती करें।

पाठ १२

औषधि प्रयोग

जैसा कि इसके पूर्व बताया जा चुका है कि यज्ञ-चिकित्सा वेद में वर्णित अनेक चिकित्सा-विधियों में से एक है और उसकी विशेषता यह है कि क्षय-रोगी को बिना इस चिकित्सा के हर अवस्था में पूर्ण आरोग्य होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पर सुगमता से और कुछ शीघ्र लाभ प्राप्त करने के लिये

यक्ष्म-चिकित्सा के साथ जहां हम अन्य साधनों से सहायता लेते हैं वहां औषधि खाना भी एक वैदिक तथा प्राकृतिक साधन है। हम औषधि प्रयोग के ऐसे विरोधी नहीं जैसे विदेशी अविष्कारकों के शिष्य जल-चिकित्सा अथवा प्राकृतिक चिकित्सा करने वाले होते हैं। साथ ही हम उन तेज़ और विषैली औषधियों के पक्ष में भी नहीं हैं जो वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। क्योंकि ऐसी औषधियां जहां अपने प्रथम प्रभाव से किन्हीं रोगों के प्रगट लक्षणों को दबा देती हैं वहां अपने दूसरे प्रभाव से अनेकों रोग उत्पन्न करती हैं जिनको अन्य रोगी तो किसी न किसी प्रकार सह लेते हैं, पर क्षय-रोगी के लिये तो उनकी हानि से शरीर ही छोड़ना पड़ता है। चिकित्सा के आरम्भ काल में हमने स्वयं ऐलोपैथी की ऐसी अनेकों प्रसिद्ध औषधियों को प्रयोग कराने का पाप किया है। पर अब तो बीसों वर्ष परीक्षण के पश्चात हमारा मत यह है कि यदि भोजनमें परिवर्तन करने और अन्य प्राकृतिक साधनों से आरोग्यता प्राप्त की जा सके तो औषधि न खाना ही अच्छा है। यह नियम साधारण रोगों के लिये है। क्षय-रोग जैसे कठिन रोग में खाने की औषधि का भी सहारा लेना हितकर है। पर वह ऐसी न हो कि शरीर के विकारों को दबाकर प्रगट रूप में लाभ, पर वास्तव में हानि पहुंचावे। कोई अनुभूत जड़ी-बूटी जैसे सोमलता, तुलसी, गिलोय, आमला, कूट, शतावर इत्यादि किसी अनुभवी चिकित्सक की सम्मति से यक्ष्म-चिकित्सा के साथ लेने में कोई हानि नहीं है किन्तु लाभ ही है। पर तेज़ विषैली ऐलोपैथिक औषधियां त्याज्य हैं वैसे ही धातुओं की भस्में भी न लेना ही हितकर है। सब से अच्छा यह है कि किसी अच्छे विद्वान होम्योपैथिक डाक्टर की सम्मति से अपने सब लक्षणों के आधार पर कोई होम्योपैथिक औषधि चुनवाओ पर यह कार्य ऐसा सरल नहीं है जैसा लोग प्रायः समझा करते हैं। अनुभवी डाक्टर भी जितना अधिक समय इसके चुनने में

लगावेगा उतनी ही लाभप्रद वह औषधि होगी। अतः इसके लिये सबसे उत्तम यह है कि तुम अपने रोग का पूरा इतिहास अपने काम और क्षय-रोग के विषय में परिवार का इतिहास भी और वर्तमान समय के सब लक्षण पूर्ण रूप से लिखकर रक्खो और पूर्व से निश्चय कर के ऐसे समय में डाक्टर को अपने घर पर बुलाओ जब वह शीघ्रता में न हो। तब विवरण डाक्टर को देकर जो और प्रश्न वह करे उनका उत्तर भी नोट करदो और दवा चुनने के लिये डाक्टर की इच्छा अनुसार दो चार दिन का समय दो तुरन्त दवा न लिखाओ। याद रक्खो इस प्रकार एक वार की चुनी हुई औषधि तुम्हारे लिये अमृत का काम देगी और भविष्य में औषधि चुनने के लिये इतना परिश्रम न करना होगा। पाठकों को कोई भ्रम न हो इससे यहां होम्यो-पैथी के सम्बन्ध में कुछ बता देना आवश्यक है।

होम्योपैथी क्या है ?

कुछ लोग ठीक ज्ञान न रखने के कारण समझते हैं कि होम्योपैथिक एक विदेशी चिकित्सा विधि है अतः जैसे एलोपैथी की विषैली औषधियों का हमें विरोध करना चाहिए इसी प्रकार होम्योपैथी का भी और स्वदेशी के नाते केवल आयुर्वेद का समर्थन करना चाहिये। ऐसे भाइयों से हमारा कहना है कि होम्योपैथी का सिद्धान्त हमारा अपने आयुर्वेद का है। होम्योपैथी का निर्माण "समः समे शमयति" "हतुर्व्याधि विपयस्तु विपर्यस्तार्थ कारिणां" "विषस्य विषमौषधम" प्रभृति वेद और शास्त्र के वाक्यों के आधार पर हुआ है। रहा मात्रा का विषय इसमें जहां वेद हमें किसी विशेष बन्धन में नहीं बांधता वहां चरक इत्यादि प्राचीन ऋषि भी इतने दीर्घ दर्शी थे कि उन्होंने भी कोई विशेष बन्धन नहीं लगाया। वह चिकि-त्सक के अनुभव पर छोड़ा है। हमें हैनीमन साहब का कृतज्ञ

होना चाहिये कि उन्होंने हमारे शास्त्र के एक सिद्धान्त पर बड़े बड़े परीक्षण करके उसे इस रूप में कर दिया कि आज करोड़ों निराश रोगी उससे लाभ उठा रहे हैं अब हमें उसे विदेशी चिकित्सा न समझ अपनी विधि में मिला अन्य औषधियों के भी परीक्षण इसी सिद्धान्त पर कर के इसे आगे बढ़ाना चाहिये होम्योपैथिक औषधि क्षय-रोगी के लिये क्यों उपयोगी है इसका उत्तर यह है कि आपको इस पुस्तक के पढ़ने से यह सिद्धान्त मालूम हो गया होगा कि क्षय-रोग का कीटाणु जब हमारे शरीर में प्रवेश करता है तो हमारी जीवन शक्ति (प्राण सत्ता Vital Force) उसका विरोध करती है और रोग उस समय प्रगट होता है जब हमारी प्राण सत्ता रोग से हार कर बैठ जाती है। होम्योपैथी में दवा देने का सिद्धान्त ही यह है कि लक्षणानुसार वह दवा दी जावे जो प्राण सत्ता को फिर मुकाबले के लिये उत्तेजित करे। उत्तेजना से निर्बल में भी बल आ जाता है इस का एक घटना घटित उदाहरण टाड साहब लिखित राजपूताने के इतिहास में मिलता है। एक राजा हार कर बन्दी हो गया। शत्रू नीच था उसने राजा को लोहे के कटघरे में बन्द कर दिया रात भर राजा अपने को विवश जान बन्दी पड़ा रहा। प्रातः काल शत्रू आया और राजा से अपमान सूचक शब्द कहने लगा। जिसे राजा सहन न कर सका और आवेश में आकर एक ही झटके से कटघरे की एक सलाख उखाड़ कर बाहर आ गया और उसी सलाख से शत्रू दल का संघार करने लगा। इसी प्रकार होम्योपैथिक औषधि प्राण सत्ता को फिर से उत्तेजित करती है।

२—दूसरी बात यह है कि होम्योपैथी में रोग के नाम से कोई औषधि नहीं होती किन्तु लक्षणों के आधार पर होती है। यद्यपि हजारों औषधियों में से किसी एक औषधि से लक्षण मिलाना डाक्टर के लिये बड़ा कठिनता का काम है पर रोगी

के लिये अन्य औषधियों की भांति हानि की सम्भावना नहीं। क्योंकि अन्य विधियों की दवा रोग के नाम से है यदि निदान ठीक है तब लाभ अन्यथः हानि अवश्य होती है पर होम्योपैथी में रोग का निदान ग़लत भी हो तब भी औषधि लक्षण के अनुसार ठीक ही चुनी जावेगी चाहे दवा चुनने में डाक्टर को कई दिवस परिश्रम करना पड़े।

३—होम्योपैथी की मात्रा क्षय-रोगी के बिलकुल अनुकूल है। विलैती औषधि और इंजेक्शन की हानि पहिले ही बता चुके हैं।

४—क्षय-रोगी निर्बल होता है। कभी कुछ और कभी कुछ उपसर्ग लगे रहते हैं। ऐसी अवस्था में होम्योपैथी की दवा में तो लक्षण के अनुसार परिवर्तन सुगम है। पर एलोपैथी इत्यादि की पेटेन्ट औषधियां जहां हानिकारक होती हैं वहां द्रव्य हानि भी अधिक करती हैं। डाक्टर ने एक टानिक आज दिया जिसे दस पांच रुपये में खरीदा। कल कोई नया उपसर्ग हुआ तब ही दूसरी दवा बता उसे मना कर दिया। इस प्रकार क्षय-रोगी के यहां एक डिस्पेनसरी जमा हो जाती है।

इसी प्रकार की अनेकों बातें हैं जिससे क्षय-रोगी के लिये होम्योपैथिक औषधि उपयोगी पड़ती है।

अब जो रोगी यज्ञ-चिकित्सा कर रहा है उसके रोग कृमि तो यज्ञसे नष्ट हो रहे हैं। कटि स्नानसे सारे शरीर का मल कोलन में जमा हो रहा है और वस्तीकर्म द्वारा वह मल बाहर निकलकर रहे सहे कृमियों का राशन बन्द कर रहा है। जिससे कृमि की शक्ति घट रही है। पर हमारी प्राण सत्ता पर पहिले युद्ध में विजय प्राप्त कृमियों का भय सवार है। ऐसे समय में यदि कोई

विद्युत शक्ति जो होम्योपैथिक औषधियों में होती है हमारी

प्राण सत्ता को उत्तेजना देने वाली पहुँचे तो वह शीघ्र ही रोग को भगाकर हमें स्वस्थ बना देगी।

प्रश्न यह हो सकता है कि यज्ञ-चिकित्सा के सहायक साधन स्नान, वस्ती कर्म, होम्योपैथिक औषधि इत्यादि काम में लाये जावें और यज्ञ न किया जावे तो क्या सफलता न होगी ? इसका उत्तर यह है कि यों तो हर रोग कभी कभी विना किसी उपचार के केवल शारीरिक प्रतिक्रिया से अच्छा हो जाता है अर्थात् प्राण सत्ता रोग को भगा देती है पर जब रोग प्रगट हो गया तो इसका मतलब यह है कि रोग कीटाणुओं ने प्राण सत्ता पर विजय प्राप्त करली अब जबतक रोग कृमि पर्याप्त मात्रा में मारने वाली चीज शरीर में न पहुँचे तब तक क्षय-रोगी अच्छा नहीं हो सकता। ऐलोपैथी में तो अभी तक कोई ऐसा रस ईजाद नहीं हुआ जो शरीर के भीतर क्षय-कीटाणुओं को बिना शरीर को हानि पहुँचाये मार सके। हां हवन गैस एक ऐसी औषधि है जो शरीर को लाभ पहुँचाते हुए शरीर के भीतर से क्षय-कीटाणुओं को मार सकती है। अतः क्षय-रोग दूर करने को सब से श्रेष्ठ उपाय यज्ञ-चिकिसा है। जो जहां रोगी को आरोग्य करेगी वहां वायु मंडल भी शुद्ध करेगी।

दूसरी ओर कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि जब हवन गैस से क्षय-कीटाणु मरते हैं तो हम केवल हवन करके उनको मारते रहेंगे और भोजन आदि में किसी नियम का पालन न करेंगे तथा वस्ती कर्म इत्यादि के झमेले में भी न पड़ेंगे तो क्या आरोग्य न होवेंगे। हमारा उत्तर यह है कि कदापि नहीं क्योंकि तुम्हारे अप्राकृतिक भोजन और रहन सहन ने ही तो यह रोग उत्पन्न किया है। जब तक कारण का नाश न हो कार्य का नाश नहीं हो सकता। यदि क्षय कृमि तुम्हारे शरीर में एक नियत संख्या में होते और पलपल बढ़ न रहे होते तो अवश्य केवल

हवन गैस से वह समाप्त हो जाते पर वह तो क्षण क्षण बढ़ रहे हैं। एक ओर हवन गैस मारती है दूसरी ओर वह अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हर ओर से उनपर आक्रमण किये जावें। वस्ती कर्म से उनका भोजन बन्द किया जावे- प्राकृतिक जीवन और भोजन से स्वास्थ्य ठीक किया जावे और शक्ति बढ़ाई जावे। होम्यांपैथिक औषधि से प्राण सत्ता को उत्तेजित किया जावे मानसिक बल और ईश्वर प्रार्थना से उत्साह बढ़ाया जावे इत्यादि तब ही पूर्ण लाभ की आशा हो सकती है।

पाठ १३

यज्ञ की सामग्री

जिस प्रकार सब चिकित्सा विधियों में रोगी की अवस्था विशेष पर भिन्न भिन्न औषधियां होती हैं उसी प्रकार यज्ञ-चिकित्सा में भी यज्ञ की सामग्री में अनेकों परिवर्तन करना पड़ते हैं जिन सब का उल्लेख करने में हम इस समय असमर्थ हैं। हम क्षय-रोगियों को पांच श्रेणियों में बांट कर हर श्रेणी के लिये प्रथक प्रथक सामग्री यहां लिखते हैं।

१—कुछ ऐसे शरीर रचना के लोग होते हैं जो रोगी जैसे द्रष्टि पड़ते हैं। तंग सीना कमर झुकी गाल पचके। ऐसे लोग सुगमता से क्षय-रोगी हो सकते हैं उनको तथा उन लोगों को जिनका सम्पर्क क्षय-रोगियों से रहता है। अर्थात क्षय-रोगी के परिचारक, चिकित्सक, नर्स, सम्बन्धी इत्यादि को निम्न लिखित सामग्री से नित्य प्रति हवन करना चाहिये।

गूगल	चन्दन सफेद	चन्दन लाल	अगर	तगर
४ भाग	२ भाग	२ भाग	२ भाग	२ भाग

चिरौंजी	खोपरा	जायफल	लौंग	मुनक्का
१ भाग	१ भाग	१ भाग	१ भाग	२ भाग

किशमिश	छुआरा	बड़ी इलायची	गुलाब के फूल
२ भाग	२ भाग	२ भाग	२ भाग

हर्र बड़ी गुठली सहित	गुरुच	चांवल साठी के
२ भाग	२ भाग	२ भाग

काफूर (देशी अग्नि प्रदीप्त करने योग्य) शक्कर देशी सामग्री से चौथाई भाग नित्य मिलावें

२—जिन रोगियों के निदान में शंका है पर क्षय-रोग होने का अनुमान किया जाता है। उनको उपरोक्त सामग्री में निम्न लिखित औषधियां और मिलाना चाहिये:—

सहदेवी	जटामासी	शतावर	कूट	ब्राह्मी
२ भाग	२ भाग	२ भाग	२ भाग	२ भाग

यूनानी हकीम रोग की ३ श्रेणी मानते हैं उन तीनों श्रेणियों के लिये प्रथक प्रथक हवन सामग्री श्रेणियों के लक्षण सहित नीचे लिखी जाती हैं :—

३-प्रथम श्रेणी के लक्षण

रोगी कुछ उदास सा रहता है, थोड़ी थोड़ी सूखी खांसी आती है अर्थात खांसी का केवल ठसका सा आता है। विशेषतयः सोने जागने व प्रातःकाल के समय और भोजन करने के पश्चात् छाती में हसली की हड्डी के ऊपर नीचे दर्द होता है। जिसकी टीसें कन्धों और पीठ तक जाती हैं और यदि प्लूरिसी (Pleurisy) भी हो तो दर्द तेज होता है। खांसते समय भी दर्द तेज़ होता है और कभी कभी भोजन करने के पश्चात् खांसी आने पर वमन भी हो जाया करता है। बद हज़मी का रोग लगा रहता है। घृत और अन्य चिकने पदार्थों से रोगी को अरुचि हो जाती है। हृदय तथा नाड़ी का स्पंदन

बढ़ जाता है। अर्थात दिल धड़कने लगता है और नाड़ी की गति कुछ तीव्र हो जाती है, श्वास लेने में कुछ कष्ट अनुभव होता है। थोड़े से परिश्रम से श्वांस फूल जाता है। रोगी दिन प्रति दिन निर्बल होता जाता है। पहिले दर्जे के अन्त में खांसी में कुछ कफ भी आने लगता है। कभी कफ में रक्त भी होता है। कभी बहुत रक्त निकलता है, कभी खांसते और बोलते समय आवाज भारी होती है। प्रायः सायंकाल को रोगी को कुछ ज्वर भी हो जाता है।

प्रथम श्रेणी के रोगी की हवन सामग्रीः-

मण्डूक पर्णी अथवा ब्रह्मी, इन्द्रायण की जड़, शालपर्णी, मकोय, गुलाब के फूल, तगर, रास्ना, अगर, क्षीर काकोली, जटामासी, पांडरी, गोखरू, चिरौंजी, हर्र बड़ी मय गुठली, आंवला, जीवंती, पुनर्नवा, नगेन्द्र वांमड़ी, चीड़ का बुरादा, खूबकलां, जौ, तिल, चांवल, इलायची बड़ी, सुगन्ध वाला सम भाग, शतावरी, अडूसा (विसौटा), जायफल, बादाम, चन्दन सफेद, मुनक्का, किशमिश, लौंग आधा भाग, गिलोय (गुडच), गूगल ४ भाग, केसर, मधु चौथाई भाग, शकर देशी १० भाग, काफूर देशी, फल व जौ का हलुवा हर सप्ताह।

दूसरी श्रेणी के लक्षण

भूख मर जाती है। हाथ पांव के तलवे जलते हैं। खांसी अधिक आने लगती है। विशेषतयः प्रातःकाल जागने पर खांसी में कफ अधिक निकलता है। जो पीव मिश्रित होता है। यदि ऐसे कफ को पानी में डालें तो वह नीचे बैठ जाता है। अन्वीक्षण यंत्र द्वारा देखा जावे तो उसमें क्षय-कृमि, पीव और गले सड़े फेफड़े के अंश पाये जाते हैं। श्वांस कष्ट से आता है और निर्बलता तथा दुबलापन बढ़ता जाता है। नाड़ी शीघ्र

शीघ्र चलती है। यदि रोग अधिक तीव्र हो तो ज्वर हर समय रहता है। अन्यथः सायँकाल को कुछ सर्दी लगकर बढ़ जाता है और प्रातःकाल को उतरते समय बहुत पसीना आता है। रोगी के गालों पर कुछ लालिमा प्रतीत होती है।

दूसरी श्रेणी के लिये सामग्रीः—

सुगन्ध वाला गूगल चन्दन सफेद चन्दन लाल अगर
२ भाग ४ भाग २ भाग २ भाग २ भाग
तगर चिरौंजी (अचार) गोला (खोपरा, नारियल) जायफल
२ भाग २ भाग २ भाग २ भाग
लौंग मुनक्का (दाख) किशमिश छुआरा बड़ी इलायची
२ भाग २ भाग २ भाग १ भाग २ भाग
हर्र बड़ी गुठली सहित गुड्च (गिलोय) कपूर कचरी (भारतीय)
१ भाग २ भाग २ भाग
ब्राह्मी (हिमालय पर्वत की) इन्द्रायण की जड़ शतावर कूट
१ भाग १ भाग ३ भाग १ भाग
अडूसा (विसौटा) कुलंजन जटामासी बादाम चीड़ का बुरादा
३ भाग १ भाग २ भाग १ भाग २ भाग
जावित्री केसर मधु (शहद असली) शक्कर देशी जौ
चौथाई भाग चौथाई भाग १ भाग १० भाग १ भाग
तिल चांवल (साठी के हों) फल (अंगूर मधु में भिगोकर)
१ भाग १ भाग १ भाग
काफूर देशी देवदारू
१ भाग २ भाग
हर सप्ताह खीर या मोहन भोग या बेसन के लड्डू ४ भाग

तीसरी श्रेणी के लक्षण

इस श्रेणी पर उपरोक्त सब लक्षणों की अधिकता होती है। फेफड़ों में गार पड़ जाते हैं। प्रातःकाल खांसी बहुत आती

है कफ बहुत अधिकता से निकलता है, इसमें पीव की मात्रा बहुत अधिक होती है। रात को ज्वर बहुत तीव्र होता है और प्रातःकाल को पसीना इस अधिकता से आता है कि रोगी के कपड़े तर हो जाते हैं। शक्ति क्षीण हो जाती है, बाल गिरने लगते हैं, नाखुन सफेद और गोल हो जाते हैं, छाती और पीठ पर झाइयां और दाग पड़ जाते हैं, जिह्वा प्रायः लाल और साफ रहती है, भूख नहीं लगती और कभी कभी वमन भी हो जाता है और अन्त को दस्त आने लगते हैं। रोगी सूखकर कांटा हो जाता है, हाथ पैर पर सूजन आ जाती है और अन्त को रोगी बहुत निर्बल होकर मर जाता है। अन्तिम अवस्था में दस्त आना, श्वांस उखड़ जाना अथवा हिचकी आना ऐसे लक्षण हैं कि फिर रोगी का आरोग्य होना लगभग असम्भव है। कुछ लोगों का कहना है कि क्षय-रोग का तीसरी श्रेणी में पहुँचा हुआ रोगी कभी अच्छा नहीं होता। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि जब दस्त आने लगें और पैरों तथा चेहरे पर सूजन आ जावे तो फिर क्षय-रोगी आरोग्य नहीं होता। पर देखा यह गया है कि जिन रोगियों में संकल्प बल दृढ़ होता है और जो इस पुस्तक में बताये उपायों को पूर्ण रूपेन काम में लाते हैं वह ऐसी अवस्था में पहुँचकर भी यज्ञ-चिकित्सा से आरोग्य हो जाते हैं। हां जिनके दोनों फेफड़े पूर्ण रूप से गल जाते हैं। उनका आरोग्य होना अवश्य असम्भव है।

तीसरी श्रेणी वाले के लिये सामग्री

क्षीर काकोली	पाण्डरी	गोखरू	पिस्ता	आमला	जीवंती
२ भाग	२ भाग	१ भाग	१ भाग	२ भाग	१ भाग
पुनर्नवा	नागेन्द्र वामडी	खूबकलां	मकोय	सुगन्ध वाला	
१ भाग	१ भाग	२ भाग	१ भाग	२ भाग	

गूगल चन्दन सफेद चन्दन लाल अगर तगर
८ भाग २ भाग २ भाग २ भाग २ भाग
चिरौंजी (अचार) नरियल (खोपरा गोला) जायफल लौंग
२ भाग २ भाग २ भाग २ भाग
मुनक्का किशमिश छुहारे बड़ी इलायची गुलाब के फूल
२ भाग २ भाग १ भाग २ भाग १ भाग
खस हर्र बड़ी गुठली सहित गुडच (गिलोय)
१ भाग १ भाग २ भाग
कपूर कचरी (भारतीय) हाऊबेर ब्राह्मी इन्द्रायण की जड़
२ भाग २ भाग १ भाग १ भाग
शतावर कूट अडूसा (विसौटा) कुलंजन जटामासी
३ भाग १ भाग ३ भाग ३ भाग २ भाग
बादाम चीड़ का बुरादा देवदार नागरमोथा केसर असली
१ भाग २ भाग २ भाग १ भाग चौथाई भाग
काफूर देशी जावित्री जौ तिल चांवल साठी के
आधा भाग चौथाई भाग १ भाग १ भाग १ भाग
ऋतु के फल जो मीठे हों विशेष रूप से अंगूर मधु में भिगोकर
१ भाग १ भाग

अंगूर न मिलें तो इसके स्थान में दूसरा मीठा फल आम इत्यादि लिया जा सकता है।

सप्ताह में एक बार खीर, हलुवा, लड्डू प्रथक बना कर हवि करें।

सामग्री बनाने के नियम

१—किसी विश्वस्त अत्तार की दूकान से सामग्री लेना चाहिये।
२—हर चीज प्रथक प्रथक बांधने को कहा जाये।
३—लेते समय या तो कोई जानकार आदमी स्वयं खरीदे अथवा फिर हर पुड़िया को देखकर ताजी चीजें देख लें।

घुनी सड़ी बहुत पुरानी वीर्य हीन औषधि से कोई लाभ नहीं।

४—हरी चीज जैसे गिलोय, बिसौटा, मकोय इत्यादि हरी मिल सकें तो वह डालें।

५—फिर सब चीजें कूट लें। केसर, काफूर, जावित्री, मधु, फल, शक्कर, मुनक्का, किशमिश पृथक पृथक रक्खें जो इस प्रकार काम में लावें।

(क) काफूर से नित्यप्रति अग्नि प्रदीप्त करें।

(ख) केसर जावित्री नित्य के भाग अनुसार घी में डाल लिया करें।

(ग) मधु में अंगूर भिगो लिया करें तथा समिधाओं में लगा लिया करें।

(घ) फल, शक्कर, मुनक्का, किशमिश नित्य के भाग के अनुसार उसी समय सामग्री में मिला लिया करें।

(ङ) कुटी हुई सामग्री में नित्य प्रति घी इतना मिलाना चाहिये कि सामग्री सूखी न रहे, सूखी सामग्री से खांसी बढ़ने का भय है। सामग्री इतनी तर हो कि लड्डू बंध सकें।

(च) कुटी हुई सामग्री किसी बन्द बर्तन में रक्खें जिससे उसकी सुगन्ध न उड़ जावे।

(छ) खीर, हलुवा, लड्डू इत्यादि बनाये जावें तो उसमें का एक भाग यज्ञ में डाला जावे शेष भाग यज्ञ के पश्चात घर वालों को और जो यज्ञ करता हो सबको बांट दें। रोगी को भी खीर व सूजी का हलुवा दिया जा सकता है पर बेसन का लड्डू न दें।

(ज) यज्ञ समय जो घृत आहुति के पश्चात् लोटे में बूंद २ कर के डाला जाता है वह रोगी की औषधि है। हाथ

पर मलकर हवन पर हाथ सेककर मुंह और शरीर में मल सकते हैं। तथा रोगी को हलुवा इत्यादि मीठे पदार्थ में खिला सकते हैं।

(झ) सामग्री में मिलाने के अतिरिक्त घी पृथक पात्र में रखना चाहिये जिसकी प्रथक आहुतियां दी जावेंगी।

(ञ) घी गऊ का ही हो। यदि ऐसी गऊ का घी हो जिसको वह औषधियां खिलाई जाती हैं जिनका उल्लेख उनके स्थान पर हो चुका है। तो बहुत अच्छा है।

(त) ऐसी गऊ का घी न मिल सके तो फिर किसी गऊ का हो। भैंस के घी से पूरा लाभ नहीं होता पर शुद्ध घी से कुछ होता है। वनस्पति घी से लाभ के स्थान में बड़ी हानि होती है। अतः बिना साख का घी यज्ञ में न डालें।

(थ) गूगल वह अच्छा होता है जो तोड़ने पर चमकदार निकले और काफूर डेली वाला देशी अच्छा होता है। टिकियों वाला कपूर न लें कपूर कचरी एक जापानी आता है वह न लें देशी लें। गिलोय ,नीम पर की विशेष लाभदायक है। हरी गिलोय काट कर कुचल कर धूप में रखने से एक ही दो दिन में सूख कर यज्ञ के योग्य हो जाती है। इसी प्रकार विसौंटा और मकोय और आमले हरे भी डाले जा सकते हैं। पर हरी चीज सुखाए विना सामग्री के साथ वन्द वर्तन में न रक्खें ब्राह्मी या तो हरी हो अथवा साये में सुखाई जावे। धूप में सुखाने से उसके गुण कम हो जाते हैं।

(द) फलों में अंगूर, सेव, नारंगी, संतरा, गन्ना, आम, वेर, केला, अमरूद, खिन्नी, कसेरू इत्यादि सब यज्ञ में डाले जा सकते हैं। केला हो तो उसे भी मधु में मिला कर डालें।

नोट— जिस स्थान पर यज्ञ सामग्री की सब औषधियां प्राप्त न हों और रोगी की शीघ्र चिकित्सा करना अनिवार्य हो वहां अन्य साधनों को उपयोग में लाने के साथ साथ नितान्त न होने की अपेक्षा कुछ होना अच्छा है के सिद्धान्त पर निम्नलिखित सामग्री से यज्ञ-चिकित्सा आरम्भ कर दें।

सफेद चन्दन	गूगल	शतावर	गिलोय	लौंग	मुनक्का
२ भाग	४ भाग	२ भाग	२ भाग	१ भाग	१ भाग
शक्कर	घी				
२॥ भाग	सामग्री तर करने योग्य				

यह भी न मिले तो केवल गूगल, घृत और शक्कर से यज्ञ आरम्भ करदें।

सामग्री की मात्रा

एक समय में कम से कम सवा पाव सामग्री तथा सवा पाव गऊ का घृत होना चाहिये अधिक हो तो और भी अच्छा है। जब रोगी अच्छा होने लगे और धन की कमी हो तो मात्रा घटाई जा सकती है। पर एक छटाक सामग्री से तो नित्य प्रति हवन हर स्वस्थ्य मनुष्य को भी अपने स्वास्थ्य को स्थिर रखने के अभिप्राय से करना ही चाहिये।

पाठ १४

यज्ञ की विधि

यज्ञ कुण्ड तांबे अथवा लोहे के बने बाजार में बिकते हैं। घर पर पृथ्वी पर भी खोदा जा सकता है। उसके बनाने की विधि यह है:— चारों ओर से सम चौरस और चौकोण हो यदि ऊपर एक ओर की लम्बाई ८ अंगुल हो तो आठ ही अंगुल गहराई इस प्रकार ढलवा हो कि नीचे की ओर की लम्बाई चौथाई
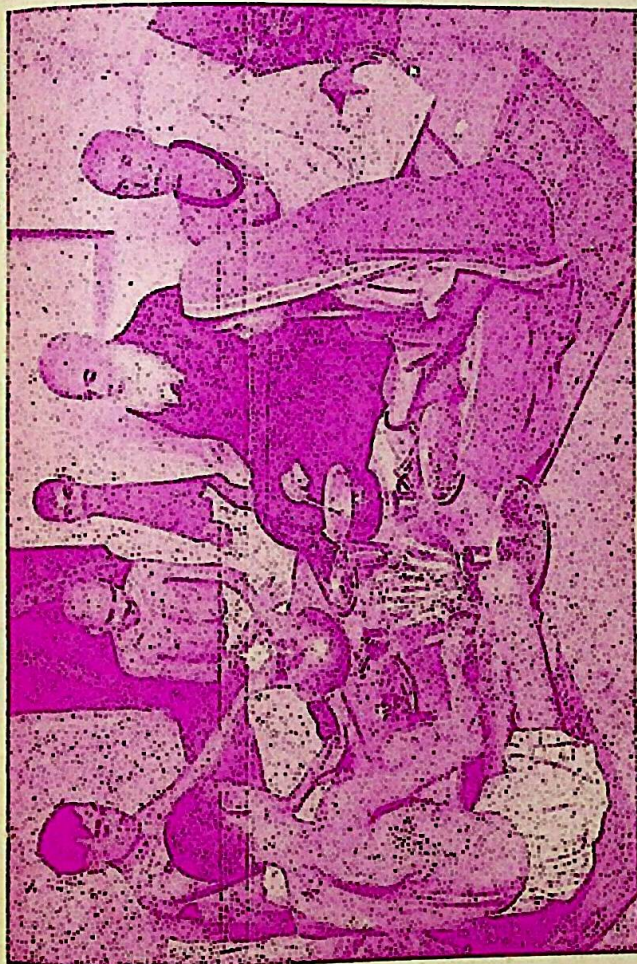
यज्ञ-चिकित्सा

सेठ रतनसी हीरजी यज्ञ-चिकित्सा सेनेटोरियम के रोगियों को डाक्टर साहब यज्ञ करा रहे हैं।

अर्थात् २ अंगुल हो। कुण्ड के ऊपर चारों ओर मेखला बनाई जावे और एक नाली रक्खी जावे। जिन लोगों के यहां हवन यज्ञ जो वैदिक धर्म का मुख्य चिन्ह है होता रहता है उनको तो ऐसे कुण्ड बनाने में कोई कठिनता न प्रतीत होगी, पर जो ऐसा न कर सकें तो चार ईंटें चारों ओर रखकर बीच में यज्ञ कर सकते हैं। जहां पर यज्ञ कुण्ड हो लीप पोत धोकर खूब शुद्ध करें जैसे पूजा का स्थान किया जाता है। फिर निम्नलिखित सामान सजाकर रक्खें।

१—एक अथवा तीन थाली में सामग्री (जितने होता हों।)

२—एक कटोरे में घी, केसर, जावित्री डालकर। घी तपाकर छाना हुआ हो।

३—जितने होता हों उतने बर्तनों में पानी आचमन के लिये।

४—एक कटोरी में जल यज्ञ से बचे घी की बूंद डालने को।

५—एक छोटे गड़ुवे में जल यज्ञ कुण्ड की नाली में डालने को।

६—आसन होताओं के बैठने को।

७—एक चमचा घी की आहुति देने को।

८—दियासलाई तथा काफूर।

९—एक तांबे अथवा मिट्टी के घड़े में जल (इस अभिप्राय से कि यदि अग्नि अधिक प्रचंड हो जावे तो जल से बुझाई जा सके तथा वही जल रोगी पीवे।

१०—एक कोरा दीपक जो आरम्भ से अन्त तक घृत से जलता रहे इस अभिप्राय से कि अग्नि बुझ जावे तो उससे जला सकें।

११—पीपल, गूलर, पलाश (ढाक), देवदारू, सेमल अथवा आम की छाल युक्त सूखी समिधा जो बहुत मोटी न हों और हवनकुण्ड में रक्खी जा सकें उनको हवन कुण्ड में चुनदें।

१२—एक अंगोछा हाथ पोंछने को।

सब सामान ठीक हो जाने पर रोगी शुद्ध होकर शुद्ध धोती पहिनकर अन्य होताओं के साथ अथवा अकेला यज्ञ पर बैठकर पहिले:—

१—सीधे हाथ की हथेली पर जल लेकर तीन बार आचमन करे
२—फिर बायें हाथ की हथेली पर जल लेकर सीधे हाथ की उंगलियों से इन्द्रिय स्पर्श करे।
३—फिर ईश्वर का ध्यान करके ईश्वर प्रार्थना करे।
४—तब दियासलाई से घृत का दीपक जलाकर घड़े के ऊपर रखदे और उसी दीपक से काफ़ूर जलाकर चमचे में रखकर हवन कुण्ड में रक्खी समिधाओं पर रखदे और अग्नि को प्रदीप्त करे।
५—ऊपर से कुछ छोटी समिधा अग्नि प्रदीप्त करने को रखदे।
६—फिर तीन समिधा घी में डिबो डिबोकर कुण्ड में रक्खे।
७—फिर पांच आहुति घी की देवे।
८—फिर कुण्ड बनाया हो तो उसकी नाली में न बनाया हो तो कुण्ड के चारों ओर जल छिड़के।
९—फिर चार आहुति और घी की देवे।
१०—इसके पश्चात घी और सामग्री दोनों की आहुति देवे।
११—यज्ञ समाप्त होने पर उसी स्थान पर बैठकर ३० मिनट तक गहरी श्वांस लेवे। निर्बल रोगी न बैठ सके तो लेट कर श्वांस लेता रहे।

उपरोक्त सब क्रियायें करने के मंत्र हम आगे लिखने से पहिले दो आवश्यक बातों का और उल्लेख कर देना चाहते हैं।

प्रथम—यज्ञ-चिकित्सा की पूर्ण तैयारी।
दूसरे—सामग्री की मात्रा।

१—जो रोगी यज्ञ चिकित्सा आरम्भ करना चाहता है उसे चाहिये कि इस पुस्तक का चिकित्सा प्रकरण कई बार ध्यान से पढ़े

व सुने। निदान खण्ड भी पढ़ सकता है पर उसकी रोगी को चिकित्सा का निश्चय कर लेने पर अधिक आवश्यकता नहीं है पर चिकित्सा भाग तो खूब ही मथने की आवश्यकता है। अच्छा तो यह हो कि रोगी के अतिरिक्त कोई अन्य उसका सम्बन्धी इस भार को लेवे। चिकित्सा आरम्भ करने को एक वस्तीकर्म, एक स्नान करने का टब और यज्ञ का सब सामान ठीक करना चाहिये।

२—पहिले तीन दिन कुछ गुनगुने पानी से वस्तीकर्म करे। फिर चार दिन ठण्डे पानी से वस्तीकर्म करे। इन दिनों में वस्ती-कर्म करने के आधा घंटा पश्चात् हवन करे।

३—एक सप्ताह के पश्चात् प्रातःकाल हिप बाथ अर्थात कटि-स्नान आरम्भ करे और प्रथम बाथ ले उसके पश्चात् यज्ञ करे

४—यज्ञ के पश्चात जलपान अथवा भोजन करे और सायंकाल को ४-५ बजे पहिले बाथ लेवें फिर हवन करें। किसको कौन स्नान उपयोगी है यह अपने स्थान पर बताया जा चुका है वहां से देखो पट्टी इत्यादि रखने का जो विधान बताया है उसे भी ध्यान में रक्खें और यथा अवसर काम में लावे। सायंकाल को हवन के पश्चात् भोजन करें। तीसरे पहर यदि जलपान करें तो बाथ लेने और हवन करने के बीच में कर सकते हैं। यज्ञ करने का समय सूर्योदय से सूर्यास्त तक है अपने सुभीते के अनुसार प्रोग्राम बना सकते हैं पर भोजन करने के पश्चात् एक घंटे तक हवन (यज्ञ) पर रोगी न बैठे कोई दूसरा आदमी रोगी के कमरे में कर सकता है।

५—एक सप्ताह के वस्ती कर्म के पश्चात् वस्तीकर्म तो आव-श्यकता पड़ने पर करना चाहिये। सप्ताह में एक बार कर लेना हितकर है। और बाथ तथा हवन (यज्ञ) नित्य प्रति कर ने का उद्योग करना चाहिये। यदि किसी विशेष कारणवश

बांध में नाश हो जावे तो भी हवन यज्ञ में नाश न होना चाहिये। रोगी स्वयं न बैठ सके तो अन्य व्यक्ति रोगी के पास कर दे।

पाठ १५

यज्ञ चिकित्सा के मंत्र

आचमन के तीन मंत्र। मानव गृह्य सूत्र प्रथम पुरुष ६ वां खंड

१—ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ इससे एक

अर्थ—हे सुखप्रद अमृत के समान जल तू प्राणियों का आश्रयभूत है।

२—ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ इससे दूसरा

अर्थ—तू निश्चय करके हमारा पोषक हो।

३—ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥ इससे तीसरा आचमन

अर्थ—(भगवान की कृपा से) मुझ में सचाई, कीर्ति, शोभा, लक्ष्मी स्थित हो।

नीचे के मंत्रों से अंग स्पर्श करे:—

१—ओं वाङ्मऽआस्येऽस्तु ॥ (पार० गृ० कां० १ । क० ३ । सू० २५) इससे मुख।

अर्थ—हे भगवान् मेरे मुख में वागिन्द्रिय सुस्थित हो।

२—ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु। इस मंत्र से नासिका के दोनों छिद्र स्पर्श करे

अर्थ—हे भगवान् मेरे दोनों नासिका छिद्रों में प्राण वायु वा प्राणेन्द्रिय स्थिर हों।

३—ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु। इस मंत्र से दोनों आंखें।

अर्थ—हे भगवान् मेरे नेत्र गोलकों में चक्षुरिन्द्रिय स्थिर हो।

४—ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु। इस मंत्र से दोनों कान

अर्थ—हे भगवान् मेरे दोनों कानों में सुन्ने की शक्ति स्थिर हो।

५—ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु। इस मंत्र से दोनों हाथ।

अर्थ—हे भगवान् मेरे दोनों हाथों में बल स्थिर हो।

६—ओं ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु। इस मंत्र से दोनों जंघा।

अर्थ—हे भगवान् मेरे दोनों जंघाओं में ओज स्थिर हो।

७—ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु। इस मंत्र से सब शरीर पर मार्जन करें।

अर्थ—हे भगवान् मेरा शरीर तथा शरीर के सब अव्यव अनुपहत-अबाधित अर्थात् निरोग और कार्य करने वाले हों अंग स्पर्श करने के पश्चात् निम्नलिखित मंत्रों से ईश्वर प्रार्थना करे :—

१—ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रन्तन्न आसुव ॥ १ ॥ यजु अ० ३० । मं० ३

अर्थ—हे सकल जगत् के उत्पत्ति कर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त शुद्ध स्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा कर के हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुखों को दूर कर दीजिये जो कल्याणकारक गुणकर्म स्वभाव और पदार्थ हैं वह सब हमको प्रदान कीजिये।

२—हिरण्य गर्भः समवर्त्ततागे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥
युज० अ० १३ । मं० ४ ॥

अर्थ—जो स्वयंप्रकाश रूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य चन्द्रादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एक ही चेतन स्वरूप था जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्ण वर्तमान था सो इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है, हम लोग उस सुख

स्वरूप शुद्ध परमात्मा के लिये ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अति प्रेम से विशेष भक्ति करें।

३—य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

अर्थ—जो आत्मज्ञान का दाता शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेवाला, जिसकी सब विद्वान लोग उपासना करते हैं और जिसका सत्य स्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं जिसका आश्रय ही मोक्ष सुखदायक है, जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है। हमलोग उस सुख स्वरूप सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें।

४—यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
यईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

अर्थ—जो प्राण वाले और अप्राणिरूप जगत् का अपने अनन्त महिमा से एक ही विराजमान राजा है। जो इस मनुष्यादि और गौ आदि प्राणियों के शरीर की रचना करता है, हम उस सुख स्वरूप सकलेश्वर्य के देने हारे परमात्मा के लिये अपनी सकल उत्तम सामग्री से विशेष भक्ति करें।

५—येन द्यौरुग्रा पृथिवी चदृढा येनस्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

अर्थ—जिस परमात्मा ने तीक्ष्ण स्वभाव वाले सूर्य आदि और भूमि का धारण जिस जगदीश्वर ने सुख को धारण और जिस ईश्वर ने दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है। जो आकाश में सब लोकलोकान्तरों को विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे ही सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है। हम लोग उस सुखदायक

कामना करने योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये सब सामर्थ्य से विशेष भक्ति करें।

६—प्रजा पते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६
ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १०॥

अर्थ—हे सब प्रजा के स्वामी परमात्मा आप से भिन्न दूसरा कोई उन इन सब उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को नहीं तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग आपका आश्रय लेवें और वाञ्छा करें उस उसकी कामना हमारी सिद्ध होवे, जिससे हम लोग धनैश्वर्यों के स्वामी होवें।

७—स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृत मानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ ७॥
यजु० अ० ३२। मं० १०॥

अर्थ—हे परमात्मा आप हम लोगों को भ्राता के समान सुखदायक हैं, सकल जगत् के उत्पादक और सब कामों को पूर्ण करने वाले हैं और सम्पूर्ण लोक मात्र और नाम, स्थान तथा जन्मों को जानते हैं और जिस सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त मोक्ष स्वरूप धारण करने हारे आप में मोक्ष को प्राप्त होकर विद्वान लोग स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं। आप ही हमारे गुरू, आचार्य, राजा और न्यायाधीश हैं हे प्रभू ऐसी कृपा कीजिये कि हमलोग आपकी ही भक्ति करें

८—अग्ने नय सुपथा राये अस्मान विश्वानि देव वयुनानि विद्वान।
युयो ध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥८॥

अर्थ—हे स्वप्रकाश स्वरूप तथा ज्ञान स्वरूप सब जगत् के प्रकाश करने हारे सकल सुखदाता परमेश्वर आप सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं। कृपाकर के हमलोगों को विज्ञान प्रदान कीजिये

और हमें ऐसी बुद्धि दीजिये कि हम धार्मिक लोगों के मार्ग पर चलें और कोई पाप न करें जिससे हम स्वस्थ होकर राज इत्यादि की प्राप्ति करें और आपकी भक्ति करते रहें।

ईश्वर प्रार्थना के पश्चात् अग्नि जलाने का मंत्र यह है:-

१—ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निं मन्नाद्याया दधे। यजु० अ० ३। मं० ५॥

फिर नीचे के मंत्र से सूखी लकड़ी अग्नि पर धरे।

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳬसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत। यजु० अ० १५ मं० ५४॥

इन दोनों मंत्रों के अर्थ इस प्रकार हैं :—

अर्थ—प्रारम्भ में भू. भुवः तथा स्वः परमात्मा के नामों को उच्चारण करके यज्ञमान कहता है विद्वान लोग जिसमें यज्ञ करते हैं ऐसी पृथ्वी प्रसिद्ध तेरी पीठ पर पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक में स्थित नक्षत्रों के बाहुल्य से जैसे आकाश विराजमान हैं ऐसे ज्वाला बाहुल्य से विराजमान अपने बड़प्पन से जैसे पृथवी सब का आधार है वैसे सर्वाश्रयभूत यवादि अन्न को भस्म करने वाले अग्नि को शुद्ध भक्षण योग्य अन्नोत्पत्ति के लिये जिसे खाकर हम पुष्ट बनते हैं और निरोग रहते हैं मैं यजमान, स्थापित करता हूं।

हे अग्ने! तू प्रकट हो और खूब प्रकाशित हो यह यजमान और तू यज्ञादिक कार्य उत्पन्न करो और उत्तम स्थान में सब विद्वान ईश्वर करे यज्ञमान सहित बैठें।

इसके पश्चात घृत में डुवाकर एक २ करके तीन समिधा कुण्ड में रक्खे जिससे अग्नि अधिक प्रचंड हो। उसके मंत्र यह हैं :—

१—ओं अयन्त इध्म आत्मा जात वेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान प्रजया पशुभिर्ब्रह्म वर्चा सेनान्नाधेन समेधय, स्वाहा ॥ इदमग्नये जात वेद से इदन्नमम ॥१॥ इस से एक।

२—ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयता तिथिम । आस्मिन हव्या जुहोतन स्वाहा। इदमग्नये—इदन्नमम ॥
ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जात वेद से, स्वाहा। इदमग्नये जातवेद से इदन्नमम ॥२॥ इन मंत्रों से दूसरी समिधा।

३—ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि । बृहच्छो चायविष्टय, स्वाहा इदमग्नये ऽङ्गिरसे-इदन्नमम । यजु० अ० ३। मं १, २, ३ ॥

इन मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है।

अर्थ—हे अग्ने ! यह काष्ठ तेरा आधार है, इस काष्ठ से प्रदीप्त हो और वढ़ और हम को अवश्य ही पुत्रादि से बढ़ा (जब अग्नि प्रदीप्त कर के उसमें यज्ञ किया जावेगा तो सब रोगों से छूटकर रोगी पुत्र उत्पन्न करने योग्य स्वास्थ्य अवस्था को प्राप्त होगा ऐसा विचारना चाहिये) और पशुओं से बड़ी कान्ति से अन्न आदि से हमें अच्छे प्रकार बढ़ा यह हमारा दिया हुआ सुहुत हो। यह दिया हुआ पदार्थ अग्नि के लियें है मेरा नहीं है।

हे विद्वान लोगो तुम समिधाओं से अग्नि का सेवन किया करो और उस अग्नि को अतिथि के तुल्य समझ कर घृतादिकों से प्रकाशित करो। इस अग्नि में सब प्रकार का शाकल्य होमो।

हे मनुष्यो अच्छे प्रकार जलाये हुए दीप्ति वाले शुद्ध सबों में विद्यमान अग्नि के लिये सब प्रकार शुद्ध किये घृत को होमो।

हे सब को प्राप्त होने वाले व गमनशील अग्ने तुमको समिधाओं से और घृत से बढ़ावें। हे अग्ने प्रकाश, छेदनादि गुणों के कारण बड़े और अति बलवान तुम प्रकाशित होओ। तीनों समिधा रखने के पश्चात् पांच आहुति घृत की देवें और चमचे का बचा घृत एक दो बूंद जल में जो कटोरी में रक्खा है टपकाते जावें। इन आहुतियों के देते समय उस मंत्र का पाठ करें जो घृत की डुबाई पहिली समिधा के डालने पर पढ़ा था अर्थात् ओम् अयन्त इदम आत्मा इत्यादि।

इसके पश्चात् कुण्ड के चारों ओर जल डाले उसके मंत्र यह हैं :—

१—ओम् अदितेऽनुमन्यस्व। आपस्तम्ब गृह० सु० ख० २। सु० ४। पटल १।

इस मंत्र से दक्षिण से पूर्व।

२—ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥ इस से पश्चिम से उत्तर।

३—ओम् सरस्वत्यनुमन्यस्व॥ इस से उत्तर से पूर्व।

४—ओम् देवसविताः प्रसुव यज्ञंप्रसुव यज्ञपतिं भंगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पति र्वाचं न स्वदतु॥

यजु० अ० ३०। मं० १॥

इससे पूर्व से दक्षिण तथा चारों ओर जल छिड़कावें। नाली बनाई है तो उसे पानी से भरदें ताकि कोई जीव जन्तु कुण्ड में जाकर न जले तथा पानी ऊपर न चढ़ने वाली अनावश्यक कार्बन डाया आक्साइड को सोख ले।

उपरोक्त मंत्रों में भगवान् से अहिंसादि तथा वाणी की मधुरता की प्रार्थना की गई है। इसको सोचकर रोगी को चाहिये कि मधुर भाषी बने चिड़चिड़ा न बने। सब से मधुरता से बात करे क्रोध न करे।

इसके पश्चात् घृत की चार आहुतियां और दे, उसके मंत्र यह हैं :—

१—ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इमदग्नये इदन्नमम् ॥ यु०अ० २२ मं०२७
इससे वेदी के उत्तर भाग में आहुति दे।

२—ओम् सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय इदन्नमम् ॥ यु०२२ मं०२८
इससे वेदी के दक्षिण भाग में।

३—ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्नमम् ॥ य० अ० २२। मं० २६।

४—ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय-इदन्नमम् ॥ य० अ० २२ मं० २७।

इन दोनों मंत्रों से वेदी के मध्य में देवे।

अर्थ—(१) प्रकाशक परमात्मा के लिये (२) परमात्मा के प्रीत्यर्थ (३) प्रजाओं के पालक परमात्मा के लिये (४) ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् के लिये यह चार आहुतियां समर्पण हैं। इस प्रकार देवताओं का पूजन करके रोगी घी और सामग्री की निम्न लिखित मंत्रों से आहुतियां देवें और हवन करने के पश्चात् उन मंत्रों के अर्थ पर विचार करें।

सामग्री तथा घृत आहुति देने के मंत्र :—

१—इन्द्रस्य या मही द्रृषित क्रिमे विश्वस्यं तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन द्रृषदा खल्वाँ इव ॥ अथर्व सू० ३१ मं० १।

अर्थ—बड़े ऐश्वर्य वाले यज्ञ की जो विशाल शिला प्रत्येक क्रमि को नाश करने वाली है, उससे सब क्रमियों को यथा नियम पीस डालूं जैसे शिला से चनों को पीसते हैं।

विचार करो—परमात्मा वेद द्वारा आज्ञा देते हैं कि हे मनुष्यो तुम यज्ञ द्वारा रोग के क्रमियों का नाश कर सकते हो जिस

से वह तुम्हें हानि न पहुंचावें। अतः यह विश्वास करो कि जो यज्ञ तुम कर रहे हो उससे तुम्हारे रोग के सब कृमि नाश हो जावेंगे और तुम अवश्य अच्छे होगे, क्योंकि वेद वचन कभी असत्य नहीं हो सकता।

२—दृष्टम दृष्टम तृहमंथो कुरु रूमतृहम।
अल्गण्डून्त्सर्वा ञ्छलुनान क्रिमीन वचसा जम्भयामसि ॥२॥

अर्थ—दिखाई देने वाले और न दिखाई देने वाले कृमियों को मैंने नष्ट कर दिया है और भूमि पर रेंगने वाले व बुरे प्रकार से सताने वालों को मैंने नष्ट कर दिया है। सब उपधानों (अर्थात तकिये आदि वस्त्रों में कृमि क्षय-रोगी के लग जाते हैं) में भरे कीड़ों को हम बात की बात में मार डालें।

विचार करो—क्षय-रोग के कीड़े यद्यपि आंख से दिखाई नहीं देते और वस्त्रों इत्यादि में चिपट जाते हैं। पर हवन ऐसा प्रभाव शाली है कि उनको हर स्थान से नष्ट कर देता है।

३—अल्गण्डून हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन।
शिष्टान शिष्टान नितिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥

अर्थ—तकियों में भरे हुए कीड़ों को बड़े जोर से मैं मारता हूँ। छोटे व बड़े कीड़े निर्बल हो गये हैं। बचे हुए दुष्टों को बात की बात में नीचे डालकर मार डालूं जिससे कीड़ों में से कोई न बचा रहे।

विचार करो—हवन यज्ञ से क्षय-रोग के एक एक कृमि का नाश हो जावेगा और मैं रोग मुक्त होकर दूसरों के रोगी होने को भी कोई कृमि न छोड़ूगा।

४—अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१ मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ—आंतों में के शिर पर व शिर में के और भी पसलियों में के इन सब कीड़ों को नीचे रेंगने वाले और क्षत उत्पन्न करने वाले (Cavity बनाने वाले) यज्ञ के विरोधी अर्थात् जो यज्ञ से मरते हैं इन सब कीड़ों को हम बात की बात में नाश कर दें।

विचार करो—जो क्षय-कृमि मेरी आंतों इत्यादि किसी स्थान पर क्षत (Cavity) बना रहे हैं, यज्ञ उन कीड़ों का शत्रु है अतः यज्ञ से उनका अवश्य नाश होगा।

५—ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व १ न्तः।
ये अस्माकं तन्व माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमिणाम॥५

अर्थ—जो कीड़े पहाड़ों में, वनों में, औषधियों में, गौ आदि पशुओं में और जल में भीतर थे और हमारे शरीर में प्रविष्ट हो गये हैं उन सब कृमियों को मैं नाश करूं।

विचार करो—पहाड़ों और वनों में जो क्षय-रोगी रहते हैं उनके कारण जो कीड़े वहां रह जाते हैं। तथा विषैली औषधियों तथा इंजेक्शन आदि की अप्राकृतिक चिकित्सा से जो क्षय-रोग होता है या गौ आदि रोगी पशु के दूध के प्रयोग से तथा कृमियुक्त पानी से जो क्षय-रोग होते हैं वह सब यज्ञ से आरोग्य होते हैं।

६—मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मा दुत राजयक्ष्मात
ग्राहिर्जग्राह यद्यतेदेनं तस्या इन्द्राग्नि प्रमु मुक्त मेनम॥
अथर्व का ३ सू० ११ मं० १।

अर्थ—हे प्राणी तुझको सुख के साथ चिरकाल तक जीने के लिये गुप्त राज-रोग से और सम्पूर्ण प्रगट राजयक्ष्मा रोग से आहुति द्वारा छुड़ाता हूँ जो इस समय में इस प्राणी को पीड़ा ने या पुराने रोग ने ग्रहण किया है उससे वायु तथा अग्नि देवता इसको अवश्य छुड़ावें।

विचार करो—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि ऐ क्षय-रोगी तेरा रोग चाहे अभी गुप्त रूप से हो अर्थात् क्षय के सब लक्षण प्रगट न हुए हों या प्रगट रूप से हो दोनों अवस्थाओं में तू अच्छा हो सकता है। यदि तू अग्नि में आहुति द्वारा यज्ञ करेगा। तथा शुद्ध वायु में जिसमें ओपजन बहुत हो रात दिन रहेगा। चूंकि परमात्मा की आज्ञा कभी असत्य नहीं हो सकती अतः यज्ञ और शुद्ध वायु द्वारा मैं अवश्य आरोग्यता पाऊंगा। यही वह मंत्र है जिसके आधार पर यज्ञ-चिकित्सा के अन्वेषण व परीक्षण का कार्य प्रारम्भ हुआ।

७—यदि क्षितायुर्यदि वा परे तो यदि मृत्योरन्तिकं नीतएव।
तमा हरामि निर्ऋतेरूपस्थादस्पार्षमेनं शत शारदाय ॥ मं०२

अर्थ—चाहे रोग के कारण न्यून आयु वाला हो अथवा इस संसार के सुख से दूर हो गया हो। चाहे मृत्यु के निकट ही आ चुका हो, ऐसे रोगी को भी महारोग के पास से छुड़ाता हूं। इस रोगी को सौ शरद ऋतुओं तक जीने के लिये प्रबल किया है।

विचार करो—यदि भूल से रोग के प्रारम्भ में यज्ञ-चिकित्सा नहीं हुई है और अवैदिक विषैली चिकित्साओं के कारण मैं मृत्यु के बिलकुल निकट पहुँच गया हूं फिर भी अब जब ईश्वर कृपा से ईश्वर की बताई यज्ञ-चिकित्सा का पता चल गया है तो अब इसको नियम पूर्वक बड़ी सावधानी से करके मैं न केवल इस रोग से मुक्त हो जाऊंगा किन्तु यदि नियमपूर्वक यज्ञ करता हुआ प्राकृतिक जीवन बिताऊंगा और ब्रह्मचर्य आदि का पालन करता रहूँगा तो सौ वर्ष की आयु भोग सकता हूं।

८—सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा हार्षमेनम्।

इन्द्रो यथैनं शरदो न यात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥

अर्थ — हे रोगी सहस्राक्ष औषधि गण द्वारा, शतवीर्य औषधिगण द्वारा, शतायु औषधि गण द्वारा प्रस्तुत आहुति से इस रोगी को रोग से दूर किया है। विद्वान जिस प्रकार इसको सौ वर्ष तक सब दुःखों के पार होकर प्राप्त होता है।

विचार करो—प्रभू की आज्ञा है कि ज्ञानेद्रियों की शक्ति बढ़ाने वाली, शारीरिक बल बढ़ाने वाली तथा आयु को बढ़ाने वाली औषधियों से यज्ञ करने से क्षय दूर होगा। इसी प्रकार की औषधि इस पुस्तक में लिखी है। अतः उनके द्वारा मैं अवश्य आरोग्य हो जाऊंगा। हां यह देखना मेरा काम है कि औषधि गली सड़ी घुनी न हों, ठीक हों तथा आरोग्य होने तक चिकित्सा करूंगा।

६—शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान। शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषा-हर्षि मेनम् ॥४॥

अर्थ—हे रोगी तू दिन प्रतिदिन बढ़ता हुआ सौ शरद ऋतुओं तक, सौ सौ हेमन्त ऋतुओं तक और सौ वसन्त ऋतुओं तक प्राणों को धारण कर। वायु, अग्नि, सूर्य और आचार्य सब देवता मेरे इस शरीर को सौ वर्ष तक जीवन स्थिर को आहुति द्वारा ले जावें।

विचार करो—मैं सौ वर्ष तक जीवन धारण कर सकता हूं। यदि मैं शुद्ध वायु में रहूं, नित्य प्रति हवन (यज्ञ) उस विधि से करूं जिस प्रकार मेरे इस रोग के चिकित्सक (आचार्य) ने बतलाया है और सूर्य प्रकाश का सेवन करता रहूं। क्योंकि भगवान ने इस वेद मंत्र में क्षय-रोगी के लिये सौ वर्ष तक जीवन धारण करने के लिये साधन, वायु, अग्नि, सूर्य और आचार्य बताए हैं। अग्नि का और भी उपयोग हो सकता था अतः उसका स्पष्टीकरण अन्त में

आहुति द्वारा बताकर कर दिया है। अतः इन साधनों द्वारा आरोग्यता निश्चित ही है।

१०—प्रवशतं प्राणपानावनऽवाहावित भ्रजम ।
व्य १ न्ये यन्तु मृत्यवीं याना हुरित राञ्छतम ॥ ५ ॥

अर्थ—हे व्याधिनि मुक्त। श्वास तथा प्रश्वास तेरे शरीर में ठीक तरह से प्रवेश करें। रथ चलाने वाले दो बैलों की तरह अपने मार्ग को और मृत्यु के कारण दूर हो जाय जिन आरों को कई तरह का बतलाते हैं।

११—इहैव स्तं प्राणापानौ माय गात मितो युवम ।
शरीर मस्याङ्गनि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

अर्थ—श्वाश और प्रश्वाश तुम दोनों इसमें ही रहो इससे दूर मत जाओ इसके शरीर और अंगों को स्तुति के लिये अवश्य तुम दोनों ले चलो।

विचार करो—इन दोनों मंत्रों के उच्चारण समय यह विचारना चाहिये कि भगवान मनुष्य को इस बात का आदेश करते हैं कि जीवन का आधार ठीक रीति पर श्वास लेने पर है। और ठीक श्वास तब ही आ सकता है जब फेफड़े स्वास्थ्य हों मेरे फेफड़ों में जो निर्बलता अथवा क्षत हैं। उनके कारण ही मैं निर्बल होकर मृत्यु के निकट पहुंच रहा था पर अब मैं उनको स्वास्थ्य बनाने के लिये यत्न कर रहा हूँ और अन्य भी सब कार्य ऐसे ही करूंगा जिनसे मेरे फेफड़े बलवान बनें। फेफड़ों को निर्बल बनाने वाले विषय भोग इत्यादि कार्य कदापि न करूंगा तो अवश्य ही मेरे फेफड़े बलवान हो जावेंगे और उनके बलवान होने से रक्त संचार ठीक होने से मेरे शरीर के सब अंग हाथ, पैर, आंख इत्यादि बलवान हो जावेंगे और मैं पूरी आयु का भोग करूंगा।

१२—जरायेत्वा परिददामि जरायै निधुवामि त्वां।
भद्रा नेष्टव्य १ न्ये यन्तु मृत्यवो याना हुरितरञ्छतम ॥ ७ ॥

अर्थ—वृद्धावस्था पर्यन्त तुझे सर्व प्रकार से रक्षा करता हूँ वृद्धावस्था पर्यन्त तेरा पालन करता हूँ बुढ़ापा भी तेरे लिये सर्व सुख प्राप्त करावे और मृत्यु के कारण दूर हों जिन औरों को कई तरह का बतलाते हैं।

१३—अभित्वा जरिकाहित जामुक्षण मिव रज्ज्वा।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधन्त जाय मानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुद मुञ्चद् बृहस्पति ॥ ८ ॥

अर्थ—दुर्बलता ने मुझे बांधा है। रस्सी से बलवान बैल की तरह बढ़ते हुए व प्रसिद्ध होते हुए तुझ को जिस मृत्यु ने अपनी द्रढ़ शक्ति से बन्धन में किया है। उस मृत्यु के बन्धन को सत्य के हाथों के लिये आचार्य व यज्ञ ने भली प्रकार छुड़ा दिया है।

विचार करो—निर्बलता ही मृत्यु का कारण है और क्षय-रोगी के लिये तो कसौटी ही यह है कि शक्ति बढ़े तो समझो अच्छा हो रहा है और निर्बलता बढ़े तो समझो रोग बढ़ रहा है। यज्ञ से वही निर्बलता दूर होती है। अतः रोग भी अवश्य नाश होगा ऐसा मुझे द्रढ़ निश्चय रखना चाहिये और यज्ञ-चिकित्सक की सब आज्ञाओं का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिये और उसके प्रति बड़ी श्रद्धा और भक्ति के भाव रखकर कभी मन में आरोग्य होने में कोई शंका न करना चाहिये। यदि मैंने ऐसा किया और यज्ञ-चिकित्सा नियम पूर्वक करता रहा तो वेद में बताए मेरे निम्नलिखित समस्त अंगों से रोग का एक एक कृमि दूर हो जावेगा और मैं स्वस्थ्य होकर वृद्धावस्था तक जीवन धारण करूंगा और बलवान बना रहूंगा।

१४—अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्का जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥
अथर्व का २ सू० ३३ मं० १

अर्थ—(हे रोगी) तेरी आंखोंसे, दोनों नथनों से, दोनों कानों से, ठोडी मेंसे, तेरे भेजे से, जिह्वा से, और शिर में के क्षयी रोग को मैं उखाड़े देता हूँ।

१५—ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात ।
यक्ष्यं दोषरायं १ मंसाभ्यां वाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २॥

अर्थ—तेरे गले की नाड़ियों से रक्त को संचार करने वाली धम-नियों से, हंसनी की हड्डियों से, ३३ प्रकार की अस्थि से दोषोत्पादक यक्ष्मा रोग को तेरे स्कन्धों से भुजाओं से दूर करता हूँ।

१६—हृदयात ते परि क्लोम्नी हलीक्ष्णात पार्श्वाभ्याम ।
यक्ष्यं मत स्नाभ्यां प्लीह्नो यक्रस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

अर्थ—तेरे हृदय से, क्लोम से, फेफड़ों से तथा श्वास की नाली से, पसलियों से, गुदा से, तिल्ली से, यकृत से तेरे यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।

१७—आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठो रूदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

अर्थ—तेरी आंतों से, गुदा की नाड़ियो से, कोलन से, उदर में से, तेरी दोनों कोखों से, कोख की थैली से और नाभि से क्षयी-रोग को उखाड़े देता हूँ।

१८—ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम ।
यक्ष्मं भसद्यं . श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५॥

अर्थ—तेरे दोनों जंघाओं से, दोनों घुटनों से, दोनों एड़ियों से, दोनों पैरों के पंजों से, तेरे दोनों कूल्हों व नितम्बों से और

गुह्य स्थान से कमर और गुप्त स्थानों से हुए गुप्त रोग व गुप्त स्थानों में हुए क्षयी-रोग को दूर करता हूं।

९—अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

अर्थ—तेरे हड्डियों से मज्जाधातु (अस्थि के भीतर के रस) से पुट्ठों और नाड़ियों से और तेरे दोनों हाथों से अंगुलियों से और नखों से क्षयी-रोग को मैं जड़ से दूर करता हूं।

१०—अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि। यक्ष्मं त्वचस्यंते वयं कश्यपस्थ वी वर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि ॥ ७ ॥

अर्थ—जो क्षय-रोग तेरे अंग अंग में, रोम रोम, गांठ गांठ में है। हम तेरे त्वचा के और सब अवयवों में व्यापक क्षयी-रोग को ज्ञान द्रष्टि वाले विद्वान के विविध उद्यम से जड़ से उखाड़ता हूं।

विचार करो—इन मंत्रों को पढ़ते समय जिस रोगी को जिस अंग का यक्ष्मा रोग हो उसपर विशेष ध्यान देवें और यह समझें कि मेरे शरीर के किसी भी अग में क्षय-रोग हो वह दूर हो सकता है और जड़ से दूर हो सकता है। उसके लिये ही मैं यज्ञ कर रहा हूँ साथ ही अन्तिम मंत्र में चिकित्सक के विविध उद्यमों का सहारा लेने का आदेश किया है इसका अभिप्राय यह है कि यज्ञ करने वाले को भी इस अभिमान में न आ जाना चाहिये कि मुझे यज्ञ सामग्री मालूम हो गई अब किसी विद्वान चिकित्सक की किसी सम्मति की आवश्यकता नहीं न किसी औषधि सेवन की आवश्यकता न किसी और उपाय की आवश्यकता है। यदि ऐसा विचार करेगा तो पूर्ण लाभ प्राप्त करना दुर्लभ है। क्योंकि वेद भगवान ने जहां यक्ष्मा-रोग की चिकित्सा का एक उपाय यज्ञ बतलाया है वहां अनेक अन्य स्थानों पर

औषधि सेवन, जल चिकित्सा सूर्य प्रकाश, वायु इत्यादि का भी उल्लेख किया है। हमारा अपना अनुभव भी ऐसा है कि रोगी को वास्तविक लाभ जब ही होता है जब वह विधिवत सब साधनों के साथ यज्ञ-चिकित्सा करता है। जैसे किसी न्यायालय का कार्य न्यायाधीश ही से होता है, पर यदि चपरासी और लेखक इत्यादि न हों तो जज का कार्य भी बन्द हो जावे। इसी प्रकार यज्ञ-चिकित्सा के साथ समय अनुकूल अनेकों उपायों की आवश्यकता होती है। तो वेद भगवान् ने जो चिकित्सा के विविध उपाय बताये हैं वह इसी प्रकार के साधन हैं। जिनको अनुभवी चिकित्सक जानता है और किसी उपद्रव के खड़े होने पर शीघ्र उसे शांत कर सकता है। इसलिये रोगी को किसी भी चिकित्सक को उपेक्षा की दृष्टि से न देख सब का सन्मान करना चाहिये। क्योंकि हमारी वैदिक सभ्यता में चिकित्सक सर्वदा आदरणीय है। यहां तक लिखा है कि चिकित्सक के पास जब जावे कुछ भेंट लेकर जावे। उपरोक्त मंत्रों की विद्यमानता में जो लोग यह कहते हैं कि प्राचीन काल में भिन्न २ अंगों के क्षय का पता नहीं था वह कितने भ्रम में हैं।

यदि अधिक सामग्री हो तो इन ही मंत्रों से बार बार आहुतियां दी जा सकती हैं। अथवा स्वस्ति वांचन व शान्ती प्रकरण के मंत्रों से दी जा सकती हैं। अन्त को नीचे के मंत्र को तीन बार पढ़कर तीन आहुतियां देकर यज्ञ समाप्त करें।

ओं सर्वं वै पूर्ण ॐ स्वाहा ३

पाठ १६

विविध नियम

१—जो लोग निर्बलता के कारण टब बाथ नहीं कर सकते उन को पहिले पानी की पट्टी से काम लेना चाहिये। जब कुछ

बल आ जावे तब टब बाथ करें।

—जो लोग निर्बलता के कारण हवन यज्ञ स्वयं नहीं कर सकते वह दूसरे आदमी से अपने पलंग के पास करावें तथा स्वयं नंगे शरीर पर उसका धुंवा लगने दें तथा हवन समय तथा उसके पश्चात् आधा घंटे तक गहरी स्वांस लेवें।

—बहुत से लोग एनीमा से डरते हैं। कुछ को भ्रम होता है कि पानी रुक गया तो क्या होगा। कोई कहते हैं कि इस से मल खस जावेगा। इसी प्रकार अनेकों शंका करते हैं। पर यह सब शंकायें नितान्त निर्मूल हैं। हम इसका प्रयोग ४५ वर्ष से कर रहे हैं और निश्चित रूप में कह सकते हैं कि इस से कभी कोई हानि नहीं होती। यह प्राचीन ऋषि-मुनि कृत विधि है इससे लाभ के अतिरिक्त कभी भी हानि नहीं हो सकती। राज-यक्ष्मा, मल विकार और मंदाग्नि का रोग है। अतः उसकी चिकित्सा में एनीमा का विशेष स्थान है। रोग कृमि मारने को कृमियों का भोजन बंद करना पहिले आवश्यक है। अतः एनीमा अवश्य प्रयोग करना चाहिये। समझदार रोगी केवल एनीमा, यज्ञ और अनुकूल भोजन व शुद्ध वायु से आरोग्य हो सकता है।

४—यह कई बार बताया जा चुका है कि यज्ञ-चिकित्सा में भोजन का विचार मुख्य स्थान रखता है। यदि सब क्रियायें की गईं और भोजन स्वाद के अनुसार खाया तो कुछ न होगा। यदि आप बुद्धि से काम लेवेंगे तो आपके अनुकूल भोजन में ही इतना स्वाद आने लगेगा जितना कदाचित आपको कभी प्राप्त भी न हुआ हो। पर पहिले कुछ संयम करके भूख को जगावें। भोजन में फल और दूध का स्थान मुख्य रहे और अन्न का गौण। जब रोग अधिक समय तक काबू में न आवे तो नमक और अन्न सर्वथा छोड़कर

केवल दूध अथवा दूध और फल पर रहना चाहिये और बिना नमक की उबली हुई सब्जी भी ले सकते हैं।

५—अधिक जीर्ण रोगियों के लिये गंगा जी अथवा समुद्र में नाव पर रहने का प्रबन्ध करना चाहिए अथवा पर्वत पर चीड़ के वृक्षों के बीच रहें पर यह सब धनी लोगों की विधियां हैं।

६—प्रसन्नता और ईश्वर भक्ति भी इस चिकित्सा विधि में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। पाश्चात् सभ्यता से प्रभावित लोगों की समझ में पहिले यह बात आना कठिन है। पर जब वह अंडा, मांस इत्यादि अभक्ष पदार्थों का खाना छोड़ कुछ दिन सात्विक भोजन करेंगे और यज्ञ इत्यादि सब कार्य नियम पूर्वक करेंगे तब कुछ समय पश्चात् बुद्धि शुद्धि होने पर सब शंकायें दूर हो जावेंगीं।

७—प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा करते समय कभी कभी अन्य मित्र भ्रमवश अनेक चिकित्साओं की प्रशंसा करके चित्त को डावां डोल करना चाहते हैं। उस समय धर्म के प्रथम लक्षण धृती से काम लेना चाहिये क्योंकि अब तक क्षय-रोग की किसी भी ऐसी चिकित्सा का आविष्कार नहीं हुआ है जो ऐसे रोगी को आरोग्य कर सके जिसे प्राकृतिक यज्ञ-चिकित्सा से आराम न हो सकता हो। हां ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि एलोपैथी के सैकड़ों उपायों से निराश रोगी यज्ञ-चिकित्सा से आरोग्य हो गये।

८—बिना पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण किये कोई क्षय-रोगी आरोग्य नहीं हो सकता यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये।

९—महात्मा गांधी हमारी चिकित्सा के बहुत से अंगों के बड़े भक्त थे। उन्होंने अपनी पुस्तकों और लेखों में लिखा है कि

"रोग को होने ही न देना चाहिये। यदि रोग हो ही जाय तो

उसे स्वतः अच्छा होने देना चाहिये। औषधियों के बल पर रोग का उपचार करना व्यर्थ, अनुचित, हानिकारक और खतरनाक है। औषधियों से रोग जाता नहीं वह केवल कुछ दिनों के लिये दब जाता है। हमारे लिये आवश्यक है कि हम अपने रहन सहन को सुधारें। इसका प्रभाव टिकाऊ होगा"। पानी और मिट्टी की पट्टी, प्रकाश, धूप का सेवन इत्यादि साधन भी गांधी जी उपयोगी बताते हैं। क्षय के विषय में भी महात्माजी ने बताया है कि उसके कारणों का अन्त कर देना चाहिये। हमें अपने ऊपर संयम रखना चाहिये। अच्छा भोजन करना चाहिये, पूरा विश्राम करना चाहिये और अपने जीवन को सुव्यवस्थित कर देना चाहिये ताकि हम क्षय के लिये नमस्कार कर सकें, इत्यादि। आज हमारे उन नेताओं व अधिकारियों को जो जनता को गांधीजी के आदर्शों पर चलने का उपदेश देते हैं सोचना चाहिये कि वह शासन सूत्र हाथ में रखते हुए इस विषय में गांधीजी की आज्ञा कहां तक पालन कर रहे हैं।

साधारण क्षय रोगी का कार्यक्रम

१—प्रातः ५ व ६ बजे	ईश्वर प्रार्थना और शौच के पश्चात् एक सप्ताह तक रोज फिर दूसरे दिन और फिर चौथे दिन वस्ती-कर्म।
२—प्रातः ७ बजे	उपस्थ स्नान (Friction setz bath) स्नान के पश्चात या तो कम्बल ओढ़कर टहले, या लेटे।
३—प्रातः ८ बजे	जलपान, दूध व संतरा, अथवा दूध व किशमिश।
४—प्रातः ८।। बजे	हवन (यज्ञ)।

[illegible]—हवन के पश्चात् १०॥ बजे तक	हवा व रोशनी में नंगे बदन लेटना यदि हवा सहन न हो तो चादर ओढ़ले और धीरे धीरे स्वभाव डालें। जाड़ों में धूप में लेटें।
६—प्रातः १०॥	पूरा स्नान फिर ईश्वर प्रार्थना, उपासना।
७—प्रातः ११ बजे	सब्जी रोटी और फल खाना। भोजन के ऊपर से गऊ का ताजा माठा पीना।
८—११ से १ बजे तक	आराम करना, मनो विनोद करना, समाचार पत्र सुनना, गाना सुनना।
९—१ बजे	जल पीना।
१०—१ से ३ तक	हवा और रोशनी में फिर लेटना
११—३ बजे	पेड़ू पर मिट्टी की पट्टी बांधना।
१२—४॥ बजे	फल खाना अथवा माठा पीना।
१३—५ बजे	हवन (यज्ञ) करना।
१४—६ बजे	कमर नहान उसके पश्चात् टहलना या लेटना।
१५—७॥ बजे	सब्जी रोटी अथवा दूध किशमिश लेना उसके पश्चात् थोड़ा टहलना।
१६—९ बजे तक	मनोविनोद, गपशप व गाना इत्यादि सुनना और खूब हंसना फिर सोना।

नोट—इस प्रोग्राम के बताने का यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि इसी समय ऐसे ही सब कार्य किये जावें। कार्य यह सब करना चाहिये पर समय को अपने सुभीते के अनुसार बांधा जा सकता है। तथा कार्यों में लौट पौट भी हो सकती है जैसे प्रातः हवन के पश्चात् जलपान और सायंकाल बाथ के पश्चात् हवन इत्यादि।

पुस्तक मिलने के पते :—

(१) सेठ हीरजी गोविन्दजी, चेरीताल, जबलपुर।

(२) यज्ञ-चिकित्सा टी० बी० सेनेटोरियम,
पो० गढ़ा, जबलपुर।

(३) श्यामलाल वासुदेव पुस्तकालय, बिहारीपुर, बरेली।

(४) प्रेम-पुस्तकालय, बिहारीपुर, बरेली।

(५) सत्य भंडार पुस्तकालय, बरेली।

(६) श्यामलाल सत्यदेव पुस्तकालय, फतहगंज, लखनऊ।

(७) सत्य व्यापार मंडल, पीलीभीत।

(८) प्रोफेसर महेशप्रसाद, हिन्दू-विश्वविद्यालय, बनारस।

(९) डा० कुन्दनलाल C/o डा० धीरेन्द्र वर्मा,
1/C बंद रोड, इलाहाबाद।

(१०) प्रो० हरिश्चन्द्र, गवर्नमेन्ट ट्रेनिङ्ग कालेज, लखनऊ।

(११) शान्ती सरूप मुकरंदा, १२-ई थियर्ड रोड,
न्यू देहली।